जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' । अर्थ—आदित्यमें जो सम्पूर्ण जगत्को प्रकाश करनेवाला तेज है, तथा चन्द्रमामें तथा अग्नि आदिकोंमें जो तेज है; सो तेज मेरा ही जानो इति । 'न तद्भासयते' इस श्लोकसे ब्रह्म अग्राह्य (अप्रकाश्य) है यह कहा । और 'यदादित्यगतम्' इस श्लोकसे ब्रह्म' ग्राहक (प्रकाशक) है यह कहा । अर्थात् ब्रह्म स्वतःप्रकाश है यह कहा । इस पूर्वोक्त रीतिसे 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' यह अनुभानमन्त्र ब्रह्ममें समन्वित हुवा इति ॥ २३ ॥

इत्यनुकृत्यधिकरणम्* समाप्तम् ॥

इस पूर्व आधिकरणमें परमात्माको ज्योतिःस्वरूप कह आये हैं । और अग्रिम अधिकरणके 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिव' इस विषयवाक्यमें ज्योतिः करके उपमीयमान जो पुरुष है सो परमात्मासे भिन्न प्रतीत होता है ? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

अर्थ—१ शब्दात्, २ एव, ३ प्रमितः । इस सूत्रमें तीन पद हैं । 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य परमेश्वर ही है । क्योंकि "इस वाक्यके समीप जो 'ईशानो भूतभव्यस्य' यह शब्द है तिस शब्दसे अङ्गुष्ठमात्र जो पुरुष है सो परमात्मा है" ऐसा ही निश्चय (प्रमिति) होता है इति ।

अव इस सूत्रके **विषयवाक्यको** दिखाते हैं:—**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥** (क० ४ । १२) । अर्थ—अङ्गुष्ठ परिमाणवाला जो हृदयच्छिद्र है तिसके अन्तर विद्यमान जो अन्तःकरण कहा जाता है तिस अन्तःकरण उपाधिवाला जो आत्मा है सो भी अङ्गुष्टमात्र है । अर्थात् अङ्गुष्ठ परिमाणवाला कहा जाता है । और सर्वत्र पूर्ण होनेसे पुरुषरूप है । ऐसा यह जो आत्मा है सो देहके मध्यमें स्थित है । इस रीतिसे 'त्वम्' पदके अर्थका शोधन करके शोधित जो 'त्वम्' पदका लक्ष्य अर्थ है तिसमें 'ईशानं भूतभव्यस्य' इत्यादिसे ब्रह्मत्वको दिखाते हैं—अर्थात् यह पुरुष ही भूतादि कालत्रय करके उपलक्षित जो सम्पूर्ण जगत् है तिसका नियामक है । इस आत्माके साक्षात्कारके अनन्तर अपनी व अन्य किसी देहादिकी भी रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता है । वस्तुतः असङ्ग अद्वितीय आत्मतत्त्वके साक्षात्कार हुये कौन किसकी किस करके रक्षा करेगा । अर्थात् विद्वान् कृतकृत्य होता है । हे नचिकेतः ! जो तुमने पूछाथा था सो यही धर्मादि शून्य ब्रह्म है इति । तथा— **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ।**

* इस अधिकरणका पूर्वपक्षमें तेजरूप धातुविशेषकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें निर्गुण स्वयंज्योतिः स्वरूप आत्माका ज्ञान फल है ।

एतद्वै तत् ॥ (क० ४ । १३) **अर्थ**—अङ्गुष्ठमात्र जो जीव है सो वास्तवसे धूमरहित ज्योतिकी तरह देदीप्यमान निर्मल प्रकाश स्वरूप है। यहां भौतिक ज्योतिकी व्यावृत्तिके लिये 'अधूमक' यह विशेषण है। और यही आत्मा भूत भविष्यत् व वर्तमानका ईश्वर है। और यही आत्मा वर्तमान कालमें प्राणियों विषे विद्यमान है। तथा यही आत्मा आगामि कालमें विद्यमान रहेगा। तथा श्रुतिमें जो 'श्वः' यह पद है सो भूतकालका उपलक्षण है। अतः यही आत्मा भूतकालमें भी विद्यमान था। और हे नचिकेतः! तुझ करके पूछा हुवा जो 'तत्' कहिये आत्मतत्त्व है सो 'एतद्वै' ब्रह्म स्वरूप यही है इति। ये दोनों मन्त्र इस प्रमिताधिकरणके विषय हैं।

अब इन मन्त्रोंमें 'अङ्गुष्ठमात्र' परिमाण शब्द करके तथा 'ईशान' शब्द करके संशयको दिखाते हैं:—जो यह विषयवाक्यमें अङ्गुष्ठमात्र पुरुषका श्रवण होता है सो पुरुष "विज्ञानात्मा जीव है अथवा परमात्मा है" इस प्रकारका इन मन्त्रोंमें संशय है।

अथ पूर्वपक्ष। तहां परिमाणका उपदेश होनेसे 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' शब्द करके जीवका ही ग्रहण करना,परमात्माका नहीं यह प्राप्त हुवा। क्योंकि अन्त करके रहित है आयाम (दीर्घत्व) तथा विस्तार (महत्त्व) जिसका ऐसा जो परमात्मा है तिसमें अङ्गुष्ठमात्र परिमाणका उपदेश नहीं बन सकता है। और सोपाधिक विज्ञानात्मारूप जीवमें, अङ्गुष्ठ परिमाणवाले हृदयके साथ 'विज्ञान' शब्दकी वाच्य बुद्धिका अभेदाध्यासकी कल्पना करके किसी प्रकारसे अङ्गुष्ठमात्रत्व बन सकता है।

अब इस अर्थमें स्मृतिप्रमाणको दिखाते हैं—**अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशङ्गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥** इति महाभा०। **अर्थ**—मरणसे अनन्तर यमपाशों करके बद्ध तथा कर्मके वशको प्राप्त हुवा जो अङ्गुष्ठमात्र पुरुष है तिसको सत्यवत्के शरीरसे यमराज बलसे आकर्षण करता भया इति। इस स्मृतिमें भी अङ्गुष्ठमात्र जीवका ही आकर्षण कहा है परमात्माका नहीं। क्योंकि **'हरिगुरुवशगोऽस्मिन्नस्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः'**। **अर्थ**—मैं भी जगद्गुरु हरिके वशमें हूं स्वतन्त्र नहीं हूं, क्योंकि मेरेको नियममें रखनेके लिये विष्णु भगवान् समर्थ हैं इति। इस प्रकार स्वयं यमराजने कहा है। अतः यमराज बलसे परमेश्वरका आकर्षण नहीं कर सकता है। इस कहनेसे यह निश्चय हुवा कि—पूर्वोक्त स्मृतिमें अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जो है सो संसारी जीव ही है। अतः प्रसङ्गमें भी अङ्गुष्ठमात्र पुरुष शब्द करके संसारी जीवका ही ग्रहण करना परमात्माका नहीं। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये।

अथ सिद्धान्तपक्ष। **'परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति'** इति भा०। **अर्थ**—यह अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला पुरुष परमात्मा ही होनेको योग्य है। क्योंकि 'शब्दात्' श्रुतिमें 'ईशानो भूतभव्यस्य' यह शब्द है। अर्थात् 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इन मन्त्रोंमें जो निखिल प्रपञ्चका निरङ्कुश नियामकत्वरूप भूतभव्येशानत्वको अङ्गुष्ठमात्र पुरुषका

विशेषण कहा है सो परमात्मामें ही बन सकता है जीवमें नहीं। अतः, 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष' शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना जीवका नहीं इति। और प्रकरणसे भी 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' यह वाक्य ब्रह्मपरक ही है। क्योंकि नचिकेता करके पृष्ट जो प्रकृत आत्मतत्त्व है तिसका ही 'एतद्वै तत्' इस 'एतत्' शब्द करके धर्मराज अनुसन्धान करते हैं। अर्थात् नचिकेताने उपक्रममें पूछा है कि–'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' इति। अर्थ—फल व कारक सहित यज्ञादिकरूप धर्मसे भिन्न तथा फल व कारक सहित हिंसादिरूप अधर्मसे भिन्न तथा विद्वान्की बुद्धिका विषय, कार्य कारणसे भिन्न, तथा भूतादिक कालोंसे और भूतादिक कालीन पदार्थोंसे भिन्न, ऐसा जो सर्व धर्म वर्जित अद्वितीय आत्मतत्त्वरूप वस्तु है तिस वस्तुको यदि आप जानते हैं तो हमारे प्रति कथन करें इति। यह यहां अद्वितीय ब्रह्मविषयक प्रश्न है। इस प्रश्नके उत्तररूप ही 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इत्यादिक धर्मराज उच्चरित मन्त्र हैं। यदि ये मन्त्र अद्वितीय आत्मतत्त्वको प्रतिपादन नहीं करेंगे तो इन मन्त्रोंमें उत्तरत्व ही नहीं रहेगा। क्योंकि प्रश्नके विषयका प्रतिपादक ही उत्तर होता है। अत इस उत्तरसे ब्रह्मका ही निश्चय होता है। और यदि वादी ऐसा कहे कि—'शब्दादेव प्रमितः' इस सूत्र करके उक्त शब्दरूप वाक्यसे व प्रकरणसे अङ्गुष्ठपरिमाणरूप लिङ्ग बलवान् है। अतः यहां जीवका ही निश्चय होता है। सो कहना असङ्गत है। क्योंकि अङ्गुष्ठ परिमाणरूप जो लिङ्ग है सो 'ईशानो भूतभव्यस्य' इस अभिधानश्रुति करके बाधित है। अतः अभिधानरूप श्रुतिसे सर्वका नियामक ईशानरूप परमेश्वर ही निश्चय होता है अर्थात् उक्त सूत्रमें 'शब्द' करके श्रुतिप्रमाण विवक्षित है, वाक्य नहीं इति ॥ २४ ॥

शंका। फिर सर्वगत जो परमात्मा है तिसमें अङ्गुष्ठ मात्र परिमाणका उपदेश किस प्रकार बनेगा ?

अब इस शंकाके समाधानको सूत्रकार कहते हैं:—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

अर्थ—१ हृदि, २ अपेक्षया, ३ तु, ४ मनुष्याधिकारत्वात्। इस सूत्रमें चार पद हैं। जैसे वंशपर्व (अर्थात् वांसकी पोरी) की अपेक्षा करके सर्वगत आकाशमें अरत्नि मात्रत्वको कहते हैं। 'करः सकनिष्ठोऽरत्निः' अर्थात् 'कनिष्ठिकाके सहित करका नाम अरत्नि है' तैसे, यद्यपि परमात्मा सर्वगत है तथापि परमात्माका जो अङ्गुष्ठ परिमाणवाले हृदयमें अवस्थान है तिस अवस्थान (स्थिति) की अपेक्षाकरके सर्व मात्रा (परिच्छेद) शून्य परमात्मामें भी अङ्गुष्ठमात्रत्वको कह सकते हैं। क्योंकि स्वभावसे परिमाण रहित परमात्मामें उपाधिके विना अङ्गुष्ठ परिमाण उपपन्न नहीं हो सकता है। यहां हृदय करके मनुष्यके अङ्गुष्ठ मात्र परिमाणवाला मनुष्योंके हृदयका ही ग्रहण करना। क्योंकि शास्त्रमें मनुष्योंका ही अधिकार है इति।

शंका। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इन मन्त्रोंमें मुख्य अङ्गुष्ठ परिमाणवाले जीवका ही ग्रहण करना चाहिये, क्यों गौण परमात्माका ग्रहण करते हो?

समाधान। जहां सम्भव होवे तहां मुख्यका ग्रहण युक्त है, प्रसङ्गमें श्रुतिका विरोध होनेसे मुख्य अङ्गुष्ठमात्रत्वका सम्भव नहीं है। इस अर्थको दिखाते हैं—**'न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हति'** इत्यादि भा०। अर्थात् यहां परमात्मासे भिन्नके ग्रहणका असम्भव है, क्योंकि 'ईशानो भूतभव्यस्य' इस मन्त्रमें ईशानादिक शब्दोंके विरोधको कह आये हैं।

शंका। भिन्न भिन्न प्राणियोंमें जो हृदय हैं तिनोंमें समान परिमाणका अभाव होनेसे "हृदयकी अपेक्षासे भी अङ्गुष्ठ परिमाणवाला परमात्मा है" यह कहना नहीं बन सकता है। और हस्तिका जो हृदय है सो हस्तिके अङ्गुष्ठ परिमाणकी अपेक्षासे अधिक परिमाणवाला है। इसलिये भी हस्तिके हृदयमें स्थित परमात्मा विषे अङ्गुष्ठ परिमाण नहीं बन सकता है इति।

समाधान। 'मनुष्याधिकारत्वात' इति भाष्यम्। अर्थ—शास्त्रमें मनुष्य अधिकारी है अर्थात् शास्त्रका अधिकार मनुष्यको है इति। यद्यपि प्राणिमात्रके प्रति अविशेषरूप करके शास्त्र प्रवृत्त हुवा है। तथापि शास्त्र त्रैवर्णिक मनुष्यमें ही अधिकारको बोधन करता है। क्योंकि—**'शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्च'** इति भा०। अर्थात् 'शक्तत्वात्' मनुष्य जो हैं सो वैदिक कर्म करनेमें शक्तिवाले हैं। इस कहनेसे तिर्यक्, देवता व ऋषियोंके अधिकारको वारण किया। अर्थात् पशु आदिक तिर्यक् योनियोंकी, शास्त्रके अर्थका ज्ञानादिरूप सामग्रियोंका अभाव होनेसे वैदिक कर्ममें अशक्ति है। तथा इन्द्रादिक देवोंकी, स्वदेवताक कर्ममें दीयमान द्रव्यनिष्ठ स्वत्वनिवृत्तिके असम्भवसे वस्वका उद्देश्य करके द्रव्यके त्यागका अयोग होनेसे कर्ममें अशक्ति है। तथा ऋषियोंकी, आर्षेय वरणादिकोंमें अर्थात् ऋषिकर्तृक कर्ममें वरणीय वसिष्ठादि ऋष्यन्तरका अभाव होनेसे कर्ममें अशक्ति है।

और 'अर्थित्वात्' मनुष्योंको अर्थी होनेसे कर्ममें अधिकार है। इस कहनेसे निष्काम मुमुक्षु पुरुषोंका अन्तःकरणकी शुद्धिके जनक नित्यादिक कर्ममें अधिकार है काम्य कर्ममें नहीं। तथा शुद्धचित्त जो मोक्षार्थी पुरुष हैं तिनका अपने स्वरूपके अभिव्यञ्जक श्रवणादिकोंमें अधिकार है कर्ममें नहीं ऐसा जानना।

और 'अपर्युदस्तत्वात्' इस वचन करके शूद्रके अधिकारका वारण किया है। क्योंकि **'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'** 'न अवक्लृप्तः, अनवक्लृप्तः' अर्थात् जो यज्ञमें अधिकारीरूप करके सिद्ध न होवे तिसका नाम यहां अनवक्लृप्त है। इस श्रुतिमें पर्युदासरूप नकार करके शूद्रमें यज्ञके अधिकारको निषेध किया है। यहां 'पर्युदस्त' नाम शूद्रका है, और शूद्रसे भिन्न त्रैवर्णिकका नाम 'अपर्युदस्त' है।

किञ्च 'उपनयनादिशास्त्राच्च' अर्थात् 'उपनयीत तमध्यापयीत' इस शास्त्रसे भी शूद्रका वैदिक कर्ममें अधिकार नहीं है । क्योंकि शूद्रमें एकजातित्व बोधक स्मृतिके बलसे व उपनयन शास्त्रके अभावसे उपनयनका अभाव है। अतः, उपनयन प्रयुक्त द्विजातित्वका अभाव होनेसे वेदाध्ययनका अभाव है, क्योंकि वेदाध्ययनमें उपनयन अङ्ग है। और वेदाध्ययनके अभावसे वैदिक कर्ममें शूद्रका अधिकार नहीं बन सकता है।

अब प्रसङ्गमें अपेक्षित जो न्याय (युक्ति) है जिसको जैमिनि ऋषिने षष्ठ अध्यायमें वर्णन किया है तिसको दिखाते हैं—**'वर्णितमेतदधिकारलक्षणे'** इत्यादि भा०। पूर्वमीमांसाके षष्ठ अध्यायके प्रथम पादमें शूद्रानधिकार अधिकरणमें 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिक शास्त्रको सामान्यसे सम्पूर्ण फलार्थियोंके प्रति प्रवृत्त होनेसे, तथा प्राणिमात्रको सुखार्थी होनेसे, फलवाले कर्ममें पशुआदिकोंका भी अधिकार है ? ऐसी आशंका करके पशु आदिकोंमें पूर्वोक्त रीतिसे शक्तत्वादिकोंका अभाव होनेसे स्वर्गकाम पदको सङ्कोच करके मनुष्याधिकारमें स्थापन किया। तदन्तर पुनः चारों वर्णोंके अधिकारकी शंका करके **'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः** । अर्थ—वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण अग्निका आधान (स्थापन) करे। और ग्रीष्ममें क्षत्रिय अग्निका आधान करे। और शरद् ऋतुमें वैश्य आधान करे इति। इन मन्त्रों करके त्रैवर्णिक द्विजातिमें ही अग्निके सम्बन्धका श्रवण होता है। अतः त्रैवर्णिकका ही अग्निसाध्य कर्ममें अधिकार है शूद्रका नहीं यह सिद्धान्त वर्णन किया है इति। तथा च शास्त्रमें मनुष्योंका ही अधिकार है यह सिद्ध हुवा।

शंका। शास्त्रमें मनुष्योंका अधिकार रहो। प्रकृतमें क्या प्राप्त हुवा ?

समाधान। प्रायः करके मनुष्योंका देह सप्त विलस्ति परिमित होता है। और मनुष्योंका उचित नियत अङ्गुष्ठ परिमाणवाला ही हृदय होता है। अतः शास्त्रमें मनुष्यका अधिकार होनेसे मनुष्यके हृदयमें अवस्थानकी अपेक्षासे परमात्मामें अङ्गुष्ठपरिमाणवत्त्व बन सकता है।

शंका। परिमाणका उपदेश होनेसे तथा "सत्यवतः कायात्" इस पूर्वोक्त स्मृतिसे संसारी जीव ही अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जाननेको योग्य है इस उक्त आक्षेपका क्या उत्तर है ?

समाधान। जैसे 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो !' यह वाक्य जीवका अनुवाद करके ब्रह्मके साथ जीवका अभेदको बोधन करता है। तैसे ही 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इत्यादि मन्त्र भी 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इस वाक्यसे संसारित्वेन वर्तमान जीवका अनुवाद करके अङ्गुष्ठमात्र संसारी जीवमें 'ईशानो भूतभव्यस्य' इत्यादिक शब्दोंसे ब्रह्मके अभेदको बोधन करते हैं। अतः प्रसङ्गमें प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है सोपाधिक जीव नहीं।

अर्थात् वेदान्तवाक्योंकी दो प्रकारकी प्रवृत्ति है। कोई वाक्य तो परमात्माके तत्त्वस्वरूपके उपदेशक हैं—जैसे 'अस्थूलमनणु' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि। और कोई वाक्य विज्ञानात्मा जीवका पर ब्रह्मके साथ अभेदके निर्णायक हैं—जैसे 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि। और सोपाधिक जीवस्वरूपके बोधक जो 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुषः' इत्यादि वाक्य हैं सो जीवमें ब्रह्मभाव बोधनके लिये जीवका अनुवाद* करते हैं। अतः वस्तुतः विज्ञानात्मा जीवका परमात्माके साथ एकत्व (अभेद)का ही शास्त्र उपदेश करता है। और 'किसी जीवादिका स्वरूप अङ्गुष्ठमात्र है' इस अर्थमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं है इति।

इसी अभेदरूप अर्थको अग्रिमवाक्यशेषसे धर्मराज स्पष्ट करके दिखावेंगे—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ अर्थ—जो अङ्गुष्ठमात्र पुरुष है सो निखिल जगत्का अन्तर आत्मा है। और सो ही सम्पूर्ण जनोंके हृदयमें सदा सन्निविष्ट (स्थित) है। तिस आत्माको, जैसे युक्तिपूर्वक मुञ्जसे इषीकाको पृथक् करते हैं। तैसे अत्यन्त बलिष्ट मन आदि इन्द्रियोंका निग्रहादिरूप धैर्य करके अपने देहादिकोंसे पृथक् निश्चय करे। तथा शरीरादिकोंसे पृथक् निश्चित जो स्वप्रकाश कूटस्थरूप आत्मा है; तिस आत्माको शुद्ध अविनाशी ब्रह्मरूप जाने। इस प्रकार श्रुति अथवा यमराज कहते हैं। यहां "अङ्गुष्ठमात्र पुरुष शुद्ध अविनाशी ब्रह्म ही है" इस प्रकार अवधारणके लिये द्विरुक्ति है† इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इत्यादि मन्त्र सर्वगत परमात्माको ही बोधन करता है जीवको नहीं यह सिद्ध हुवा। यहां पूर्वपक्षमें ब्रह्मदृष्टि करके जीवकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें प्रत्यक् तथा ब्रह्मका ऐक्यज्ञान फल है इति ॥ २५ ॥

इति प्रमिताधिकरणम् ॥

यदि शास्त्रमें मनुष्योंको ही अधिकार मानोगे तो देवादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं होवेगा? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

अर्थ—१ तत्, २ उपरि, ३ अपि, ४ बादरायणः, ५ संभवात्। इस सूत्रमें

*टि०—अर्थात् वस्तुतः जीवका जो निरवच्छिन्न तत्त्वस्वरूप परमात्मभाव है सो ही शास्त्रको वक्तव्य है। परन्तु इस निरवच्छिन्न परमात्मभावको सोपाधिक जीव स्वरूपकथनके विना नहीं कह सकते हैं। अतः सोपाधिक जीवके स्वरूपका शास्त्र अनुवाद करता है।

† टि०—अथवा यह द्विरुक्तिः, अभेद बोधकी दृढताके लिये है। अथवा प्रकृत उपदेश समाप्त्यर्थक है। अथवा उक्त अभेदनिश्चयसे अनन्तर 'एतावदनुशासनम्' इत्यादि श्रुतिसे सर्व उपदेश समाप्त्यर्थक है।

पांच पद हैं। मनुष्योंके उपरि जो शरीरधारी देवादिक हैं तिनोंमें भी सामर्थ्य तथा अर्थित्व व मोक्षकी इच्छाका सम्भव होनेसे शास्त्रका अधिकार है इस प्रकार बादरायण आचार्य कहते हैं इति।

शंका। इस समन्वयाध्यायमें अधिकारकी चिन्ता समीचीन नहीं है, क्योंकि समन्वयाध्यायमें वेदान्तमन्त्रोंका ब्रह्ममें समन्वयका चिन्तन ही सङ्गत है।

समाधान। मनुष्यके हृदयकी अपेक्षा करके 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' यह श्रुति है, क्योंकि "शास्त्र जो है सो मनुष्यको ही अधिकारी कहता है" ऐसा पूर्वमें हम कह आये हैं। और शक्तत्वादिक अधिकारकारणके असम्भवसे पशु आदिकोंको शास्त्रके अधिकारका असम्भव हुये भी "देवादिकोंमें शास्त्रका अधिकार है कि नहीं" इस संशयकी निवृत्तिके लिये प्रसङ्गसे देवादिकोंमें यह अधिकार-चिन्तन भी सङ्गत है। अर्थात् यहां प्रसङ्ग सङ्गति* है।

यहां पूर्व अधिकरणके जो 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इत्यादि **विषयवाक्य** हैं सो ही इस अधिकरणके **विषयवाक्य** हैं ऐसा जानना।

अब संशयको दिखाते हैं—'मनुष्योंका शास्त्रमें अधिकार है' इस उक्ति करके स्मृत जो देवादिक हैं तिनोंका 'वेदान्त श्रवणमें अधिकार है अथवा नहीं है' ऐसा **संशय** होता है।

अथ **पूर्वपक्ष।** भोगोंमें आसक्त जो देवता हैं तिनोंमें वैराग्यादिकोंका असम्भव होनेसे वेदान्त श्रवणमें अधिकार नहीं हो सकता है।

अथ **सिद्धान्तपक्ष।** **'बाढं मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्। न तु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽस्ति'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ-अर्धाङ्गीकारमें 'बाढम्' शब्दका प्रयोग होता है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानमें मनुष्योंके अधिकारको शास्त्र जो बोधन करता है सो सत्य है; परन्तु "मनुष्योंको ही ब्रह्मज्ञानका अधिकार है अन्यको नहीं" ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि मनुष्योंके उपर जो देवादिक हैं तिनोंका भी ब्रह्मज्ञानमें अधिकारको शास्त्र बोधन करता है। इस प्रकार बादरायण आचार्य मानते हैं। क्योंकि देवतावोंमें भी अधिकारके कारण शक्तत्व अर्थित्वादिक बन सकते हैं।

शंका। भोगोंमें आसक्त जो देवता हैं तिनोंमें मोक्षार्थित्वका असम्भव होनेसे ब्रह्मज्ञानका अधिकार नहीं बन सकता है।

समाधान। विकार होनेसे मिथ्या जो स्वर्गादि विषय विभूति आदिक हैं तिनोंमें अनित्यत्व क्षय अतिशय असूयादिक दोषदृष्टि करके निरतिशय सुखरूप

* 'स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वम्' प्रसङ्गसङ्गतिः।

मोक्षका अर्थित्व आदिक जो अधिकारके कारण हैं सो सत्त्वप्रकृतिवाले देवतावोंमें भी बन सकते हैं।

शंका। "इन्द्राय स्वाहा" इत्यादि स्थलमें, चतुर्थी विभक्ति हैं अन्तमें जिनके ऐसे जो "इन्द्राय" इत्यादिक शब्द हैं तिन शब्दोंसे भिन्न कोई विग्रहवाली देवता नहीं हैं; और शब्दमें अर्थित्व व सामर्थ्यका अभाव होनेसे ब्रह्मज्ञानका अधिकार नहीं बन सकता है।

समाधान। देवतावोंमें सामर्थ्य व अर्थित्व भी बन सकता है; क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण, लोकसे देवतावोंमें भी विग्रहवत्त्वका निश्चय होता है। और देवतावोंमें अपर्युदस्तत्व भी बन सकता है। क्योंकि जैसे 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' यहां शूद्रमें यज्ञादिक वैदिक अर्थके अधिकारका निषेध किया है। तैसे देवतावोंमें ब्रह्मविद्याके अधिकारका निषेध कहीं भी नहीं किया है।

शंका। देवतावोंमें विग्रहवत्ताके होनेसे प्रत्यक्ष दृष्ट सामर्थ्यके हुये भी उपनयनका अभाव होनेसे वेदका अध्ययन नहीं बन सकता है। और वेदाध्ययनके विना शास्त्रीय कर्मानुष्ठानकी सामर्थ्य नहीं बन सकती है। सामर्थ्यके अभावसे विद्याका अधिकार नहीं बन सकता है।

समाधान। देवतावोंमें उपनयनशास्त्र करके विद्याका अधिकार निवृत्त नहीं हो सकता है। क्योंकि उपनयन जो है सो वेदाध्ययनके लिये है। और देवता जो हैं सो स्वयं प्रतिभातवेद हैं। जन्मान्तरके अध्ययनके बलसे स्मरणका विषय है वेद जिनोंको तिनोंका नाम स्वयंप्रतिभातवेद है। अर्थात् बाल स्त्री आदिकोंमें प्रविष्ट देवयोनि पिशाच व गन्धर्वादिका वेदोद्घोष लोकमें व बृहदारण्यक श्रुति आदिकोंमें देखा गया है। अतः पूर्वजन्ममें अधीत जो वेदान्तशास्त्र है तिसका देवशरीरमें स्मरण होनेसे देवतावोंमें भी वेदान्तशास्त्रका विचार युक्त ही है।

किञ्च देवतावोंका तथा ऋषियोंका जो ब्रह्मविद्यामें अधिकार है तिसमें सामर्थ्य व अर्थित्वादिक कारणोंको कह चुके हैं। अब श्रुति करके प्रतिपाद्य जो गुरुकुलमें वासादिरूप लिङ्ग हैं तिन लिङ्गोंको कहते हैं—**'अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति'** इति भा०। अर्थ—देवतावोंका ब्रह्मविद्या ग्रहणके लिये ब्रह्मचर्य सहित गुरुकुलमें वासादिरूप साधनसम्पत्तिको भी श्रुति दिखाती है। अतः देवतावोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है इति। तहां श्रुतिः – **एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास'** (छा०) अर्थ—ब्रह्मविद्याके लिये इन्द्र देवता ब्रह्माके समीपमें 'एकशतम्' सौ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करके वास करता भया इति। **'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति'**

(तै०) इत्यादि। अर्थ – वरुण ऋषिका पुत्र जो भृगु ऋषि है सो भी अपने पिताके पास जाता भया, और जाकर प्रश्न करता भया कि—हे भगवन्! मुझको ब्रह्मका उपदेश करें इति।

और जैमिनि ऋषिने यद्यपि देवतावोंका तथा ऋषियोंका अग्निहोत्रादिक कर्मोंमें अनधिकारको कहा है। तहां जैमिनिसूत्र—**'न देवानां देवतान्तराभावात्' 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्'**। अर्थ – इन्द्रादिक देवताकर्तृक कर्ममें इन्द्रादिक देवान्तररूप उद्देश्यके अभाव होनेसे देवतावोंको कर्ममें अधिकार नहीं है इति। तथा भृगु आदिक ऋषिकर्तृक आर्षेय कर्ममें भृगु आदिक ऋष्यन्तरका अभाव होनेसे ऋषियुक्त कर्ममें ऋषियोंका अधिकार भी नहीं है इति। तथापि ब्रह्मविद्यामें इन्द्रादिक देवतावोंका अधिकार है। क्योंकि ब्रह्मविद्यामें अधिक्रियमाण जो इन्द्रादिक देवता हैं तिनोंका इन्द्रादिक देवतावोंको उद्देश्य करके किञ्चित्मात्र भी कर्म कर्तव्य नहीं है। तथा ब्रह्मविद्याके अधिकारी भृगु आदिक ऋषियोंको भी ब्रह्मविद्यामें समानवंशीय भृगु आदिक ऋष्यन्तर प्रयुक्त किञ्चित्मात्र भी कार्य कर्तव्य नहीं है। क्योंकि अन्य इन्द्रादिक देवता व भृगु आदिक ऋषि हैं नहीं। पूर्वकल्पीय देवता व ऋषियोंको क्षीणअधिकार होनेसे विद्यमानता बने नहीं। अतः देवतादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारको कौन वारण कर सकता है? अर्थात् कोई भी वारण नहीं कर सकता है इति।

किञ्च **'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणाम्'**। अर्थ—देवतावोंके मध्यमें तथा ऋषियोंके मध्यमें जो जो प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार करता भया सो सो ब्रह्मरूप ही होता भया इति। यह मन्त्र भी देवतादिकोंमें ब्रह्मविद्याके अधिकारको कहता है।

शंका। यदि देवतावोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है तो देवतावोंके प्रति अङ्गुष्ठमात्रश्रुति अनुपपन्न हो जावेगी। क्योंकि देवतावोंके महान् देह होनेसे तिनका हृदय हमारे अङ्गुष्ठके बरोबर नहीं बन सकता है।

समाधान। यद्यपि मनुष्योंके देहकी अपेक्षासे देवोंके देह महान् हैं, अतः देवोंके हृदय मनुष्योंके अङ्गुष्ठ प्रमाण नहीं बन सकते हैं। तथापि देवतावोंके हृदय देवतावोंके अङ्गुष्ठ परिमाण बन सकते हैं। अतः देवादिकोंके अधिकारमें भी 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इस श्रुतिका कोई विरोध नहीं है यह सिद्ध हुवा इति।

यहां पूर्वपक्षमें क्रममुक्तिकी इच्छावाले पुरुषोंकी दहरादिक उपासनावोंमें अप्रवृत्तिरूप फल है। क्योंकि पूर्वपक्षमें, जब देवतावोंको ज्ञानमें अनधिकार है तब दहरादिक उपासना करके देवभावको प्राप्त हुये भी क्रममुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते हैं। और सिद्धान्तमें क्रममुक्तिकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंकी दहरादिक उपासनावोंमें प्रवृत्तिरूप फल है। क्योंकि देवतावोंको ज्ञानमें अधिकार होनेसे दहरादिक उपासना करके क्रममोक्षार्थी पुरुष देवभावको प्राप्त होकर ब्रह्मलोकादिकोंमें ज्ञानकी प्राप्ति द्वारा मोक्षको प्राप्त हो सकते हैं इति॥ २६॥

शंका। सिद्धान्तीने जो मन्त्रादिकोंका प्रतीयमान विग्रहमें तात्पर्यकी कल्पना करके देवतावोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार कहा है सो असंगत है। क्योंकि अन्यार्थ परक जो मन्त्रादिक हैं तिनोंका प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंके साथ विरोध होनेसे देवताविग्रहरूप स्वार्थमें तात्पर्य नहीं बन सकता है।

समाधान। चार सूत्रों करके इस आक्षेपके परिहारको सूत्रकार दिखाते हैं—

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

अर्थ—१ विरोधः, २ कर्मणि, ३ इति, ४ चेत्, ५ न, ६ अनेकप्रतिपत्तेः, ७ दर्शनात्। इस सूत्रमें सात पद हैं।

प्रश्न—यदि देवतावोंके शरीर मानोगे तो एक शरीरकी अनेक कर्मोंमें उपस्थितिके असम्भवसे कर्मकी सिद्धि नहीं हो सकेगी?

उत्तर—श्रुति स्मृतियोंमें देवतावोंके अनेक शरीरोंकी प्रतिपति (प्राप्ति) देखी गई है, अतः कर्ममें विरोध नहीं हो सकता है इति।

अब इस सूत्रके प्रश्नोत्तरोंको विस्तार करके दिखाते हैं:—

शंका। 'विरोधः कर्मणीति चेत्' यदि विग्रहवत्त्वको अङ्गीकार करके देवतावोंमें विद्याका अधिकार वर्णन करते हो तो जैसे ऋत्विक् आदिक स्वरूपसे यज्ञके सन्निहित होकर यज्ञरूप कर्मके अङ्ग होते हैं। तैसे इन्द्रादिक देवता भी स्वरूपसे ही सन्निहित होकर यज्ञके अङ्ग स्वीकार करने होवेंगे। यदि ऐसा मानोगे तो यागादिक कर्मोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण करके देवतावोंका दर्शन होना चाहिये। परन्तु इन्द्रादिकोंका स्वरूपके सन्निधानसे यागमें अङ्गभाव दीखता है नहीं। और सम्भव भी नहीं हो सकता है। क्योंकि जब एक कालमें अनेक स्थानोंमें याग हो रहे हैं तब विग्रहवाली इन्द्रादिक एक देवताकी अनेक यागोंके साथ सन्निधि उपपन्न नहीं हो सकती है। अतः योग्यानुपलब्धि करके संप्रदानरूप विग्रहवाली देवताका अभाव निश्चय होनेसे कर्ममें विरोध होगा, अर्थात् कर्मकी निष्पत्ति नहीं हो सकेगी?

तात्पर्य यह है कि— मन्त्रके पदों करके प्रतीयमान जो अर्थ है सो प्रमाणान्तरके साथ अविरोध हुये ही अङ्गीकार करनेको योग्य है, विरोधके विद्यमान हुये नहीं। प्रसङ्गमें देवताका विग्रहवत्त्वादिक प्रमाणान्तर विरुद्ध है। अतः जैसे **'यजमानः प्रस्तरः'**। अर्थ—यजमान जो है सो प्रस्तर कहिये कुशाकी मुष्टिरूप है इति। यहां स्वार्थका असम्भव होनेसे "जैसे कुशा पवित्ररूप है तैसे यजमान भी पवित्ररूप है" इस अर्थमें तात्पर्य है। तैसे मन्त्रादिकोंका व्याख्यान जानना। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह अर्थ सिद्ध हुवा कि-विग्रहका अभाव होनेसे शब्दोपहित अर्थ (मानस)

का अथवा अर्थोपहित शब्दका नाम देवता है। ऐसी देवताको अचेतन होनेसे कर्ममें तथा विद्यामें अधिकार नहीं है इति।

समाधान। यह विरोध नहीं है; क्योंकि—**अनेकप्रतिपत्तेः।** अर्थात् जैसे योगी पुरुष योगके बलसे एक कालमें अनेक स्वरूपोंको धारण करके अनेक कार्यको करता है। तैसे आजान सिद्ध देवता भी एक कालमें अनेक स्वरूपोंको धारण करके अनेक यागोंके सन्निहित होकर कर्मके अङ्ग बन सकते हैं।

शंका। किस हेतुसे तुम ऐसा निश्चय करते हो?

समाधान। **'दर्शनात्।'** दर्शनसे अर्थात् श्रुति स्मृतियोंमें देवतावोंके अनेक रूप देखनेमें आते हैं। इस अर्थमें श्रुति स्मृतिको दिखाते हैं:—तहां श्रुतिः—**'कति देवा याज्ञवल्क्य।'** अर्थ—शाकल्य पूछते हैं—हे याज्ञवल्क्य! वैश्वदेव शस्त्रमें कहे हुये देवता कितने हैं इति। इस प्रकार उपक्रम करके शाकल्य करके पृष्ट जो याज्ञवल्क्य हैं सो देवता वाचक शब्दरूप इस निवित् करके उत्तरको देते भये—**'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा।'** अर्थात् 'तीन हजार तीनसो छ देवता हैं"। इस प्रकार देवतावोंके निर्वचनके अनन्तर—

प्रश्न—**'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य।'** अर्थात्–शाकल्यने पुनः पूछा कि:–हे याज्ञवल्क्य! इनमें मुख्य कितने देवता हैं इति?

उत्तर—**'त्रयस्त्रिंशत्।'** याज्ञवल्क्यने कहा कि—तेतीस देवता हैं। तहां *अष्ट वसु, †एकादश रुद्र, ‡द्वादश आदित्य, इन्द्र, तथा प्रजापति यह जो तेतीस देवता हैं। इन देवतावोंकी ही पूर्वोक्त तीन हजार तीनसौ छ देवता महिमारूप विभूति हैं। अर्थात् सर्व देवता इन तेतीस देवतावोंके अन्तर्भूत हैं। इस अर्थको कहनेवाली जो—**'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः।'** यह श्रुति है सो एक ही कालमें एक एक देवताकी अनेक रूपताको दिखाती है। प्रश्न—'कत्येव देवाः।'

* टि०—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र इनका नाम अष्ट वसु है। क्योंकि यही प्राणियोंके कर्मफलके आश्रय देहादि कार्य करण संघातरूपसे परिणत होकर सर्व जगत्को वसाते हैं। अतः इनका नाम वसु है।

† टि०—पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, एक मन, इनका नाम एकादश रुद्र है। क्योंकि ये ग्यारह ही मरणकालमें उत्क्रमण करके सम्बन्धियोंको रुलाते हैं। अतः इनका नाम रुद्र है।

‡ टि०—सम्वत्सरके बारह महिनोंका नाम द्वादश आदित्य है। क्योंकि ये पुनः पुनः परिवर्तन करते हुये प्राणियोंको कर्मफल भोगाते हुये आयुको आदान (हरण) करते हैं, अतः इनका नाम आदित्य है।

अर्थात्—हे याज्ञवल्क्य! इनमें मुख्य देवता कितने हैं इति। याज्ञवल्क्य–षट्। अग्नि, पृथिवी, वायु अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ यह छ देवता मुख्य हैं। इन छ देवतावोंकी ही पूर्वोक्त तेतीस देवता विभूति हैं। अतः इन तेतीस देवतावोंका छ देवतावोंमें अन्तर्भाव है। शाकल्य–कत्येव देवाः। अर्थात् इनमें मुख्य देवता कितने हैं। याज्ञवल्क्य-त्रयः। भूर्भुवःस्वः ये तीन लोक रूप देवता मुख्य हैं। इन तीन लोकोंमें सम्पूर्ण देवता अन्तर्भूत हैं। अर्थात् अग्निका पृथिवीमें, वायुका अन्तरिक्षमें, आदित्यका द्यौमें अन्तर्भावके अभिप्रायसे ये तीन देवता कहे हैं। शाकल्य—कत्येव देवाः। याज्ञवल्क्य - द्वौ। अन्न तथा प्राणरूप दो देवता मुख्य हैं। इन दोनों देवतावोंकी ही पूर्वोक्त तीनों देवता विभूतिरूप महिमा हैं। अर्थात् इन दोनोंमें तीनोंका अन्तर्भाव है। शाकल्य--कत्येव देवाः याज्ञवल्क्य--अध्यर्धः। शाकल्य-अध्यर्ध किसको कहते हैं? याज्ञवल्क्य–ऋद्धिका हेतु होनेसे वायुका नाम अध्यर्ध है। अन्न व प्राणका वायुमें ही अन्तर्भाव है। शाकल्य--कत्येव देवाः। याज्ञवल्क्य—एकः। एक देवता ही मुख्य है जिस एक देवकी ये पूर्वोक्ति सम्पूर्ण देवता महिमारूप विभूति हैं। शाकल्य—'कतम एको देव इति'—एक देव कौन है। याज्ञवल्क्य—'प्राण इति' समष्टि प्राण है। अर्थात् प्राण सूत्रात्मारूप करके सम्पूर्ण विश्वको चेष्टा कराता है। अथवा जगज्जीवन प्राणका भी जीवन-प्राण यहां ब्रह्म है। अतः यहां कारणरूप ब्रह्मका नाम ही प्राण है। तिस प्राणरूप ब्रह्ममें ही सम्पूर्ण देवतावोंका अन्तर्भाव है। इस प्रकार निर्वचन करती हुई अर्थात् सम्पूर्ण देवतावोंको प्राणके साथ एकरूपताको दिखाती हुई श्रुति एक एक देवताकी व प्राणरूप ब्रह्मकी युगपत् अनेक रूपताको दिखाती है।

तथा स्मृतिमें भी ऐसा ही कहा है। तहां स्मृति—**आत्मनो वै शरीराणि, बहूनि भरतर्षभ। योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥'** इत्यादिक। अर्थ—हे भरतकुलमें श्रेष्ठ! योग बलको प्राप्त होकर योगी पुरुष अपने एक शरीरके अनेक शरीरोंको करता है तथा तिन सर्व शरीरों करके पृथिवीमें विचरता है। तहां कितनेक शरीरों करके विषयोंको प्राप्त होता है। तथा कितनेक शरीरों करके उग्रतपको करता है। और जैसे सूर्य रश्मि-समूहको अपनेमें लय कर लेता है, तैसे ही योगी पुरुष पुनः शरीरोंको अपनेमें लय कर लेता है इति।

इस प्रकारकी जो अनेक स्मृति हैं सो जब अणिमादिक ऐश्वर्यको प्राप्त हुये योगी पुरुषोंको भी एक कालमें अनेक शरीरोंके सम्बन्धको दिखाती हैं। तब आजानसिद्ध (अर्थात् जन्मसे ही सिद्ध) देवतावोंका एक कालमें अनेक शरीरोंके साथ सम्बन्ध होता है इसमें क्या कहना है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अनेकरूपकी प्राप्तिका सम्भव होनेसे एक एक देवता अपने अपने देहको बहुत रूपसे विभाग करके बहुत यागोंमें अङ्गभावको प्राप्त होते हैं।

और पूर्व जो वादीने कहा था कि—यदि विग्रहवाली देवता यागके समीपमें आकर कर्मके अङ्गभावको प्राप्त होती हैं तो देवतावोंका दर्शन होना चाहिये? सो कहना असङ्गत है। क्योंकि अन्तरधानादिकोंको शक्तियोंके योगसे देवता दूसरों

करके देखनेमें नहीं आते हैं। अतः देवतावोंको शरीर सहित होनेसे ब्रह्मविद्यामें अधिकार है यह सिद्ध हुवा इति।

किञ्च 'अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' इस वाक्यकी दूसरी रीतिसे व्याख्या करके "सन्निहित देवादिकोंमें ही कर्मका अङ्गभाव है" ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि असन्निहित वस्तुमें भी युगपत् अनेक कर्मका अङ्गभाव देखनेमें आता है। इस अर्थको कहते हैं:- विग्रहवालोंकी भी कर्मोंकी अङ्गविधिमें अनेक प्रकारकी 'प्रतिपत्ति' देखनेमें आती है। अर्थात् कहीं अनेक कर्मोंमें एकको अङ्गभावकी प्राप्ति होती है, कहीं नहीं।

अब "अनेक कर्मोंविषे अङ्गभावकी प्राप्ति एकमें भी बन सकती है क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है" इस अर्थको स्पष्ट करनेके लिये प्रथम व्यतिरेकको दिखाते हैं—**'क्वचिदेकोऽपि'** इत्यादि भा०। अर्थात् किसी स्थलमें विग्रहवाला एक पुरुष अनेक क्रियारूप कर्मविषे एक कालमें अङ्गभावको नहीं प्राप्त होता है। जैसे भोजन करानेवाले बहुतसे यजमान एक ब्राह्मणको एक कालमें अनेक स्थल विषे अनेक भोजनोंको नहीं करा सकते हैं; न ब्राह्मण कर सकता है। और अब अभीष्ट अङ्गत्वके लिये अन्वयको दिखाते हैं—**'क्वचिच्चेति'**। कोईक स्थलमें एक भी विग्रहवाला पुरुष अनेक कर्ममें युगपत् अङ्गभावको प्राप्त होता है। जैसे अनेक पुरुषों करके क्रियमाण नमस्काररूप अनेक क्रियावोंमें नमस्कार्य एक ही ब्राह्मण अङ्गभावको प्राप्त होता है। तैसे विग्रहवाली भी एक देवताको उद्देश करके अनेक याज्ञिक पुरुष एक कालमें ही अपना अपना हवि आदिक द्रव्यका त्याग कर सकते हैं। अतः द्रव्यका त्यागरूप अनेक यागोंमें भी एक विग्रहवती देवता विषे अङ्गभाव बन सकता है। तथा च देवतावोंको विग्रहवत्त्वके हुये कर्ममें किञ्चित्मात्र भी विरोध नहीं है यह सिद्ध हुवा इति ॥ २७ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे देवादिकोंके विग्रह (शरीर) के हुये कर्ममें कोई विरोध न होवे तो न सही। किन्तु शब्दनिष्ठ प्रामाण्यमें विरोध अवश्य होवेगा। क्योंकि— **'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'** इत्यादि जैमनिसूत्र—(१।१।५) में अनादि अर्थके सम्बन्धको अनादि होनेसे 'अनपेक्षत्वात्' इत्यादि भाष्यसे वेदमें मानान्तरानपेक्ष प्रामाण्यको स्थापन किया है। अब आप विग्रहवाली देवताको स्वीकार करते हैं। विग्रहवाली देवता यद्यपि अणिमादिक ऐश्वर्यके बलसे एक कालमें अनेक कर्म सम्बन्धि हविःको भोग सकेगी। तथापि विग्रहके सम्बन्धसे अस्मदादिकोंकी तरह जन्म-मरणवाली ही सो देवता होवेगी। अतः शब्दका अनित्य अर्थके साथ सम्बन्धको अनित्य होनेसे नित्य शब्दका नित्य अर्थके साथ नित्य सम्बन्धके प्रतीयमान होनेसे जो वैदिक शब्दमें मानान्तरानपेक्ष प्रामाण्य स्थापन किया है तिसमें मानान्तरसापेक्षत्वरूप विरोध होवेगा। अर्थात् गोत्वादिकी तरह प्रत्यभिज्ञादिक प्रमाणके न होनेसे वसुत्वादिक जाति नहीं है। अतः वसु आदिक देवतावोंके नाम आकाशादि शब्दकी तरह केवल व्यक्तिके ही वाचक हैं। व्यक्ति

यदि नित्य होती तो नित्य शब्दके साथ नित्य व्यक्तिका सम्बन्ध भी नित्य होता। वसु आदिक व्यक्तिके अनित्य होनेसे, व्यक्तिकी उत्पत्तिके पहिले व्यक्तिके न होनेसे वसु आदिक शब्द व्यक्तिरूप अपने अर्थके साथ सम्बद्ध नहीं थे। व्यक्तिके उत्पन्न होनेके अनन्तर शब्द व अर्थका सम्बन्ध पुरुषबुद्धिके अधीन उत्पन्न होवेगा। और सम्बन्ध ग्रहण पूर्वक वाक्यार्थप्रत्यय भी पुरुषबुद्धिके अधीन ही होगा। और पुरुषकी बुद्धि मानान्तरके अधीन हुवा करती है। अतः मानान्तरकी अपेक्षा होनेसे वेदमें प्रामाण्यका व्याघात होवेगा? ऐसी आशंका करके सूत्रकार समाधानको दिखाते हैं:—

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्+ प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

अर्थ—१ शब्दे, २ इति, ३ चेत्, ४ न, ५ अतः, ६ प्रभवात्, ७ प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। इस सूत्रमें सात पद हैं। 'शब्दे' शब्दमें अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे शब्दनिष्ठ प्रामाण्यमें विरोध होवेगा 'इति चेन्न' ऐसा नहीं कहना। क्योंकि 'प्रत्यक्ष' कहिये श्रुति तथा 'अनुमान' कहिये स्मृति इन दोनों प्रमाणों करके निश्चित है कि—देवादिक सम्पूर्ण जगत् इस वैदिक शब्दसे ही उत्पन्न होता है, अतः कोई विरोध नहीं है इति।

अब भाष्यकार भगवान् इस सूत्रके तात्पर्यको वर्णन करते हैं—क्या शब्दमें अनित्यत्व करके सम्बन्धमें अनित्यत्वका आपादन करते हो? अथवा अर्थमें अनित्यत्व करके सम्बन्धमें अनित्यत्वका आपादन करते हो? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि—'अतः प्रभवात्' वैदिक शब्दसे ही सर्व जगत् पैदा होता है। अतः देवादि व्यक्तिका हेतुरूप करके शब्दको प्रथम ही विद्यमान होनेसे शब्दमें अनित्यत्व नहीं बन सकता है।

शंका। 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्तिका निर्धारण हो चुका है; अब यदि इस सूत्रमें शब्दसे जगत् उत्पत्ति मानोगे तो पूर्व व परका विरोध होगा।

समाधान। 'नायमप्यस्ति विरोधः' इति भा०। अर्थात् यह भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि जगत्की उत्पत्तिके प्रति शब्द भी ब्रह्मका सहकारी कारण है। अतः शब्दमें भी जगत्कारणत्वको होनेसे पूर्व व परका विरोध नहीं है।

अब द्वितीय पक्षको लेके 'अपिच' इत्यादि भाष्य करके पूर्ववादी शंका करता है:—

शंका। यदि वैदिक शब्दसे देवादिक जगत्की उत्पत्ति मानोगे तो भी शब्दमें विरोधका परिहार किस प्रकार होगा किन्तु नहीं होगा। क्योंकि 'वसवो

+ टि०—वसुत्वादिक जाति वाचक शब्दसे वसु आदिक चिकीर्षित व्यक्तिको बुद्धिमें आकलन करके जो स्वयम्भूकर्तृक देवादि व्यक्तिकी उत्पत्ति है यही देवादिकोंमें शब्दप्रभवत्व है।

रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्थाः, अनित्याः, उत्पत्तिमत्त्वात् घटादिवत्' अर्थात् वसु आदिक जो अर्थ हैं सो उत्पत्तिवाले होनेसे अनित्य ही होवेंगे; और जब अनित्य हुये तब वसु आदिक देवतावोंके वाचक वसु आदिक वैदिक शब्दोंमें अनित्यत्वको कौन वारण करेगा ? और वसु आदिक अर्थको अनित्य होनेसे शब्दके सम्बन्धमें भी अनित्यत्व दुर्वार होगा। क्योंकि सम्बन्धिके नाशसे अनन्तर सम्बन्धकी स्थिति बने नहीं। तथा च अर्थके सम्बन्धमें भी सादित्व सिद्ध हुवा। और लोकमें भी प्रसिद्ध है कि—देवदत्तका पुत्रके हुये बादमें 'यज्ञदत्त' नाम किया जाता है। अतः शब्दमें पौरुषेय सम्बन्धकी अपेक्षा होनेसे प्रामाण्यका विरोध है यह सिद्ध हुवा इति।

समाधान। वादीने जो कहा है कि "वसु आदिक शब्दोंके विग्रहरूप अर्थोंको अनित्य होनेसे वसु आदि शब्द भी अनित्य होवेंगे, और शब्द तथा अर्थका सम्बन्ध भी अनित्य होवेगा" सो वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि उत्पत्तिवाली होनेसे गवादिक व्यक्तियोंके अनित्य हुये भी गवादिक शब्दका वाच्य अर्थ जो गोत्वादिक जातिरूप आकृति है सो उत्पत्तिरहित होनेसे नित्य है। और गवादिक शब्द तथा जातिरूप अर्थको नित्य होनेसे दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य ही है।

शंका। गवादिक व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होनेसे गवादिनिष्ठ रूपादिकी तरह गोत्वादिक जातिकी भी उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ?

समाधान। जातिको नित्य (यावत्काल स्थायि) होनेसे व्यक्तिकी तरह उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि द्रव्य गुण कर्मोंकी व्यक्ति ही उत्पन्न होती हैं। जातिकी उत्पत्ति नहीं होती है।

और गवादिक शब्दोंका व्यक्तियोंके साथ शक्तिरूप सम्बन्ध भी नहीं है। किन्तु जातिके साथ ही है। यदि व्यक्तिके साथ सम्बन्ध मानोगे तो, व्यक्तियोंको अनन्त होनेसे सम्बन्धका ग्रहण नहीं हो सकेगा। क्योंकि "सम्बन्धज्ञानमें यावत सम्बन्धीका ज्ञान कारण होता है" यह नियम है। प्रसङ्गमें सर्वज्ञ योगीसे विना अल्पज्ञ दूसरे मनुष्योंको अनन्त व्यक्तिरूप सम्बन्धीका ज्ञान नहीं बन सकता है। और गवादिक शब्दका जातिरूप अर्थके साथ सम्बन्धका ग्रहण तो बन सकता है। क्योंकि गोत्वादिक जातिरूप अर्थ एक है। इस पूर्वोक्त रीतिसे जैसे गवादिक व्यक्तियोंको उत्पद्यमान हुये भी आकृतिको नित्य होनेसे गवादिक शब्दमें कोई विरोध नहीं है। तैसे वसु आदिक देवताविग्रहके उत्पद्यमान हुये भी वसु-आदिक शब्दका अर्थ जो वसुत्वादिकरूप आकृति है तिसको नित्य होनेसे वसु-आदिक शब्दमें भी कोई विरोध नहीं है।

यहां ऐसा जानना योग्य कि-गो शब्दका शक्य अर्थ गोत्व जाति है, व्यक्ति नहीं क्योंकि **'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः'**। अर्थ—लक्षणावृत्ति करके व शब्दसे भिन्न करके जिस वस्तुका लाभ (ज्ञान) न हो तिस वस्तुका नाम अनन्यलभ्य है। ऐसी गोत्वादि-

रूप आकृति है। और अनादि तात्पर्यवती निरूढ़ 'अजहत्' लक्षणा करके व्यक्तिका लाभ होता है। अतः व्यक्तिमें अनन्यलभ्यत्वका अभाव होनेसे व्यक्ति शक्य अर्थ नहीं है। किन्तु गो शब्दका लक्ष्य अर्थ है इति।

शंका। वह कौन व्यक्ति हैं जिन व्यक्तियोंमें अनुगत इन्द्रत्वादिक जाति इन्द्रादिक शब्दके अर्थ हैं।

समाधान। **'आकृतिविशेषस्तु'** इत्यादि भा०। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' वज्र है हस्तमें जिसके तिसका नाम पुरन्दर कहिये इन्द्र है—इत्यादि मन्त्र व अर्थवादादिकोंसे देवादिकोंके विग्रहका निश्चय होता है। और निश्चित इन्द्रादिक व्यक्तियोंमें इन्द्रत्वादिक आकृतिविशेषका निश्चय करनेको योग्य है।

शंका। नित्य तथा अनेकमें समवेत जो धर्म है तिसका नाम जाति है। प्रसङ्गमें इन्द्रादिक व्यक्तियोंको एक एक होनेसे एक एक व्यक्तिवृत्ति इन्द्रत्वादिक जाति नहीं हो सकती हैं।

समाधान। अतीत अनागत इन्द्रादिक व्यक्तियोंके भेदसे इन्द्रत्वादिक जाति बन सकती हैं इति।

इस पूर्वोक्त रीतिसे इन्द्रादिक शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्त इन्द्रत्वादिक जातियोंको कहकर, अब उपाधि निमित्तको कहते हैं—**'स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ता हि इन्द्रादिशब्दाः'** इत्यादि भा०। अर्थ—जैसे सेनापतिके स्थान (पद) पर जो पुरुष स्थित होता है सो पुरुष सेनापति कहा जाता है। यहां सेनापति शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त सेनापतिका स्थान है। तैसे इन्द्रादिक देवतावोंका स्थान जो इन्द्रादिकोंका पद हैं तिन स्थानोंमें जो जो देव स्थित होता है सो सो देवता इन्द्रादिक शब्द करके कही जाती है। यहां इन्द्रादिक शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त स्थान है, अतः कोई दोष नहीं है इति।

और जो वादीने कहा था कि—**'जन्माद्यस्व यतः'** इस पूर्व सूत्रमें जगत् विषे ब्रह्मप्रभवत्वको कह आये हैं। और इस सूत्रमें शब्दप्रभवत्वको सूत्रकार कहते हैं। अतः पूर्वपरका विरोध होवेगा? सो यह वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि जगत्में उपादानकारणकत्वरूप ब्रह्मप्रभवत्वकी तरह शब्दप्रभवत्वको सूत्रकार नहीं कहते हैं। किन्तु नित्य अर्थ सम्बन्धी नित्य शब्दके विद्यमान हुये, शब्दव्यवहारके योग्य जो व्यक्तिरूप अर्थकी निष्पत्ति है, सोई 'अतः प्रभवः' इस वाक्य करके व्यास भगवान् कहते हैं। अर्थात् शब्द जगत्का निमित्त कारण है; और ब्रह्म उपादान कारण है। अतः पूर्व परका विरोध नहीं हो सकता है इति।

शंका। पुनः 'शब्दसे जगत्का प्रभव होता है' यह किस प्रमाणसे ज्ञात होता है?

समाधान। 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।' अर्थात् श्रुति जो है सो स्वनिष्ठ प्रामाण्यके प्रति दूसरेकी अपेक्षा नहीं करती है, अतः श्रुतिका नाम यहां 'प्रत्यक्ष' है। और स्मृति जो है सो स्वनिष्ठ प्रामाण्यके लिये मूल श्रुतिका अनुमान करती है इसलिये स्मृतिका नाम यहां 'अनुमान' है। ये श्रुति तथा स्मृति शब्दपूर्वक सृष्टिको दिखाती हैं:-

तहां श्रुतिः—'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः॥'

अर्थ—इस श्रुतिमें एते, असृग्रम्, इन्दवः, तिरःपवित्रम्, आशवः, विश्वानि, अभिसौभगा, ये जो पद हैं तिन पदों करके क्रमसे देवता, मनुष्य, पितृ, ग्रह, स्तोत्र, शस्त्र व अन्य प्रजा-इनको स्मरण करके प्रजापति जो ब्रह्मा है सो देवादिकोंको उत्पन्न करता भया इति। अर्थात् 'एते' यह जो पद है सो सन्निहितका वाचक है। अतः चक्षुरादिक कर्णोंके अनुग्राहकरूप करके सन्निहित जो सूर्यादिक देवता हैं तिनोंका स्मारक है। और 'असृक्' जो रुधिर है तिस रुधिरप्रधान देहमें जो रमण करनेवाले मनुष्य हैं तिनोंका स्मारक 'असृग्रम्' यह पद है। तथा इन्दुमण्डलमें स्थित जो पितर हैं तिनोंका स्मारक 'इन्दु' शब्द है। पवित्र जो सोम है तिसको अपनेमें तिरोभाव करनेवाले जो ग्रह हैं तिनका स्मारक तिरःपवित्र शब्द है। और ऋचावोंको व्याप्त करनेवाले जो गीतिरूप स्तोत्र हैं तिनोंका स्मारक 'आशु' शब्द है। तथा स्तोत्रसे अनन्तर प्रयोगमें प्रवेश करनेवाले जो मन्त्रविशेषरूप शस्त्र हैं तिनोंका स्मारक 'विश्व' शब्द है। तथा सर्वत्र सौभाग्य करके युक्त जो प्रजा हैं तिनोंका स्मारक 'अभिसौभगा' शब्द है। इस पूर्वोक्त रीतिसे तत् तत् पदों करके तत् तत् देवादिकोंका स्मरण करके ब्रह्माजी शब्दपूर्वक ही सृष्टिको रचते भये इति।

इसी अर्थमें दूसरी श्रुतिको दिखाते हैं—'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० १।२।४) इत्यादि। अर्थ—सो प्रजापति मन करके सहित वेदत्रयी वाणीरूप मिथुनको अर्थात् मन तथा वाक्रूप मिथुनको 'समभवत्' कहिये वेदत्रयरूप वाणी करके प्रकाशित जो सृष्टि है तिस सृष्टिविषयक मन करके आलोचनाको करता भया इति। इस प्रकार तहां तहां श्रुतिमें शब्दपूर्वक ही सृष्टिका श्रवण होता है इति।

अब इसी अर्थमें स्मृतिको दिखाते हैं—अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ अर्थ—ब्रह्मा उत्पत्ति नाश रहित नित्य शब्दको प्रादुर्भाव करता भया। तथा च प्रथम दिव्य वेदमय शब्दका प्रादुर्भाव होता है पश्चात् वेदशब्दसे सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है इति।

शंका। जैसे कालिदासादिकोंने कुमारसम्भवादिका निर्माण किया है; ऐसे ही क्या ब्रह्माजीने दिव्य वेदमयी वाणीका उत्सर्ग अर्थात् निर्माण किया है?

तथाच जैसे कुमारसम्भवादिकोंमें प्रमाणान्तर सापेक्षत्व है तैसे ही वेदमें भी सापेक्षत्वरूप अप्रामाण्य होगा।

समाधान। यहां आदि अन्त करके रहित जो नित्य शब्द हैं तिनोंका अन्य प्रकारका उत्सर्ग कहिये उत्पत्तिका असम्भव होनेसे "गुरुशिष्यकी परम्परा करके अध्ययनका प्रवर्तनरूप" जो संप्रदाय है सोई शब्दका उत्सर्ग है ऐसा जानना। अर्थात् स्वयम्भूमें वेदका कर्तृत्व होनेपर भी कालिदासादिकोंकी तरह स्वतन्त्रत्व नहीं है। किन्तु पूर्व पूर्व सृष्टिके अनुसार ही उत्तर उत्तर सृष्टिमें वेदकी रचना होती है।

तथा **'नामरूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥'** (मनु० १।२१) इत्यादि। अर्थ—सो परमात्मा सृष्टिके आदि कालमें वेदशब्दोंसे ही भूतोंके नाम तथा रूप तथा कर्मोंके प्रवर्तनको करता भया इति।

'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥' अर्थ—सृष्टिके आदिमें सो महेश्वर वेदशब्दोंसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके पृथक् २ नाम तथा पृथक् २ कर्मोंको तथा पृथक् २ संस्थावोंको रचता भया इति। इन स्मृतियोंमें भी शब्दपूर्वक ही सृष्टिको कहा है।

'या प्रजापतिसृष्टिः, सा शब्दपूर्विका, सृष्टित्वात्, प्रत्यक्षघटादिवत्'। अर्थ—जैसे प्रत्यक्ष घटादिरूप दृष्टान्तमें सृष्टित्वरूप यह हेतु है तथा शब्दपूर्वकत्व साध्य भी है। तैसे ही प्रजापतिकी सृष्टिरूप पक्षमें सृष्टित्व यह हेतु है। अतः शब्दपूर्वकत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके भी शब्दपूर्वक ही सृष्टि निश्चित होती है इति।

अब **'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'** इस वाक्यके अर्थान्तरको दिखाते हैं— **'अपि च'** इत्यादि भा०। जैसे "यह जीव संस्कारके बलसे उत्पत्ति करनेकी इच्छाका विषयीभूत जो यज्ञादि अर्थ है तिसका अनुष्ठान करते हुये तिस अर्थके वाचक शब्दको प्रथम स्मरण करके पश्चात् तिस अर्थ विषयक अनुष्ठानको करता है" यह हमारे लोगोंको प्रत्यक्षसिद्ध है। तैसे ही "जगत्स्रष्टा ब्रह्माके मनमें भी पूर्वकल्पीय संस्कारके बलसे सृष्टिके प्रथम वैदिक शब्द प्रादुर्भावको प्राप्त होते भये, पश्चात् वैदिक शब्दोंमें अनुगत व चिकीर्षित जो अर्थ हैं तिनोंको बुद्धिमें आकलन करके ब्रह्माजी उत्पन्न करते भये" ऐसा निश्चय होता है इति। तहां—**'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत'** इत्यादिक श्रुति "ब्रह्मा अपने मनमें व वाणीमें प्रादुर्भूत 'भूः' इत्यादिक शब्दोंसे भूमि आदिक लोकोंको उत्पन्न करता भया" इसी अर्थको दिखाती हैं इति।

शब्दसे जगत्की उत्पत्ति कह आये हैं। अतः, इस प्रसङ्गमें शब्दके स्वरूपको कहनेके लिये प्रथम शब्दसे जगत्की उत्पत्तिके आक्षेपको दिखाते हैं—

'किमात्मकम्' इत्यादि भा०। क्या शब्द वर्णरूप है? अथवा वर्णसे भिन्न स्फोटरूप है? तहां दोनों पक्ष नहीं बन सकते हैं। क्योंकि वर्णको अनित्य होनेसे तथा स्फोटको असत्रूप होनेसे दोनोंमें जगत्का हेतुत्व नहीं बन सकता है। फिर कैसे शब्दके अभिप्रायसे यह देवादिक सृष्टिमें शब्दप्रभवत्व कहते हो?

इस प्रकारका आक्षेपके हुये वैयाकरण द्वितीय पक्षको अङ्गीकार करता है—'*स्फोटमित्याह' इति भाष्यम्। वैयाकरण शब्दको स्फोटरूप कहता है। 'स्फुटयते वर्णैर्व्यज्यते इति स्फोटः' अर्थात् वर्णों करके व्यङ्ग्य तथा अर्थका अभिव्यञ्जक जो गवादिक नित्य शब्द है तिसका नाम स्फोट है। इस शब्दरूप स्फोटके अभिप्रायसे ही शब्दसे जगत्की उत्पत्ति 'अतः प्रभवात्' इत्यादि करके सूत्रकारने कही है इति।

शंका। वर्णोंसे अतिरिक्त स्फोटका अनुभव नहीं है। अतः नरविषाणके तुल्य स्फोट असिद्ध है?

समाधान। 'गौः' यह एक पद है, और 'शुक्लां गामानय' यह एक वाक्य है। इस प्रकार नाना वर्णोंसे अतिरिक्त पद व वाक्यरूप स्फोटकी प्रतीति सर्वको अनुभवसिद्ध है। बलवान् बाधकको न होनेसे इस प्रतीतिको भ्रम भी नहीं कह सकते हैं।

अब वैयाकरण ही प्रथम पक्षमें दोषको दिखाता है—'वर्णपक्षे हि' इत्यादि भा०। अर्थात् अवाचक शब्दोंसे देवादिकोंका बुद्धिमें स्फुरण न होनेसे वाचक शब्दसे ही देवादिकोंका प्रभव मानना पड़ेगा। एवं च वसु आदिक देवोंके वकारादिक वर्ण वाचक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि 'वर्णका नाम शब्द है' यदि इस प्रथम पक्षको मानोगे तो वर्णोंको उत्पत्तिसे अनन्तर तृतीय क्षणमें विनाशशील होनेसे "नित्य शब्दोंसे देवादिक व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होती है" यह वाद अनुपपन्न होगा।

शंका। 'सोऽयं गकारः' "पूर्व उच्चारण किया जो गकार था सोई यह गकार है" इस प्रत्यभिज्ञा करके वर्णमें नित्यत्वकी सिद्धि हो सकती है। अतः नित्य वर्णरूप शब्दोंसे देवादिकोंकी उत्पत्ति बन सकती है।

समाधान। उच्चारण उच्चारणके प्रति अन्यथा अन्यथा प्रतीयमान होनेसे उत्पत्ति विनाशवाले वर्ण हैं। अर्थात् 'तारो गकारः, मन्दो गकारः' इस प्रकार तारत्व मन्दत्वरूप विरुद्ध धर्मों करके प्रतीयमान जो गकार है तिस गकारके

---

* 'वर्ण बोधक नहीं है" यह कहना तो उचित ही है, परन्तु 'स्फोट बोधक नहीं है' इस मतको हम सहन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि स्फोटके अनुभवसे अनन्तर वृत्तिज्ञानवाले पुरुषको अर्थविषयक शाब्दबोध अनुभवसिद्ध है।

भेदका अनुमान होता है। अतः गकार एक नहीं है। और जब एक नहीं हुवा तब परिच्छिन्न वर्ण नित्य भी नहीं होवेगा। अतः 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा गत्वरूप जातिविषयक है, गकाररूप व्यक्तिविषयक नहीं है।

और जहां गृहके अन्तर दश पांच पुरुष अध्ययन कर रहे हैं तहां गृहके बाहर स्थित पुरुषको अध्ययनध्वनिके श्रवणसे अदृश्यमान पुरुषविशेषका भी विशेषरूप करके निश्चय होता है कि – 'यह देवदत्त अध्ययन करता है' 'यह यज्ञदत्त अध्ययन करता है' इत्यादि। अर्थात् इस स्थलमें भी अन्यथात्वप्रकारक ज्ञान होता है। अतः वर्ण एक नहीं है किन्तु प्रत्युच्चारण भिन्न २ हैं, और अनित्य हैं।

शंका। तारत्व मन्दत्वादिक विरुद्ध धर्म प्रकारक जो ज्ञान है सो ध्वनिरूप उपाधिवाला होनेसे भ्रमरूप है। अतः इस भ्रमज्ञान विषे शब्दमें अनित्यत्वका साधकत्व नहीं बन सकता है। क्योंकि तारत्वादिक ध्वनिके धर्म हैं।

समाधान। वर्णविषयक जो तारत्वादिप्रकारक ज्ञान है सो मिथ्या ज्ञान नहीं है, किन्तु सत्य है। क्योंकि इस स्थलमें बाधक ज्ञानका अभाव है। अतः वर्णोंको अनित्य होनेसे वर्णोंमें जगद् हेतुत्व नहीं बन सकता है इति।

किञ्च वर्णोंसे अर्थका ज्ञान भी नहीं बन सकता है, क्योंकि व्यभिचार है। अर्थात् एक वर्णसे अर्थका बोध होता है? अथवा वर्णके समुदायसे होता है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि एक वर्णसे अर्थका ज्ञान नहीं देखा गया है न हो सकता है। और यदि एक वर्ण मात्र ही अर्थका बोधक होवे तो घरूप एक वर्णसे ही घटरूप अर्थका बोध हो ही जावेगा, टकार वर्ण व्यर्थ होवेगा। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि वर्ण जो हैं सो क्रमवाले हैं व क्षणिक हैं। अर्थात् प्रथम क्षणमें वर्ण उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षणमें स्थित होता है, तृतीय क्षणमें नष्ट हो जाता है। अतः क्रमवाले वर्णोंका प्रथम समुदाय हो नहीं बन सकता है। जब समुदाय हो अप्रसिद्ध हुवा तब अप्रसिद्ध वर्णसमुदायमें अर्थकी बोधकत्व भी कहना असंभव है।

शंका। यद्यपि वर्णोंको क्षणिक होनेसे 'गामानय' इत्यादिक स्थलोंमें स्वरूपसे वर्णोंका समुदाय नहीं बन सकता है। तथापि गकारादिक वर्णोंका अनुभवजन्य संस्कारद्वारा समुदाय बन सकता है। अर्थात् पूर्व पूर्व वर्णोंके अनुभव-जन्य जो संस्कार हैं तिन संस्कारों करके सहित जो अन्त्य वर्णरूप शब्द है सो अर्थका बोधन करेगा।

समाधान। स्फोटवादी पूछता है कि –जो संस्कार सहित अन्त्य वर्ण अर्थको बोधन करेगा सो संस्कार; वर्ण व तदुच्चारणादि करके जन्य अपूर्वरूप है? अथवा वर्णका अनुभवजन्य भावनारूप है? तहां प्रथम पक्ष तो बनता नहीं, क्योंकि जैसे आग्नेयादिक याग करके जन्य अपूर्वमें प्रमाण है तैसे वर्ण करके जन्य अपूर्वमें कोई प्रमाण नहीं है। अथवा अपूर्वरूप संस्कार सहित जो शब्द है सो अज्ञात हुवा

अर्थज्ञानका हेतु है ? अथवा ज्ञात हुवा अर्थज्ञानका हेतु है ? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि बधिर पुरुष करके अगृहीत जो उच्चरित शब्द है; तथा अगृहीत कहिये अज्ञात है शक्ति आदिक सम्बन्ध जिसका ऐसा जो गृहीत उच्चरित शब्द है; तिन शब्दोंको अर्थबोधकत्व नहीं है। और "जैसे ज्ञात हुवा धूम वन्हिरूप अर्थका बोधक होता है, तैसे ही गृहीत सङ्गतिवाला ज्ञात हुवा जो संस्कार सहित शब्द है सोई अर्थका बोधक होगा" यह जो *द्वितीय पक्ष है। सो भी नहीं बन सकता है इस अर्थको विकल्पपूर्वक दिखाते हैं—क्या प्रत्यक्ष प्रमाण करके ज्ञात हुवा संस्कारसहित शब्द अर्थका बोधक है ? अथवा अनुमान प्रमाण करके ज्ञात हुवा अर्थका बोधक है ? तहां प्रथम पक्ष तो बन सकता नहीं, क्योंकि संस्कारको अप्रत्यक्ष होनेसे पूर्व पूर्व वर्णके अनुभवजन्य संस्कार सहित अन्त्य वर्णरूप शब्दकी प्रत्यक्ष प्रतीति ही नहीं बन सकती है। तथा "कार्य रूप लिङ्ग करके बोधित जो संस्कार है तिस संस्कार करके सहित ज्ञात हुवा अन्त्य वर्ण अर्थका बोधन करेगा" यह जो द्वितीय पक्ष है सो भी नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रसङ्गमें अर्थज्ञान (शाब्द बोध) का नाम कार्य है ? अथवा स्मरणका नाम कार्य है ? तहां प्रथम पक्षमें प्रथम अर्थज्ञानके हुये तज्जन्य संस्कारका ज्ञान होवेगा, और संस्कारके ज्ञानके हुये अर्थका ज्ञान होवेगा। इस रीतिसे अन्योऽन्याश्रय व चक्रक दोष होवेगा। और द्वितीयपक्षमें पदार्थ स्मरणरूप कार्यको भी पदज्ञानके अनन्तर भावि होनेसे अन्योऽन्याश्रयादि दोष होवेगा। अतः स्मरणरूप कार्य करके भी संस्कारसहित पदका ज्ञान युक्त नहीं है।

इससे भावनारूप संस्कार पक्ष भी निरस्त हो गया, क्योंकि वर्णके अनुभवजन्य संस्कारको वर्णविषयक स्मृतिका हेतुत्व है, अर्थबोधका हेतुत्व नहीं।

शंका। केवल वर्णानुभवजन्य संस्कारको वर्णस्मरणहेतुत्व है और अन्त्य वर्णके साहित्यसे अर्थधीहेतुत्व है ?

समाधान। अर्थज्ञानके प्रथम भावनाज्ञानका अभाव होनेसे संस्कार सहित शब्दमें अर्थज्ञानहेतुत्व नहीं बन सकता है।

शंका। संस्कारविषयक प्रत्यक्षके असम्भव हुये भी वर्णस्मरणसे संस्कारकी अनुमितिरूप ज्ञान बन सकता है। तथा च अनुमित संस्कारसहित अन्त्य शब्द अर्थज्ञानका हेतु बन सकता है।

---

* टि०—अर्थात् 'संस्कारसहितः शब्दो, ज्ञात एवाथधीहेतुः, सम्बन्धग्रहणापेक्षबोधकत्वात्, धूमादिवत्'। अर्थ—जैसे दृष्टान्त 'धूममें व्याप्तिरूप सम्बन्ध ग्रहणकी अपेक्षा करके बोधकत्वरूप हेतु है। और ज्ञात हो करके अर्थधीहेतुत्वरूप साध्य है। तैसे ही संस्कार सहित शब्दरूप पक्षमें शक्तिरूप सम्बन्ध ग्रहणकी अपेक्षा करके बोधकत्वरूप हेतु है, और ज्ञात हो करके अर्थधीहेतुत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति।

समाधान । तत्तद्वर्णविषयक क्रमशः अनुभवजन्य संस्कारजन्य क्रमिक वर्णस्मरणको अन्त्य वर्णके अनुभवजन्य संस्कारके अनन्तर भावी होनेसे तादृश स्मरण करके अनुमित संस्कारमें वर्णसाहित्य नहीं बन सकता है, क्योंकि संस्कारकी अनुमितिकालमें अन्त्य वर्ण है नहीं। यदि अन्त्य वर्णके अनुभवसे प्रथम ही तत् तत् वर्णविषयक अनुभवजन्य स्मरणसे तत् तत् वर्ण विषयक संस्कारोंकी तत् तत् अनुमिति मानें तो भी उपान्त्य वर्णानुभवजन्य स्मरण करके अनुमित संस्कारमें अन्त्य वर्णका साहित्य नहीं बन सकता है, क्योंकि उपान्त्य वर्ण विषयक संस्कारकी अनुमितिकालमें भी अन्त्य वर्ण नष्ट हो चुका है। इस पूर्वोक्त रीतिसे वर्णोंमें अर्थबोधकत्वका असम्भव होनेसे स्फोट ही शब्द है—इस प्रकार वैयाकरण कहता है—**'तस्मात्स्फोट एव शब्दः'** इत्यादि भाष्यम् ।

शंका । स्फोटमें क्या प्रमाण है ?

समाधान । 'एकं पदम्' 'एकं वाक्यम्' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे रत्नका स्वरूप वारंवार चाक्षुष प्रत्यक्ष करके स्पष्ट प्रतीत होता है, तैसे गकारादिक एक एक वर्णजन्य स्फोटविषयक जो प्रत्यय हैं तिन प्रत्ययों करके सम्पादित संस्काररूप हैं बीज जिस चित्तमें, तथा अन्त्य वर्ण करके जन्य जो ज्ञान है तिस ज्ञान करके जन्य परिपाकरूप अन्त्य संस्कार है जिस चित्तमें, ऐसा जो चित्त है तिस चित्तमें, 'एकं गौरिति पदम्' इस प्रकारका जो प्रत्यक्ष प्रत्यय होता है तिस प्रत्यक्ष ज्ञानका विषयरूप करके शीघ्र ही गवादिक पदस्फोट प्रतीत होता है।

शंका । 'एकं पदं' 'एकं वाक्यम्' यह जो ज्ञान है सो पदस्फोट तथा वाक्यस्फोटमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है किन्तु वर्णविषयक समूहालम्बनरूप स्मृति है।

समाधान । 'एकं पदम्' इत्यादिक जो एक प्रत्यय है सो वर्णविषयक स्मृतिरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि वर्णोंको अनेक होनेसे एकविषयक प्रत्ययका विषयत्व नहीं बन सकता है इति।

अब स्फोटमें जगत् हेतुत्वको कहनेके लिये नित्यत्वको वैयाकरण कहता है—**'तस्य'** इत्यादि भा०। उच्चारण उच्चारणके प्रति गवादिक शब्दरूप स्फोट 'सोऽयं गौः शब्दः' इस प्रत्यभिज्ञाका विषय होनेसे नित्य है।

शंका । उदात्तादिकोंके भेद विषयक प्रत्ययको विद्यमान होनेसे 'सोऽयं गौः शब्दः' 'सोई ही यह गो पद है' यह जो प्रत्यभिज्ञा है सो भ्रमरूप है। अतः गो शब्दरूप स्फोट अनित्य है।

समाधान । भेदप्रत्ययको वर्णविषयक होनेसे वर्ण अनित्य हैं गवादिक शब्द नहीं, अतः अभिधायक नित्य गवादिक शब्दरूप स्फोटसे अभिधेयरूप जो क्रियाकारक समूह अनित्य जगत् है सो उत्पन्न होता है यह वैयाकरणोंके मतको कहा इति।

अब आचार्यसंप्रदायकी उक्तिपूर्वक सिद्धान्तको दिखाते हैं-**'वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः'** इत्यादि भा०। अर्थ—'गौः' ऐसे प्रयोगके किये हुये गकार तथा औकार तथा विसर्जनीय इनोंसे अतिरिक्त स्फोटरूप शब्दका श्रोत्र इन्द्रिय करके ग्रहण नहीं होता है; अतः उपवर्षाचार्य वर्णको ही शब्द मानते हैं इति। यदि वैयाकरण कहे कि "वर्णमें उत्पत्ति व विनाशित्वको कह आये हैं" सो कहना असङ्गत है, क्योंकि 'त एव वर्णाः' 'सोई ही ये वर्ण हैं' इस प्रत्यभिज्ञासे वर्णोंमें नित्यत्वकी सिद्धि होती है।

शंका। जैसे वपनसे अनन्तर उत्पन्न केशोंमें सादृश्य दोषसे 'त एव केशाः' यह प्रत्यभिज्ञा भ्रमरूप है, तैसे सादृश्य दोषसे 'त एव वर्णाः' यह प्रत्यभिज्ञा भी भ्रान्तिरूप है। अतः भ्रमरूप प्रत्यभिज्ञा करके वर्णोंमें नित्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है।

समाधान। वपनानन्तर उत्पन्न केशोंमें भेदविषयक बुद्धिरूप बाधकके विद्यमान हुये केशविषयक प्रत्यभिज्ञामें भ्रमरूपत्व युक्त है। और 'त एव वर्णाः' यह जो प्रत्यभिज्ञा है सो बाधक प्रत्ययका अभाव होनेसे प्रमारूप ही है।

शंका। जैसे 'सोई यह गौ है' यह प्रत्यभिज्ञा गोत्व विषयक है, तैसे 'सोई यह वर्ण है' यह प्रत्यभिज्ञा भी गत्वादिक जातिविषयक है।

समाधान। व्यक्तिका भेद सिद्ध हुये ही प्रत्यभिज्ञा जातिविषयक होती है। जैसे "जिस जलको तुमने पान किया है तिस ही जलको मैंने भी पान किया है" यहां जलरूप व्यक्तिका भेद होनेसे यह प्रत्यभिज्ञा जलत्वरूप जातिविषयक है। तैसे ही यदि उच्चारण उच्चारणके प्रति गवादिक व्यक्तियोंकी तरह वर्णव्यक्ति भी भिन्न भिन्न प्रतीत होवें तो गत्वादिरूप आकृतिविषयक प्रत्यभिज्ञा होवे, परन्तु व्यक्तिभेदका ज्ञान है नहीं। अतः प्रति उच्चारणमें वर्णरूप व्यक्ति ही प्रत्यभिज्ञाका विषय होती है। और यह वार्ता अनुभव सिद्ध है कि "यह पुरुष दो वार गौ शब्दका उच्चारण किया है" ऐसा ज्ञान होता है। "यह पुरुष दो गौ शब्दोंका उच्चारण किया है" ऐसा ज्ञान नहीं होता है। अतः 'त एवेमे वर्णाः' यह प्रत्यभिज्ञा गकारादिक वर्णविषयक ही है, गत्वादिक जातिविषयक नहीं है।

शंका। जैसे अध्ययनध्वनिके श्रवणसे ध्वनिके भेद करके देवदत्त तथा यज्ञदत्तके भेदकी प्रतीति होती है। तैसे "वर्ण भी उच्चारणके भेद करके भिन्न भिन्न ही प्रतीत होते हैं" ऐसा हम प्रथम कह आये हैं। अर्थात् उदात्तत्वादिक विरुद्ध धर्मोंकरके व्यक्तियोंका भेद अनुमानसे सिद्ध होता है।

समाधान। पूर्वोक्त रीतिसे वर्ण विषयक प्रत्यभिज्ञाके निश्चित हुये जो वर्णोंमें वैचित्र्यबुद्धि होती है; सो कण्ठ तालु आदिक देशके साथ कोष्ठमें स्थितवायुके जो वर्णोंके अभिव्यञ्जक विचित्र संयोग तथा विभाग हैं तिन संयोग विभाग

रूप उपाधियोंसे होती है; स्वरूपनिमित्तक नहीं है। अर्थात् जैसे घटाकाश मठाकाशका भेदविषयक जो प्रत्यय है सो औपाधिक है। तैसे ही वर्णका भेद विषयक जो प्रत्यय है सो भी औपाधिक है।

और "कल्पना गौरवसे भी वर्णोंमें स्वतः भेद नहीं है" इस अर्थको अब भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं--'**अपि च**' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ--किञ्च वर्णरूप व्यक्तियोंके भेदकी कल्पना करनेवाला जो वादी है तिसको भी प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धिके लिये अनन्त गकारादिक व्यक्तियोंमें गत्वादिक जातियोंकी कल्पना करनी पड़ेगी, तथा एक एक गत्वादिक जातिमें उपाधि करके उदात्तत्वादिक भेद प्रत्ययकी कल्पना करनी पड़ेगी। इस गौरवग्रस्त कल्पनासे; वर्णरूप व्यक्तिमें ही उपाधि प्रयुक्त भेदप्रत्ययकी, तथा स्वरूप निमित्तक प्रत्यभिज्ञाकी कल्पना करनेमें लाघव है इति।

शंका। वर्णोंका भेदविषयक प्रत्यय, बाधकका अभाव होनेसे औपाधिक नहीं बन सकता है।

समाधान। वर्णोंका भेदविषयक जो प्रत्यय है तिसका बाधक 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा ही है।

शंका। यदि गकारादिक वर्ण प्रत्युच्चारण एक ही है तो एक कालमें उच्चारण करनेवाले बहुत पुरुषोंको विद्यमान हुये एक ही गकार युगपत् अनेकरूप किस प्रकार होवेगा?

समाधान। उदात्तत्व, अनुदात्तत्व, स्वरितत्व, सानुनासिकत्व, निरनुनासिकत्वरूप धर्मके भेद करके एक ही गकार अनेकरूपसे एक कालमें प्रतीत होता है अर्थात् भेदप्रतीति औपाधिक है।

जो पूर्व कहा था कि "कण्ठ तालु आदिकोंके साथ जो वर्णाभिव्यञ्जक विचित्र संयोग विभाग हैं तिनोंका धर्म जो उदात्तत्वादिकरूप वैचित्र्य है सो ही व्यंग्य वर्णोंमें प्रतीत होता है" सो भी असङ्गत है। क्योंकि वायुके संयोग विभागोंको अतीन्द्रिय होनेसे संयोगादिगत वैचित्र्यका वर्णोंमें प्रत्यक्ष आरोप नहीं बन सकता है? इस अरुचिके हुये सिद्धान्ती प्रकारान्तरसे समाधानको कहते हैं--'**अथवेति**' इत्यादि भा०। वर्ण विषयक जो प्रत्ययका भेद है सो ध्वनिकृत है, विचित्र संयोगविभागादि कृत नहीं है अतः कोई दोष नहीं है। अर्थात् ध्वनिके जो उदात्तत्वादिक धर्म हैं सो ध्वनिके साथ अभेद अध्यास करके वर्णोंमें प्रतीत होते हैं। स्वतः वर्णोंका भेद नहीं है।

अब '**कः पुनः**' इत्यादि भाष्यसे प्रश्नपूर्वक ध्वनिके स्वरूपको कहते हैं।

शंका। ध्वनिका क्या स्वरूप है?

समाधान। कोई पुरुष पढ़ता है और उस पुरुषसे दूर देशमें स्थित पुरुषके कर्णमें वर्णविवेक रहित जो शब्द प्राप्त होता है सो ध्वनि है। अर्थात्

वर्णसे भिन्न जो शब्द है सो ध्वनि है। और शब्दके समीपमें आये हुये पुरुषको वर्णोंमें, तारत्व मन्दत्वादिरूप स्वगत धर्मोंका ध्वनि ही आरोप कराती है। तथा ध्वनिके अधीन ही वर्णोंमें उदात्तत्वादिक विशेष हैं वर्णस्वरूपके अधीन नहीं हैं।

शंका। अव्यक्त जो वर्ण हैं सोई ध्वनि है, वर्णोंसे अतिरिक्त ध्वनि नहीं है।

समाधान। यदि अव्यक्त वर्णोंको ही ध्वनि कहोगे तो अवाचिक जपमें जो अव्यक्त वर्ण हैं तिन वर्णोंमें ध्वनिबुद्धि होनी चाहिये, तथा शब्दत्वमात्र करके गृह्यमाण जो दुन्दुभि आदिकका शब्द है तिसमें 'यह अव्यक्त वर्ण है' ऐसी बुद्धि होनी चाहिये; परन्तु होती नहीं। अतः हरेक उच्चारणमें वर्णोंको प्रत्यभिज्ञायमान होनेसे वर्ण भेदरहित हैं। तथा व्यक्ताव्यक्त वर्णोंसे ध्वनि भिन्न है। अर्थात् हरेक उच्चारणमें वर्णोंकी अनुवृत्ति और ध्वनिकी व्यावृत्ति अनुभवसिद्ध है। इस पूर्वोक्त रीतिसे ध्वनिकृत प्रत्ययभेदके अङ्गीकार हुये उदात्तादि विषयक जो प्रत्यय हैं। तिनके आलम्बनकी उपपत्ति बन सकती है। अर्थात् उदात्तत्वादिका आश्रय ध्वनि है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो उदात्तत्वादिक प्रत्यय वर्णनिमित्तक तो हो सकते नहीं, क्योंकि वर्ण भेदरहित एक है। किन्तु संयोग विभाग निमित्तक मानने पड़ेंगे। तहां वायुके संयोगोंमें श्रावण प्रत्यक्षकी विषयता न होनेसे संयोगादिकोंमें जो उदात्तत्वादिक धर्मविशेष मानोगे सो धर्मविशेष वर्णोंमें आरोपण करनेको अशक्य होवेंगे। अतः उदात्तादि विषयक प्रत्यय निरालम्बन हो जावेंगे। इसलिये श्रावण ध्वनि ही उदात्तत्वादिक धर्मोंके वर्णमें आरोपकी उपाधि है। संयोगादिक नहीं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि— तारत्वमन्दत्व उदात्तत्वादिक विरुद्ध धर्मवाले ध्वनियोंके भेद हुये भी ध्वनियोंमें अनुगत जो वर्ण हैं सो भेद रहित हैं इति।

अब इसी अर्थको दृढ़ करते हैं:— **'अपिच'** इत्यादि भा०। किञ्च स्फोटवादीको ऐसा अभिनिवेश नहीं करना चाहिये कि—"उदात्तादिकोंके भेद करके प्रत्यभिज्ञाके विषयरूप वर्णोंका भी भेद होवेगा" क्योंकि अन्यके भेदसे अभिद्यमान जो अन्य है तिसका भेद नहीं हो सकता है। जैसे खण्ड मुण्डादिक विरुद्ध गोव्यक्तियोंके भिन्न भिन्न हुये भी गोत्वजातिको भिन्न भिन्न नहीं मानते हैं, किन्तु अभिन्न एक ही मानते हैं। तैसे उदात्तत्वादिक विरुद्ध धर्म विशिष्ट ध्वनिको भिन्न भिन्न हुये भी वर्ण अभिन्न एक ही है। किञ्च जब प्रत्यक्ष वर्णोंसे ही अर्थकी प्रतीति बन सकती है तब विवादग्रस्त स्फोटकी कल्पना व्यर्थ है।

शंका। हम स्फोटकी कल्पना नहीं करते हैं किन्तु इस स्फोटका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। क्योंकि जैसे नेत्रके द्वारा दर्पणके योगसे बुद्धिमें प्रतिबिम्बका भान होता है। तैसे ही श्रोत्रद्वारा वर्णके योगसे एक एक वर्णके अनुभवजन्य संस्कार सहित बुद्धिमें सम्बन्धादिक हेत्वन्तरके विना ही 'एकं पदम्' इस स्फोटरूप पदका शीघ्र ही भान होता है।

समाधान । जिस बुद्धिमें जो अर्थ प्रतीत होता है तिस अर्थमें ही सो बुद्धि प्रमाणरूप होती है । प्रसङ्गमें एक एक वर्णके ग्रहणसे उत्तर कालमें जो 'इयमेका गौः' यह बुद्धि है सो गकारादिक समस्त वर्णविषयक ही है, वर्णोंसे अतिरिक्त स्फोट विषयक नहीं है । अतः यह बुद्धि वर्णोंमें ही प्रमाण है स्फोटमें नहीं ।

शंका । 'एकं पदम्' यह बुद्धि—"वर्णविषयक ही है स्फोट विषयक नहीं है" यह निश्चय किस प्रकार करते हो ।

समाधान । 'इयं गौः' इस बुद्धिमें गकारादिक वर्णोंका ही अनुवर्तन होता है । अर्थात् गकारादिकोंका ही भान होता है दकारादिकोंका नहीं । अतः यह बुद्धि स्फोटमें प्रमाण नहीं हो सकती है ।

शंका । पूर्वोक्त बुद्धिका विषय स्फोट ही है, और गकारादिक वर्णोंको अभिव्यञ्जक होनेसे गकारादिक वर्णोंकी अनुवृत्ति होती है ।

समाधान । यदि इस बुद्धिका विषय गकारादिक वर्णोंसे भिन्न स्फोट मानोगे तो जैसे दकारादिक इस बुद्धिसे व्यावृत्त होते हैं अर्थात् निवृत्त होते हैं, तैसे गकारादिक भी व्यावृत्त होवेंगे । परन्तु ऐसा तो होता नहीं ।

किञ्च ऐसा नियम भी नहीं है कि—"व्यङ्ग्यबुद्धिमें व्यञ्जककी अनुवृत्ति होवे" क्योंकि व्यङ्ग्य वह्निविषयक जो बुद्धि है तिस बुद्धिमें व्यञ्जक धूमकी अनुवृत्ति नहीं देखनेमें आती है । अतः 'इयं गौः' यह जो एक बुद्धि है सो गकारादिक वर्णविषयक ही समूहालम्बनरूप स्मृति है । तथा च वर्णरूप ही पद है स्फोटरूप नहीं । और वर्णसे अतिरिक्त स्फोटको माननेमें गौरव दोष भी है । अतः स्फोटरूप पद नहीं है ।

शंका । वर्णोंके अनेक होनेसे एक बुद्धिकी विषयता नहीं बन सकती है ऐसा हम पूर्व कह आये हैं ।

समाधान । अनेकोंमें भी एक बुद्धिकी विषयता बन सकती है जैसे पङ्क्तिः, वनं, सेना, दश, शतं, सहस्रम्, इत्यादिक स्थलोंमें अनेक विषयक एक बुद्धि देखनेमें आती है । तैसे ही 'गौरित्येकं पदम्' यह जो अनेक वर्णविषयक बुद्धि है सो भी एक अर्थरूप अवच्छेदकके अधीन है । अर्थात् 'एकार्थे शक्तमेकं पदम्' 'वाक्यार्थरूप एकस्मिन् प्रधानार्थे तात्पर्यवदेकं वाक्यम्' यहां एक अर्थके सम्बन्धसे एकत्वका उपचार होता है इति ।

शंका । वर्णोंके साम्य हुये भी पदका भेदविषयक दर्शनके होनेसे स्फोटरूप पदका अङ्गीकार अवश्य करना चाहिये; क्योंकि यदि सामस्त्यरूप करके वर्ण ही एक बुद्धिकी विषयताको प्राप्त हुये पद होवेंगे तो 'जारा, राजा, कपिः, पिकः' यहां 'जारा' तथा 'कपिः' इन वर्णोंको ही 'राजा' 'पिकः' इस ज्ञानमें प्रतीयमान होनेसे पदभेदविषयक प्रतीति नहीं होवेगी ।

समाधान । जैसे "यह पिपीलिकाकी पङ्क्ति है" इस बुद्धिके क्रमानुरोधिनी पिपीलिका ही विषय हैं, केवल पिपीलिका नहीं; तैसे वर्णोंके अविशेष हुये भी क्रमानुरोधी वर्ण ही पदबुद्धिके विषय हैं। अतः क्रमविशेषकृत पदविशेषकी प्रतीतिमें कोई विरोध नहीं है।

शंका । नित्य व व्यापक वर्णोंमें "इतनी संख्यावाले और इस क्रमवाले वर्णोंका यह पद, इस अर्थका बोधक है" इत्यादि विशेषबुद्धि कैसे बन सकेगी। क्योंकि निरवयव व विभु वर्णोंमें क्रम व संख्यादि विवेक बने नहीं ?

समाधान । **'वृद्धव्यवहारे'** इत्यादि भा०। अर्थात्—**'यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादकाः । वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ॥'** 'घटमानय' 'इयं गौ वर्तते' इत्यादिक व्युत्पत्तिकालीन वृद्धव्यवहारमें; उच्चारणक्रमसे जन्य उपलब्धिक्रमको उपलभ्यमान वर्णोंमें आरोप करके, घवर्णके उत्तर अकार तदुत्तर टकार इस क्रमवाले, तथा इतनी संख्यावाले, तथा इस अर्थमें शक्तिवाले, इस प्रकार गृहीत है क्रम, संख्या, सम्बन्ध जिनोंके ऐसे जो वर्ण हैं; सो श्रोता पुरुषकी प्रवृत्तिकालमें भी एक एक वर्णके ग्रहणसे अनन्तर समस्त वर्णविषयक जो बुद्धि है तिस बुद्धिमें तैसे ही भासमान हुये, अर्थात् स्मृतिमें आरूढ़ हुये, तत् तत् अर्थको नियमसे बोधन कर सकते हैं इति।

अब स्थायिवर्णवादकी समाप्तिको दिखाते हैं—**'इति वर्णवादिनः'** इत्यादि भा०। इस प्रकारसे वर्णवादीके मतमें वर्णोंमें अर्थबोधकत्वकी कल्पनाका लाघव है। और स्फोटवादीके मतमें दृष्टकी हानि तथा अदृष्टकी कल्पना होगी। अर्थात् दृष्ट जो वर्णोंमें अर्थका बोधकत्व है तिसकी हानि; तथा क्रम करके गृह्यमाण जो वर्ण हैं सो स्फोटके व्यञ्जक हैं, और व्यङ्ग्य जो स्फोट है सो अर्थका बोधक है, इस प्रकारकी जो अदृष्ट स्फोटकी कल्पना है; सो गौरवग्रस्त है इति।

अब वर्णोंको अनित्य मानके भी प्रौढिवाद करके स्फोटका खण्डन करते हैं— **'अथापि'** इत्यादि भा०। अर्थात् यदि प्रति उच्चारणमें वर्णोंकी उत्पत्ति व नाशका अनुभव होनेसे वर्ण भिन्न भिन्न व अनित्य ही होवेंगे, तो 'सोऽयं गकारः' इत्यादिक प्रत्यभिज्ञाका आलम्बनरूप करके गत्वादिक सामान्यका अङ्गीकार अवश्य करना पड़ेगा। अतः जो वर्णोंमें अर्थप्रतिपादनकी प्रक्रिया कही है; सोई गत्वादिक सामान्योंमें सञ्चार करनेको योग्य है। अर्थात् नित्य तथा क्रमविशेषवाले तथा गृहीत सङ्गतिवाले अर्थके बोधक जो क्लृप्त सामान्य हैं, तिन सामान्योंमें ही पूर्वोक्त प्रक्रियाका सञ्चार करनेको योग्य है; अक्लृप्त स्फोटकी कल्पना करनेको योग्य नहीं है इति।

पूर्वोक्त रीतिसे वर्णोंमें स्थायित्व तथा वाचकत्वके सिद्ध हुये फलित अर्थको कहते हैं—**'ततश्च'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—देवतादिकोंके वाचक नित्य वर्णरूप शब्दोंसे ही

देवादिक विग्रहोंकी उत्पत्ति होती है यह सिद्ध हुवा इसमें कोई विरोध नहीं है इति॥ २८॥

अब पूर्व जगत्में जो शब्दजन्यत्वको कहा है तिस शब्दजन्यत्वका आश्रयण करके शब्दमें नित्यत्वको दिखाते हैं:—

अत एव च नित्यत्वम्॥ २९॥

अर्थ—१ अतः, २ एव, ३ च, ४ नित्यत्वम्। इस सूत्रमें चार पद हैं। नियत आकृतिवाले देवादिक जगत्का वेदशब्द करके प्रभव होनेसे वेदशब्द नित्य अर्थात् यावत् काल स्थायी है इति।

शंका। पूर्वमीमांसामें ही वेदशब्दविषे नित्यत्वको सिद्ध होनेसे यहां वेदमें नित्यत्वका साधन अयुक्त है।

समाधान। पूर्वमीमांसामें वेदके स्वतन्त्र कर्ताका स्मरण न होने आदिक हेतुवोंसे वेदमें नित्यत्वके सिद्ध हुये भी "देवादिक व्यक्तियोंकी उत्पत्तिका अङ्गीकार होनेसे देवादिकोंके वाचक इन्द्रादिक शब्दोंकी सृष्टि भी अवश्य माननी होगी, अतः वेदमें नित्यत्व नहीं बन सकता है" इस विरोधकी आशंकाको 'अतः प्रभवात्' इस सूत्रसे दूर करके नित्य आकृतिवाचक वैदिकशब्दोंसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है इस प्रकार सिद्ध कर आये हैं। अब पूर्वमीमांसा करके सिद्ध जो वेदमें नित्यत्व है तिस नित्यत्वको अनुमान करके यह सूत्र दृढ़ करता है। तहां अनुमान—'वेदोऽवान्तरप्रलयावस्थायी, जगद्धेतुत्वात्, ईश्वरवत्'। अर्थ—जैसे ईश्वररूप दृष्टान्तमें जगत्का हेतुत्वरूप हेतु है, और अवान्तर प्रलयमें अवस्थायित्वरूप साध्य है। तैसे वेदरूप पक्षमें जगत्का हेतुत्वरूप हेतु है। अतः प्रलयकालमें अवस्थायित्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति।

इस अर्थमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैं—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्'। अर्थ—पूर्व सुकृत पुण्यकर्म करके वेदके लाभकी योग्यताको प्राप्त हुये जो याज्ञिक पुरुष हैं सो ऋषियोंमें स्थित जो वेदवाणी है तिसको प्राप्त होते भये इति। इस प्रकार यह श्रुति भी अवान्तर कल्पके आदिमें ऋषियों विषे विद्यमान ही वेदवाणीकी उपलब्धिको दिखाती है।

और इसी अर्थको व्यास भगवान् भी कहते हैं—'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा'। अर्थ—अवान्तर प्रलयके अन्तर स्थित जो इतिहासों करके सहित वेद हैं तिन वेदोंको ब्रह्मा करके आज्ञाको प्राप्त हुये महर्षि लोग सृष्टिके आदिमें तप करके प्राप्त होते भये इति॥ २९॥

पूर्व कहा कि—नित्य आकृतिका वाचक शब्द नित्य है, तथा दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य है, और अवान्तर प्रलयमें शब्द रहता है। यह कहना यद्यपि सत्य है

तथापि महाप्रलयमें जातिरूप आकृतिका भी अभाव होनेसे शब्द तथा शब्दका सम्बन्ध अनित्य ही होवेगा? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥३०॥

अर्थ—१ समाननामरूपत्वात्, २ च, ३ आवृत्तौ, ४ अपि, ५ अविरोधः, ६ दर्शनात्, ७ स्मृतेः, ८ च। इस सूत्रमें आठ पद हैं। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादिक श्रुतिसे, तथा 'शर्वयन्ते प्रसूतानाम्' इत्यादिक स्मृतिसे, आवृत्तिमें अर्थात् बारम्बार महाप्रलय तथा महासृष्टिमें भी देवादिक जगत्को समान नामरूपवाला ही होनेसे नित्य शब्दनिष्ठ प्रामाण्यमें कोई विरोध नहीं है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—

शंका। जैसा उत्पत्ति विनाशवाली गवादिक व्यक्तियोंका वर्तमानकालमें अविच्छिन्न प्रवाह दीखता है, ऐसा ही उत्पत्तिविनाशवाले देवमनुष्य पशु आदिक सम्पूर्ण व्यक्तियोंका ही अविच्छिन्न प्रवाह यदि निरन्तर सदा बना ही रहे तो "यह अभिधान है" "यह अभिधेय है" और "यह अभिधाता है" "यह अध्यापक है" "यह अध्येता है" इस व्यवहारका विच्छेद न होनेसे सम्बन्धमें नित्यत्व करके शब्दनिष्ठ अप्रामाण्य रूप विरोधका परिहार हो सकता है। परन्तु जब "सम्पूर्ण जगत्का नामरूप करके रहित निर्लेप प्रलय होता है, अर्थात् स्थूल सूक्ष्म नामरूप व संस्कार प्रलयमें कुछ भी शेष नहीं रहता है, तथा सृष्टिकालमें अभिनव जगत् उत्पन्न होता है" इस अर्थको श्रुति स्मृति आदिक कथन करते हैं, तब विरोधका परिहार नहीं हो सकता है। अर्थात् निर्लेप प्रलयमें शक्ति आदिक सम्बन्धका नाश होनेसे पुनः सृष्टिमें किसी पुरुषको बुद्धि करके "इस अर्थका यह शब्द वाचक है" इत्यादि सङ्केत मानना होगा। यदि ऐसा मानोगे तो पुरुष बुद्धिकी अपेक्षा होनेसे वेदमें निरपेक्ष प्रामाण्य सिद्ध न होगा। तथा अध्यापकरूप आश्रयका नाश होनेसे अध्यापकके आश्रित जो वेद है तिसका भी नाश होवेगा। अतः वेदमें अनित्यत्वकी प्राप्ति होगी इति।

समाधान। 'तत्रेदमभिधीयते' इत्यादि भा०। महाप्रलयमें भी नामरूप रहित निर्लेप प्रलय असिद्ध है; क्योंकि सत्कार्यवादका अङ्गीकार है। अर्थात् महाप्रलयमें यद्यपि अन्तःकरणादिक स्थूलरूपसे विद्यमान नहीं हैं; तथापि सूक्ष्मरूप वासना करके अनिर्वचनीय अविद्यामें विद्यमान ही हैं। तथाच अन्तःकरणादि सम्पूर्ण संसारको संस्कार रूप करके विद्यमान होनेसे जो अनभिव्यक्त शब्द तथा अर्थ तथा सम्बन्ध हैं तिनोंको ही पुनः सृष्टिकालमें अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् जैसे कूर्मके शरीरमें छिपे हुये कूर्मके अङ्ग कूर्मकी देहसे निकलते हैं। अथवा जैसे वर्षाकालके अन्तमें मृद्भावको प्राप्त सूक्ष्म मण्डूकके शरीर मण्डूकवासना करके वासित होनेसे निबिड मेघवर्षणसे स्थूलभावको प्राप्त हुये पुनः मण्डूकभावको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार पूर्व वासना वशसे ईश्वर इच्छा करके सम्पूर्ण जगत्

पूर्वकल्पके सदृश नामरूपवाला ही उत्पन्न होता है। अतः शब्दादिकोंमें अनित्यत्व नहीं बन सकता है। तथा अभिव्यक्त पदार्थोंको पूर्वकल्पके समान नामरूपवाले होनेसे किसी पुरुष करके सङ्केत भी कर्तव्य नहीं है। क्योंकि विषम सृष्टिमें सङ्केतकी अपेक्षा हो सकती है समान सृष्टिमें नहीं।

शंका। सर्व सृष्टिसे प्रथम जो सृष्टि है तिस सृष्टिमें किसीने सङ्केत किया होगा?

समाधान। महासर्ग तथा महाप्रलयकी प्रवृत्ति हुये भी संसार प्रवाहरूपसे अनादि ही स्वीकर्तव्य है। और आचार्य भगवान् भी 'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' इस सूत्र करके संसारमें अनादित्वका प्रतिपादन करेंगे। तथा संसारमें अनादित्व उपपन्न भी हो सकता है और श्रुति स्मृतियोंमें देखनेमें भी आता है।

शंका। संसार अनादि रहो तथा अनादि संसारमें शब्दार्थ सम्बन्ध भी अनादि रहो, तथापि महाप्रलयका व्यवधान होनेसे पूर्वकल्पीय पदार्थोंका अस्मरण हुये सृष्टिके आदिकालमें वेदका अर्थविषयक व्यवहार किस प्रकार होगा?

समाधान। अनादि संसारमें जैसे सुषुप्ति तथा जाग्रत् विषे जगत्का लय तथा उत्पत्तिका श्रवण हुये भी शब्द तथा अर्थ तथा सम्बन्धका स्मरण होनेसे पूर्व प्रबोधकी तरह उत्तर प्रबोधमें भी व्यवहार देखनेमें आता है इसमें कोई विरोध नहीं है। तैसे कल्पान्तरकी उत्पत्ति तथा प्रलयके हुये भी सृष्टिके आदि कालमें पूर्वकल्पीय शब्दादिकोंका स्मरण होनेसे वैदिक व लौकिक व्यवहार बन सकता है।

इस प्रलय प्रभवरूप अर्थमें कौषीतकि श्रुतिको दिखाते हैं—**"यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति"** इत्यादि। अर्थ—जिस कालमें सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुवा यह जीव किसी स्वप्नको नहीं देखता है तिस सुषुप्ति कालमें यह जीव इस प्राणरूप परमात्मामें ही अभेदको प्राप्त होता है। तथा सम्पूर्ण नामों करके सहित वाक् इन्द्रिय भी प्राणरूप आत्मामें ही लयभावको प्राप्त होती है। तथा सर्व रूपों करके सहित चक्षु भी, तथा सम्पूर्ण शब्दों करके सहित श्रोत्र भी, तथा सर्व ध्यानों करके सहित मन भी, प्राणरूप परमात्मामें ही लयभावको प्राप्त होते हैं। और जब जाग्रत् अवस्थाको यह जीव प्राप्त होता है, तब जैसे प्रज्वलित अग्निसे विस्फुलिङ्ग सर्व दिशावोंमें प्राप्त होते हैं। तैसे इस आत्मासे ही सम्पूर्ण इन्द्रियरूप प्राण अपने २ गोलकरूप स्थानोंको प्राप्त होते हैं। तथा इन्द्रियरूप प्राणोंसे अनन्तर सूर्यादिक देवता प्रादुर्भावको प्राप्त होते हैं। तथा देवतावोंसे लोक उत्पन्न होते हैं इति*।

---

* टि०—वस्तुतः स्वप्नकी तरह कल्पितकी अज्ञात सत्ताके न होनेसे "अन्यथा दर्शनका नाम सृष्टि, और अदर्शनका नाम लय" यह दृष्टिसृष्टि पक्ष श्रुतिमें अभिप्रेत है।

शंका। इस श्रुतिमें प्रलय प्रभवका श्रवण रहो। परन्तु सुषुप्ति कालमें सर्व प्राणियोंकी युगपत् सुषुप्ति नहीं होती है; किन्तु अन्य कोई पुरुष जागते भी रहते हैं। तथाच अन्य सर्व पुरुषोंके व्यवहारका उच्छेद नहीं होता है। और संस्कारनाशक मरण व विप्रकृष्ट कालका व्यवधान न होनेसे स्वयं भी सुप्तोत्थित पुरुषको व्युत्थान कालमें पूर्व जाग्रत् व्यवहारकी स्मृति पूर्वक शब्द व अर्थ व सम्बन्धका व्यवहार बन सकता है। अतः दृष्टान्तमें कोई विरोध नहीं है। परन्तु यह सुषुप्तिरूप दृष्टान्त सिद्धान्तमें विषम है। क्योंकि जैसे संस्कारनाशक मरण व अति अधिक कालके व्यवधान होनेसे जन्मान्तरके व्यवहारका स्मरण नहीं होता है; तैसे ही महाप्रलयमें सम्पूर्ण व्यवहारका अभाव होनेसे कल्पान्तरके व्यवहारका स्मरण भी नहीं हो सकता है।

समाधान। 'नैष दोषः' इत्यादि भा०। अर्थ—यह पूर्वोक्त वैषम्यरूप दोष नहीं बन सकता है; क्योंकि महाप्रलयमें सम्पूर्ण व्यवहारके उच्छेद हुये भी परमेश्वरके अनुग्रहसे हिरण्यगर्भादिरूप ईश्वरोंको कल्पान्तरके व्यवहारका स्मरण हो सकता है इति।

शंका। जैसे अस्मदादिकोंको संसारी होनेसे पूर्वकल्पके व्यवहारका अनुसन्धान नहीं बन सकता है, तैसे हिरण्यगर्भादिकोंको भी संसारी होनेसे पूर्वकल्पके व्यवहारका अनुसन्धान नहीं बन सकता है।

समाधान। यद्यपि प्राकृत प्राणी जो हैं सो जन्मान्तरके व्यवहारका अनुसन्धान करते हुये नहीं देखनेमें आते हैं, तथापि हिरण्यगर्भादिकोंको ऐसा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि ज्ञानादिकोंमें निकर्षकी तरह उत्कर्ष भी अङ्गीकार करनेके योग्य है। जैसे प्राणित्वके अविशेष हुये भी मनुष्योंसे लेकर स्तम्ब पर्यन्त प्राणियोंमें ज्ञान ऐश्वर्य आदिकोंका निकर्ष नीचे २ अधिक २ देखनेमें आता है। अर्थात् मनुष्योंके ज्ञान ऐश्वर्यकी अपेक्षासे पशुओंका ज्ञान ऐश्वर्य निकृष्ट है। इसी प्रकार आगे भी स्तम्ब पर्यन्त जानना। तथा मनुष्यसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त उत्तर उत्तर प्राणियोंमें भी पूर्व पूर्वकी अपेक्षासे ज्ञान ऐश्वर्यादिकोंमें उत्कर्ष उत्तरोत्तर अधिक २ देखनेमें आता है। अतः श्रुति स्मृतियोंमें अनेकवार श्रूयमाण निकर्ष उत्कर्षका निषेध नहीं कर सकते हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे हिरण्यगर्भादिकोंमें ज्ञानादिकोंका उत्कर्ष होनेसे महाप्रलयके अनन्तर कल्पमें भी पूर्वकल्पके व्यवहारका अनुसन्धान बन सकता है। इति।

शंका। पूर्वकल्पके हिरण्यगर्भादिक ईश्वरोंको उत्तर सृष्टिमें मुक्त हो जानेसे इस कल्पमें अनुसन्धान करनेवाला कौन है?

समाधान। अतीत कल्पमें अनुष्ठित हैं प्रकृष्ट ज्ञान कर्म जिनोंके ऐसे जो परमेश्वरके अनुग्रह करके अनुगृहीत तथा इस कल्पके आदिमें हिरण्यगर्भादिरूप करके प्रादुर्भावको प्राप्त हुये ईश्वर हैं तिनोंमें ही ज्ञानके उत्कर्षसे सुप्त प्रतिबुद्ध पुरुषकी तरह कल्पान्तरके व्यवहारका अनुसन्धान बन सकता है। इस कहनेसे यह सिद्ध

हुवा कि पूर्वकल्पमें मुक्त जो हिरण्यगर्भादिक हैं तिनोंसे भिन्न ही हिरण्यगर्भादिक इस कल्पके आदिमें अनुसन्धान करनेवाले हैं। अर्थात् अवशिष्ट जीवसमुदायमें जिस जीवका सर्वोत्कृष्ट ज्ञान व कर्म होता है। सो ही सृष्टिके आदिमें हिरण्यगर्भ होता है। इसी तरह विराट् आदिकी उत्पत्ति भी अधिकारके अनुसार ही होती है।

और अब परमेश्वर करके अनुगृहीत हिरण्यगर्भादिकोंमें ज्ञानादिके अतिशयकी प्रतिपादक श्रुति स्मृतियोंको दिखाते हैं—तहां श्रुतिः-'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'। श्वे०। अर्थ—जो परमात्मा कल्पके आदिमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है। तथा जो तिस ब्रह्माकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव करता है। तिस प्रत्यक् स्वरूप, तथा महावाक्यजन्य बुद्धिमें प्रकाशमान, तथा अभय स्थान अर्थात् निश्रेयसरूप परमात्माकी शरणको मैं मुमुक्षु प्राप्त होता हूं इति।

केवल एक हिरण्यगर्भमें ही ज्ञानका अतिशय है सो वार्ता नहीं है; किन्तु शाखावोंके द्रष्टा बहुतसे ऋषियोंमें भी ज्ञानका अतिशय है; इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं—'स्मरन्ति च' इत्यादि भा०। अर्थ—शौनकादि ऋषियोंने स्मृतिमें कहा है कि—दाशतय्य रूप ऋचावोंको मधुच्छन्द प्रभृति ऋषियोंने देखा है इति। दशमण्डलरूप अवयववाला जो ऋग्वेद है तिस ऋग्वेदमें स्थित जो ऋचा हैं तिनोंका नाम दाशतय्य है। तथा बोधायनादिक ऋषियोंने भी प्रत्येक वेदके काण्ड, सूक्त व मन्त्रोंके द्रष्टावोंका स्मरण किया है इति।

और श्रुति भी ऋषि आदिकोंके ज्ञानपूर्वक ही मन्त्र करके अनुष्ठानको दिखाती हुई मन्त्रके द्रष्टा ऋषियोंमें ज्ञानके अतिशयको दिखाती है—तहां श्रुतिः— 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' इत्युपक्रम्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्।' अर्थ—अविदित है 'आर्षेय' कहिये ऋषिसम्बन्ध, तथा 'छन्दः' कहिये गायत्री आदिक, 'दैवत' कहिये अग्नि आदिक, 'ब्राह्मण' कहिये विनियोग जिसका ऐसा जो मन्त्र है तिस मन्त्र करके जो पुरुष यजन करता है, तथा अध्यापन करता है, सो पुरुष स्थावरभावको अथवा नरकको प्राप्त होता है। ऐसा उपक्रम करके आगे कहा है कि-अतः मन्त्र मन्त्रमें इन ऋषि सम्बन्धादिकोंको अवश्य जाने इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि—ज्ञानादिकोंमें अतिशयवाले हिरण्यगर्भादिकोंको ही कल्पान्तरमें स्थित वेदका स्मरण करके व्यवहारका प्रवर्तक होनेसे वेदमें अनादित्व तथा अनपेक्ष प्रामाण्य अविरुद्ध है इति।

अब समान नामरूपत्वके प्रपञ्चको दिखाते हैं—'प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते। दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते।' इत्यादि भा०। अर्थ— प्राणियोंके सुखके लिये वेद धर्मका विधान करता है। तथा दुःखकी निवृत्तिके लिये अधर्मका प्रतिषेध करता है इति। इस कहनेसे यह बोधन किया कि—ऐहिक तथा

आमुष्मिक सुख तथा सुखका साधनविषयक ही राग होता है। और दुःख तथा दुःखका साधनविषयक ही द्वेष होता है। इनसे विलक्षण विषयक नहीं। और सुख तथा सुखके साधनविषयक राग करके जन्य जो सुकृत कर्म हैं तिन करके जन्य दृष्ट सुख तथा दृष्ट सुखके साधन पशु आदिकोंके समान ही सुख तथा सुखके साधन पशु आदिक प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार दुःख तथा दुखके साधनविषयक द्वेष करके जन्य जो अधर्म है तिस करके जन्य दृष्ट दुःख तथा दृष्ट दुःखके साधनोंके समान ही दुःख तथा दुःखके साधन प्राप्त होते हैं। अतः धर्माधर्मका फलरूप जो उत्तर उत्तर सृष्टि है सो पूर्व पूर्व सृष्टिके सदृश ही उत्पन्न होती है इति।

तहां स्मृतिः—'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।' इत्यादि। अर्थ—प्राणियोंके मध्यमें जो २ प्राणी पूर्व सृष्टिके विषे जिन जिन कर्मोंको प्राप्त होते हैं; उत्तर उत्तर सृष्टिमें भी वारम्वार सृज्यमान हुये सो २ प्राणी तत् २ जातीय कर्मको ही प्राप्त होते हैं इति। अर्थात् हिंसा, क्रूरता, अधर्म, अनृत आदिकोंकी भावना करके भावित जो प्राणी हैं सो हिंसादिकोंमें ही प्रवृत्त होते हैं। और अहिंसा, मृदुता, धर्म, सत्य आदिकोंकी भावना करके भावित जो प्राणी हैं सो अहिंसादिकोंमें ही प्रवृत्त होते हैं। और संस्कारके वशसे ही पुण्य तथा पाप अच्छा लगता है इति।

कर्म करके सृष्टिमें सादृश्यको कहकर अब स्वउपादानमें लीन जो कार्य हैं तिन कार्योंके संस्काररूप शक्तिके बलसे भी सादृश्यको कहते हैं—'प्रलीयमानमपि' इत्यादि भा०। अर्थ—प्रलयमें स्थूल सूक्ष्म निखिल जगत्के विलय होने पर भी जगत्की सूक्ष्म संस्काररूप शक्ति कूर्मके अङ्गोंकी तरह प्रकृतिमय होकर प्रकृतिमें रहती है इति। तथा च प्रलयकालमें जब यह सम्पूर्ण जगत् प्रलयको प्राप्त होता है तब संस्काररूप जगत्की शक्तिका विलय नहीं होता है, किन्तु शक्ति शेष रह जाती है। और सृष्टिकालमें पुनः शक्तिमूलक ही यह जगत् उत्पन्न होता है। यदि संस्काररूप शक्तिका भी प्रलय मानें तो जगत्में जो वैचित्र्य है तिसमें आकस्मिकत्वका प्रसङ्ग होगा। अर्थात् कारण विना ही कार्यमें वैचित्र्य मानना होगा।

शंका। जगत्में वैचित्र्यके कारण संस्कारोंसे भिन्न शक्तियोंको मानना चाहिये।

समाधान। अविद्यारूप उपादान कारणमें लीन कार्य स्वरूप संस्कारसे भिन्न अनेक शक्तियोंकी कल्पना नहीं कर सकते हैं। क्योंकि ऐसी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है तथा गौरव भी है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे कार्यके संस्कारोंको सिद्ध हुये फलित अर्थको शंकापूर्वक दिखाते हैं—

शंका। हिरण्यगर्भादिकोंको कल्पान्तरके व्यवहारकी स्मृति रहो। परन्तु

"प्रलयमें संस्कारशेष रहते है" इसमें कोई दृष्टान्त नहीं है। अत इस सृष्टिको अपूर्व होनेसे इस सृष्टिमें पूर्व सृष्टिके वेद नहीं हैं, किन्तु अन्य ही हैं। और इनके अर्थ भी अन्य ही हैं। एवं वर्णाश्रमके धर्म भी अन्य ही हैं। और धर्मसे दुःख होता है। और अधर्मसे सुख होता है। और दुःख इष्ट है सुख अनिष्ट है। तथा च कल्पान्तरके व्यवहारका अनुसन्धान अकिञ्चितकर है। अतः पूर्व कल्पके व्यवहारका उच्छेद हो जानेसे, और पूर्व कल्पके विसदृश सृष्टिके प्रादुर्भाव होनेसे, शब्द व अर्थका सम्बन्ध व वेद अनित्य ही हैं।

समाधान। 'ततश्च' इत्यादि भा०। जैसे सुषुप्तिसे उठे हुये पुरुषका पूर्व चक्षुके सजातीय ही चक्षु उत्पन्न होता है,तथा रूपत्व जातिवाले रूपको ही ग्रहण करता है रसादिकोंको नहीं; तैसे ही वारम्वार उद्भवको प्राप्त होनेवाले जो भूरादिक लोकोंका प्रवाह है, तथा देव, तिर्यङ्, मनुष्यादिक प्राणिसमूहका प्रवाह है; तथा वर्णाश्रमधर्मफलोंकी व्यवस्था है, तिनों विषे अनादि संसारमें नियतत्व ही जाननेको योग्य है। अर्थात् भोग्य जो लोक हैं, भोगका आश्रय जो प्राणियोंका समूह है, तथा भोगके हेतु जो कर्म हैं, सो सर्व संस्कारके बलसे पूर्व सृष्टिके तुल्य ही होते हैं यह नियम है।

यदि वादी कहे कि "पूर्व जो चक्षुका दृष्टान्त कहा है सो असिद्ध है" सो कहना बने नहीं, क्योंकि सर्गसर्गके प्रति इन्द्रिय विषय सम्बन्धादिविषयक व्यवहारमें अन्यथात्वकी उत्प्रेक्षा (कल्पना) करनेको अशक्य है। अर्थात् किसी सृष्टिमें भी षष्ठ ज्ञानेन्द्रिय नहीं है। और छठा ज्ञान इन्द्रियका असाधारण विषय भी नहीं है। और जो सुखादिक हैं सो भी मनके असाधारण विषय नहीं हैं। किन्तु साक्षी करके वेद्य हैं। पूर्व २ सर्गके समान नामरूप सामर्थ्यादिवाले ही उत्तर २ सर्गमें पदार्थ होते हैं। क्योंकि कदाचित् भी किसीको दुःख इष्ट नहीं हो सकता है। एवं सुख अनिष्ट नहीं हो सकता है। और धर्म व अधर्मकी शक्तिका विपर्यय भी नहीं हो सकता है। मृत्पिण्डसे पट नहीं हो सकता है। तन्तुसे घट नहीं हो सकता है। अन्यथा वस्तुसामर्थ्यकी अव्यवस्था होनेसे सर्व वस्तु सर्वसे होनी चाहिये। पिपासुकी भी दहनसे पिपासा शान्त होनी चाहिये। एवं शीत जलसे भी शीतार्तकी शीतार्तिकी निवृत्ति होनी चाहिये। अतः सृष्ट्यन्तरमें भी ब्रह्महत्यादिक अनर्थके ही हेतु होते हैं। और यज्ञदानादिक अर्थके ही हेतु होते हैं। जो वेद पूर्व सृष्टिमें थे वही इस कल्पमें भी हैं। वही इनके अर्थ हैं। और वर्णाश्रमके धर्म भी वही हैं। अतः सर्व कल्पोंको तुल्य व्यवहारवाला होनेसे तथा हिरण्यगर्भादिक ईश्वरोंमें कल्पान्तरीय व्यवहारके अनुसन्धानका सामर्थ्य होनेसे प्रति सृष्टिमें समान नामरूपवाले ही व्यवह्रियमाण व्यक्तिविशेष प्रादुर्भावको प्राप्त होते हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि प्रतिसर्गमें जगत्को समान नामरूपवाला होनेसे वारम्वार महासर्ग तथा महाप्रलयरूप आवृत्तिके स्वीकारमें भी शब्दनिष्ठ प्रामाण्यमें कोई विरोध नहीं है इति।

और प्रतिसृष्टिमें समान नामरूपताको श्रुति तथा स्मृति भी दिखाती हैं— 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरीक्षमथो स्वः'। अर्थ—जैसा पूर्व कल्पमें सुर्य चन्द्रमा आदिक जगत् था तैसा ही इस कल्पमें भी परमेश्वर करता भया इति। 'अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानां स्याम्' 'स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्'। अर्थ—यहां भविष्यद् दृष्टि करके अग्नि शब्दका अर्थ यजमान जानना, यजमानरूप अग्नि ऐसी कामना करता भया कि—हम देवोंके मध्यमें अन्नादरूप अर्थात् अग्नि स्वरूप होवें; पश्चात् सोई यजमानरूप अग्नि कृत्तिका नक्षत्रके अभिमानी अग्नि देवको उद्देश्य करके आठ कपालोंमें पकी हुई हविका हवन करता भया। अथवा अष्ट हैं कपाल कहिये अवयव जिसका ऐसा जो पुरोडाश है तिसको हवन करता भया इति। यह श्रुति नक्षत्रइष्टि विधिमें हवनको करनेवाला जो यजमानरूप अग्नि है तथा जिस अग्निको हवि दी गयी है, इन दोनों अग्नियोंमें समान नामरूपताको दिखाती है। इसी प्रकार—'मित्रो वा अकामयत चन्द्रमा वा अकामयत' इत्यादिक श्रुति भी पूर्व उत्तर सृष्टिके समान नामरूपतामें उदाहरण देनेको योग्य हैं।

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥ अर्थ—पूर्वकल्पमें जो २ ऋषियोंके नाम रहे, तथा जो २ वेदविषयक साक्षात्काररूप दृष्टि रही, तिनोंको ही ब्रह्मा प्रलयके अन्तमें अर्थात् सृष्टिके आदिकालमें उत्पन्न किये हुये ऋषियोंके प्रति देता है इति।

और—यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥ अर्थ—जैसे इससृष्टिमें जो २ वसन्त ऋतुके लिङ्ग नवपल्लवादिक हैं तथा अन्य ऋतुवोंके भिन्न भिन्न अनेक लिङ्ग हैं सो २ ही घटीयन्त्रकी तरह आवृत्तिबोधक श्रुति स्मृतियों विषे भी देखनेमें आते हैं। अर्थात् 'युगादिषु' उत्तर २ सृष्टिमें भी पूर्व २ सृष्टिके तुल्य ही नवपल्लवादिक 'भाव' पदार्थ होते हैं इति।

और—'यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह। देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥' अर्थ—पूर्व कल्पमें जो २ इन्द्रियादिकोंके अभिमानी सूर्यादिक देव रहे सो २ नामरूप करके, वर्तमानमें विद्यमान देवोंके तुल्य ही रहे। तथा इस वक्त विद्यमान जो देव हैं सो भी पूर्व देवोंके तुल्य ही हैं इति। इत्यादिक पूर्वोक्त स्मृतियोंसे भी नामरूप करके समान ही सृष्टि सिद्ध होती है इति॥ ३०॥

पूर्व ग्रन्थसे देवतावोंके उत्पत्ति विनाशवाले शरीरोंके स्वीकार पक्षमें, और पुनः २ सर्ग व प्रलयके स्वीकार पक्षमें, कर्ममें व शब्दमें विरोधकी शंका करके समाधान कर आये हैं। अब 'तदुपर्यपि' इस सूत्रमें "देवादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार

है" यह जो प्रतिज्ञा करी थी इस प्रतिज्ञात प्रकृत विषयमें ही पुनः 'मध्वादि' इत्यादि दो सूत्रोंसे आक्षेप करके 'भावं तु' इस सूत्रसे समाधिको दिखाते हैं:—

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमनिः ॥ ३१ ॥

अर्थ—१ मध्वादिषु, २ असम्भवात्, ३ अनधिकारम्, ४ जैमिनिः । इस सूत्रमें चार पद हैं। जैमिनि ऋषि "देवादिकोंको मधु आदिक विद्यामें अधिकारका असम्भव होनेसे ब्रह्मविद्यामें भी अधिकार नहीं है" ऐसा मानते हैं इति। अर्थात् 'ब्रह्मविद्या, देवान् नाधिकरोति, विद्यात्वात्, मध्वादिविद्यावत्'। अर्थ स्पष्ट है।

अब इस सूत्रके तात्पर्यका वर्णन करते हैं—'ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे' इत्यादि भा०। यदि ब्रह्मविद्यामें देवादिकोंका अधिकार मानोगे तो मधु आदिक विद्यामें भी अधिकार मानना पड़ेगा। क्योंकि विद्यात्वरूप धर्म दोनोंमें समान है। और यदि सिद्धान्ती कहे कि—"मधुविद्यामें भी देवतावोंका अधिकार रहो" तो यह कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्रह्मविद्यामें देवता व ऋषियोंके अधिकारको कहनेवाला सिद्धान्ती प्रष्टव्य है—क्या सामान्यतः सर्व ब्रह्मविद्यावोंमें सर्वका अधिकार है? अथवा यथासम्भव किसी २ विद्यामें किसी २ का अधिकार है? प्रथम पक्षमें मध्वादिक विद्यामें सर्वके अधिकारका असम्भव है।

शंका। असम्भव कैसे है?

समाधान। 'असौ वा आदित्यो देवमधु' इति (छा० ३।१।१)। अर्थ—यह जो आदित्य है सो देवतावोंके मोदका हेतु होनेसे मधुकी तरह मधुरूप है इति। इस आदित्यकी उपासनाको मधुरूपसे अध्यास करके मनुष्य ही कर सकते हैं। अत इस उपासनामें मनुष्यका ही अधिकार है देवतावोंका नहीं। यदि देवतादिकोंका भी अधिकार मानोगे तो आदित्यरूप उपासक अपनेसे भिन्न किस आदित्यकी उपासना करेगा? अर्थात् एक वस्तुमें उपास्य उपासकभाव तथा ज्ञातृज्ञेयभाव तथा प्राप्यप्रापकभाव नहीं बन सकता है इति।

शंका। आदित्यसे भिन्न जो वसु आदिक देवता हैं तिनोंका मधुरूप करके आदित्यकी उपासनामें अधिकार बन सकता है।

समाधान। वसु आदिक देवतावोंको भी ध्येयरूप तथा प्राप्यरूप होनेसे इस उपासनामें अधिकार नहीं है। इस अर्थको दिखाते हैं—'पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य' इत्यादि भाष्यम्। अब इस भाष्यके भावार्थको दिखाते हैं—'असौ वा आदित्यो देवमधु'। यह छान्दोग्य श्रुति आदित्यको देवतावोंके मोदका हेतु होनेसे व कर्मफलात्मक अमृतरूप मधुका आश्रय होनेसे देवमधुरूपसे वर्णन करती है।

और—'तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः'। इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध भ्रामर मधुकी सादृश्य इस देवमधुमें वर्णन करती है—

अर्थात् तिस आदित्यरूप मधुका द्युलोक ही तिरश्चीन वंश है। अर्थात् "अपूपका आधाररूप तिरछा काष्ठ है" इस प्रकार चिन्तन करे। और आदित्यरूप मधुके रहनेका स्थान 'अन्तरिक्षम्' आकाश अपूप (छत्ता) है। और वेद विहित कर्मरूप पुष्प हैं। और कर्मफलात्मक अमृतरूप मधुके साधन जो हवनीय सोम आज्य पयः आदि द्रव्यविशेष हैं; सो अग्निद्वारा अमृतभावको प्राप्त हुये मकरन्द हैं। और लोहित, शुक्ल, कृष्ण, पर कृष्ण, व 'मध्ये क्षोभत इव' इन शब्दोंसे उक्त पांच कर्मफलात्मक अमृतरूप मधु हैं। और लोहितादिक पांच जो आदित्यकी रश्मिरूप नाडी हैं सो मधु अपूपके छिद्र हैं। और वेदके जो मन्त्र हैं सो भ्रमर हैं। और आदित्यकी रश्मियोंमें स्थित जो भूमिसे आकृष्ट आप हैं, सो मन्त्ररूप भ्रमरोंके पुत्र हैं। क्योंकि मधु नाडियोंके अन्तरगत ही प्रसिद्ध भ्रमरोंके पुत्र होते हैं। और जैसे लोकप्रसिद्ध भ्रमर पुष्पोंसे मकरन्दको आहरण करके छिद्रोंद्वारा स्व स्व स्थानको प्राप्त करते हैं तैसे ही मन्त्र स्वरूप भ्रमर भी कर्मरूप पुष्पोंसे अमृतभावको प्राप्त सोमादिरूप मकरन्दको लोहितादि रश्मिरूप छिद्रोंद्वारा आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। और तिस मधु अमृतको देखकर वसु आदिक देवता तृप्त होते हैं इति।

अर्थात् ऋग्वेदके मन्त्ररूप जो भ्रमर हैं सो ऋग्वेद विहित कर्मरूप पुष्पोंसे कर्म करके सिद्ध जो अमृतरूप मकरन्द है तिसको लाकर पूर्वदिशामें आदित्यरूप मधुकी जो लोहितरश्मिरूप नाडी हैं तिन नाडीरूप छिद्रों करके आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। और तिस अमृत करके वसुदेवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

तथा यजुर्वेदके मन्त्ररूप,जो भ्रमर हैं सो यजुर्वेद विहित कर्मरूप पुष्पोंसे अग्निमें हवन किया हुवा अमृतभावको प्राप्त सोमादिरूप मकरन्दको दक्षिण दिशामें वर्तमान आदित्यके आश्रित शुक्लरश्मिरूप छिद्रोंद्वारा आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। तिस अमृतको देखकर रुद्र देवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

तथा सामवेद विहित कर्मरूप पुष्पोंसे अमृत भावापन्न सोमादिरूप मकरन्दको सामवेदके मन्त्रस्तोत्र रूप भ्रमर पश्चिम दिशामें स्थित कृष्णरश्मिरूप छिद्रों करके आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। तिस अमृतको देखकर आदित्य देवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

तथा अर्वथण वेद विहित कर्मरूप पुष्पोंसे अमृतभावापन्न सोमादिक मकरन्दको अथर्वण वेद विहित मन्त्ररूप भ्रमर उत्तर दिशामें वर्तमान अतिकृष्ण रश्मिरूप छिद्रों करके आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। तिस अमृतको देखकर मरुत् देवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

तथा प्रणवरूप कुसुमसे उपासनारूप भ्रमर ऊर्ध्व देशमें स्थित गोप्यनामा रश्मिरूप छिद्रों द्वारा अपूर्वरूप मकरन्दको आदित्यमण्डलमें प्राप्त करते हैं। तिस अमृतको देखकर साध्यनामक देवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

इस पूर्वोक्त रीतिसे आदित्यके आश्रित पांच लोहित शुक्लादिक मधुरूप अमृतोंका उपक्रम करके "वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् व साध्य ये पांच देवगण तत्तत् अमृतोंसे तृप्त होते हैं" ऐसा उपदेश किया है। तदनन्तर 'स य एतदेवममृतं वेद' इत्यादिसे वसु आदिक देवतावोंके जीवनरूप अमृतको जाननेवाले पुरुषोंको वसु आदिकोंकी महिमाकी प्राप्तिको दिखाया है। प्रसङ्गमें यदि वसु आदिक देवतावोंको उपासक मानोगे तो वसु आदिक देवता अपनेसे भिन्न किन अमृतोपजीवी वसु आदिकोंको जानेंगे? तथा किन वसु आदिकोंकी प्राप्तिकी इच्छा करेंगे? और किन वसु आदिकोंकी महिमाको प्राप्त होंगे? क्योंकि उपास्य-उपासकभाव भेदमें होता है। वर्तमान वसु आदिदेवतावोंसे भिन्न वसु आदिक कोई हैं नहीं। पूर्वके वसु आदिकोंका इस कल्पमें अधिकार क्षीण हो चुका है। अतः वसु आदिक देवतावोंका इस आदित्यरूपमधुविद्यामें अधिकार नहीं बन सकता है।

और इसी प्रकार छान्दोग्य (३।१८।१) श्रुतिमें अध्यात्म मनरूप ब्रह्मके वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र रूप चार पादोंको कहकर अधिदैव आकाशरूप ब्रह्मके **"अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः"** ये उपासनाके लिये चार पाद कहे हैं। जैसे गोके पाद गोसे वियुक्त नहीं होते हैं, किन्तु गोके अन्तर्भूत ही होते हैं। तैसे ही आकाशरूप ब्रह्मके अग्नि आदिक पाद भी आकाशसे वियुक्त नहीं होते हैं, किन्तु आकाशके अन्तरगत ही हैं। और आकाशको सर्वगतत्व तथा रूपादि-रहितत्व रूप धर्म करके समान होनेसे अग्नि आदिक चार पादवाला आकाश ब्रह्मरूप करके उपास्य है। और मनरूप ब्रह्मके पादरूप वागादिकोंके क्रमसे, आकाशरूप ब्रह्मके पादरूप अग्नि आदिक देवता कहे हैं। और इस रीतिसे उपासना करने-वालेको कीर्ति, यश व ब्रह्मवर्चस फल कहा है। तथा च वर्तमान अग्नि आदिकोंसे भिन्न अग्नि आदिकोंको न होनेसे इस ब्रह्मविद्यामें भी अग्निआदिक देवतावोंका अधिकार नहीं बन सकता है।

तथा **'वायुर्वाव सम्वर्गः'** (छान्दो० ४।३।१) यहां सम्वर्ग गुणवाला अर्थात् अग्नि आदिकोंको ग्रास करनेवाला वायुदेवता उपास्य है।

तथा **'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'** (छान्दो० ३।१९।१) यहां आदित्य ब्रह्म-रूप करके उपास्य है। और रजत कपालरूप पृथिवी व सुवर्ण कपालरूप द्युके मध्यवर्ती सूर्यकी अभिव्यक्तिके समय ही विस्तीर्ण रववाले नाना शब्दादिक होते भये। इसीलिये इस समयमें भी आदित्यके उदय व अस्तके समय नाना प्रकारके स्तुति आदिक शब्द होते हैं। जो विद्वान् इस प्रकारसे आदित्य ब्रह्मकी उपासना

करता है तिस विद्वान्के लिये शीघ्र ही पापके स्पर्शसे शून्य साधुघोष प्राप्त होते हैं। इत्यादिक श्रुतियोंमें जिन २ देवतावोंकी उपासना विधान करी हैं तिन २ देवतावोंका तिन २ उपासनावोंमें अधिकार नहीं बन सकता है।

तथा 'इमावेव गौतमभरद्वाजावयमेव गौतमोऽयं भरद्वाजः' (बृह० २।२।४) यहां दो कर्ण, दो नेत्र, दो नासिका, एक वाक्, इन सप्त इन्द्रियोंमें सप्त ऋषियोंका ध्यान कर्तव्यत्वेन विहित है। इस ध्यानका सम्पूर्ण अन्न व सर्वात्तृत्व फल कहा है। यहां श्रुति विषे दक्षिण कर्णमें गौतम ऋषिकी, वाम कर्णमें भरद्वाजकी, दक्षिण नेत्रमें विश्वामित्रकी, वाम नेत्रमें जमदग्निकी, दक्षिण नासिकामें वसिष्ठकी, वाम नासिकामें कश्यपकी, वाक् इन्द्रियमें अत्रि ऋषिकी उपासना कही है। इत्यादिक ऋषिसम्बन्धिनी उपासनावोंमें भी तिन ही गौतम आदिक ऋषियोंका अधिकार नहीं बन सकता है। क्योंकि यहां गौतमादिक ऋषि ही ध्येय हैं। अभेदमें ध्यातृध्येयभाव बने नहीं इति ॥ ३१ ॥

शंका। "अथवा यथासम्भव किसी २ विद्यामें किसी २ का अधिकार है" इस द्वितीय पक्षमें देवादिकोंका ब्रह्मविद्यामें अनधिकार किस कारणसे सिद्ध हो सकता है?

समाधान। शरीररूप विग्रहका अभाव होनेसे देवादिकोंको किसीमें भी अधिकार नहीं है इस अर्थको मीमांसक दिखाता है:—

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

अर्थ—१ ज्योतिषि, २ भावात्, ३ च। इस सूत्रमें तीन पद हैं। जो यह द्यु स्थानमें ज्योतिर्मण्डल रात्रिदिन पुनः २ भ्रमण करता हुवा जगत्को प्रकाश करता है तिस ज्योतिर्मण्डलमें सर्व जन आदित्य, चन्द्र, शुक्र, मङ्गल, आदिक शब्दोंका प्रयोग करते हैं यह वार्ता लोकमें प्रसिद्ध है। तथा मधुविद्याके वाक्यशेषमें भी प्रसिद्ध है—'पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेतेति' अर्थात् आदित्य पूर्व दिशामें उदय होता है और पश्चिम दिशामें अस्तभावको प्राप्त होता है। तथा च ज्योतिरूप मण्डलमें ही आदित्यादिक शब्दोंको विद्यमान होनेसे विग्रहवान् देवता कोई नहीं है यह सिद्ध हुवा इति।

जो सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—'ज्योतिःपिण्डका ही अधिकार रहो' सो कहना असङ्गत है। क्योंकि ज्योतिर्मण्डलका हृदयादिक विग्रहके साथ तथा चेतनत्वके साथ और चेतनके धर्म अर्थित्वादिकोंके साथ सम्बन्धका निश्चय नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ज्योतिर्मण्डल मृदादिकोंकी तरह अचेतन है। इससे अग्नि आदिकोंका भी व्याख्यान हो चुका। अर्थात् अग्नि आदिक शब्दोंके वाच्य अर्थ भी अचेतन ही हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे अचेतन ज्योतिर्मण्डलादिकोंमें किसी विषयक अधिकार नहीं बन सकता है इति।

शंका। मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण तथा लोकसे देवादिकोंके विग्रहका निश्चय होनेसे अनधिकाररूप दोष नहीं है ?

समाधान। सो सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि देवोंके विग्रहमें पूर्वोक्त कोई भी प्रमाण नहीं बन सकते हैं। तहां प्रथम लोकप्रमाण तो नहीं बन सकता है,क्योंकि विशेष विचारके विना प्रत्यक्षादिक प्रमाणों करके प्रसिद्ध जो अर्थ है सोई अर्थ लोकसे प्रसिद्ध कहा जाता है। अतः लोक कोई स्वतन्त्र पृथक् प्रमाण नहीं है। और देवतावोंके विग्रहमें प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंके मध्यमेंसे कोई भी प्रमाण नहीं है। तथा इतिहास पुराणादिकोंको भी पौरुषेय होनेसे प्रमाणान्तररूप मूलकी अपेक्षा होगी, अतः प्रमाणरूप नहीं हैं। और अर्थवाद जो हैं सो भी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यत्ववाले होनेसे स्तुतिरूप अर्थवाले हुये विधिवाक्यके अर्थसे भिन्न स्वार्थमें प्रमाणरूप नहीं हैं। अतः अज्ञात देवादिकोंके विग्रहमें प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं। तथा व्रीह्यादिकोंकी तरह कर्ममें श्रुति लिङ्गादिकों करके विनियुक्त जो मन्त्र हैं; तिनोंका भी दृष्टद्वारा उपकारके सम्भव हुये अदृष्ट कल्पनाका अयोग होनेसे प्रयोगसमवेत अर्थविषयक स्मृतिमें ही तात्पर्य है। अज्ञात देवादिकोंके विग्रहमें अथवा अन्य किसी भी अर्थमें तात्पर्य नहीं है। अतः मन्त्र भी विग्रहमें प्रमाणरूप नहीं हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे देवादिकोंका किसी विद्यामें भी अधिकार नहीं है यह सिद्ध हुवा ऐसा पूर्वमीमांसक कहते हैं इति ॥३२॥

इन दो सूत्रों करके प्राप्त जो यह पूर्वपक्ष है इसको अब सूत्रकार खण्डन करते हैं—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

अर्थ—१ भावम्, २ तु, ३ बादरायणः, ४ अस्ति, ५ हि। इस सूत्रमें पांच पद हैं। पूर्वपक्षका निरास 'तु' शब्दका अर्थ है। बादरायण आचार्य जो हैं सो देवादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारको मानते हैं। यद्यपि वसु आदिक देवतादिकों करके व्यामिश्रित जो मधु आदिक विद्या हैं तिनोंमें वसु आदिक देवतादिकोंके अधिकारका सम्भव नहीं है। तथापि शुद्ध ब्रह्मविद्यामें देवतादिकोंका अधिकार बन सकता है। क्योंकि अधिकारके प्रयोजक जो अर्थित्व सामर्थ्यादिक हैं सो देवतादिकोंमें भी विद्यमान हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—किञ्च "मधु आदिक विद्यावोंमें देवतादिकोंके अधिकारका असम्भव है, अतः ब्रह्मविद्यामें भी अधिकारका असम्भव है; क्योंकि विद्यात्वरूप हेतु दोनोंमें समान है" ऐसा प्रथम वादीने जो कहा है सो सर्वथा असंङ्गत है। क्योंकि बृहस्पतियागमें तथा राजसूययागमें कर्मत्वरूप धर्मको समान होनेसे भी "जिसमें जिसके अधिकारका सम्भव है तिसमें तिसका अधिकार है" इस न्याय करके जैसे ब्राह्मणको राजसूय यागमें अधिकारका अभाव हुये भी बृहस्पति यागमें अधिकार है। और क्षत्रियको बृहस्पतिसवमें

अधिकारका असम्भव हुये भी राजसूयमें अधिकार है। तैसे तुल्य न्याय करके देवतादिकोंका मधु आदिक विद्यावोंमें अधिकारके अभाव हुये भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार बन सकता है। यदि ऐसा न्याय न मानोगे तो कर्म उपासनादिकोंमें किसीका भी अधिकार सिद्ध नहीं हो सकेगा। तथा च "क्वचित् अधिकारका असम्भव है, एतावता जहां अधिकारका सम्भव है तहां भी अधिकार नहीं है" यह कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्राह्मणादिक सर्व मनुष्योंका भी सर्व राजसूयादिक कर्मोंमें अधिकारका सम्भव नहीं बन सकता है। अतः तहांपर जो न्याय व्यवस्थापक होगा तिस ही न्यायसे प्रकृतमें भी व्यवस्था होवेगी इति।

अब ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें स्थित देवतादिकोंके अधिकारकी सूचक श्रुतिको दिखाते हैं—**'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणामिति'** (बृह० १।४।११) अर्थ—देवतावोंके मध्यमें तथा ऋषियोंके मध्यमें तथा मनुष्योंके मध्यमें जो जो तिस ब्रह्मको जानते भये सो सो सर्व ही ब्रह्मरूप होते भये इति।

और "देवतावोंको ब्रह्मविद्यामें अधिकार है" इसमें लिङ्गको भी दिखाते हैं—**'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्'** इति (छा० ८।७।२)। अर्थ—इन्द्रादिक देवता परस्पर विचार करते भये कि—तिस आत्माको हम लोग ढूढें, जिस आत्माको ढूढ़नेसे सम्पूर्ण लोकोंकी तथा सम्पूर्ण कामोंकी प्राप्ति होती है। तथा विरोचनादिक असुर भी इसी प्रकार विचार करते भये। पश्चात् इन्द्र तथा विरोचन दोनों ब्रह्मविद्याको देनेवाले प्रजापतिके समीप जाते भये इति। इस प्रसङ्गसे भी निश्चय होता है कि-देवतादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। यदि नहीं होता तो ब्रह्मविद्याके निमित्त देवराज तथा असुरराज प्रजापति गुरुके समीप नहीं जाते।

तथा मोक्षधर्ममें गन्धर्वने याज्ञवल्क्यके प्रति पूछा है कि— अमृतरूप ब्रह्म कौन है? पश्चात् याज्ञवल्क्यने अमृतरूप ब्रह्मका उपदेश किया है। यह विश्वावसु गन्धर्व व याज्ञवल्क्यका स्मृतिप्रसिद्ध संवाद, और प्रह्लाद व अजगरादिके सम्वाद भी देवतादिकोंको ब्रह्मविद्याके अधिकारमें लिङ्ग हैं। उक्त लिङ्गोंसे गन्धर्व व असुरादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारसिद्ध होता है।

शंका। वादीने जो पूर्व कहा था कि-"आदित्यादिक शब्दोंका प्रयोग ज्योतिर्मण्डलमें होता है, अतः आदित्यादिक शब्दोंका वाच्य अर्थ अचेतन ज्योतिर्मण्डलमें ब्रह्मविद्याका अधिकार नहीं बन सकता है" तिसका क्या समाधान है?

समाधान। जैसे शास्त्रशून्य जो मनुष्य हैं सो इन्द्रियोंके गोलकोंमें ही चक्षु आदिक शब्दोंका प्रयोग करते हैं, परन्तु शास्त्रज्ञ जो मनुष्य हैं सो गोलकोंसे अतिरिक्त इन्द्रियोंको स्वीकार करते हैं। तैसे आदित्यादिक शब्दोंका ज्योतिर्मण्डलमें प्रयोगके हुये भी विग्रहवाली देवता स्वीकार करनेको योग्य है।

इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं—'अत्र ब्रूमः-ज्योतिरादिविषयाः' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् ज्योतिर्मण्डलविषयक जो आदित्यादिक देवतावोंके वाचक शब्द हैं सो भी चेतनावाले तथा ऐश्वर्यादिकों करके सम्पन्न तत् तत् विग्रह-वाले देवतावोंको ही बोधन करते हैं। क्योंकि मन्त्रों तथा अर्थवादोंमें व इतिहास पुराणादिकोंमें आदित्यादिक देवतावों विषे चेतनत्वरूप करके ही व्यवहार देखनेमें आता है। अर्थात् देवता जो हैं सो ऐश्वर्यबलके योगसे ज्योतिर्मण्डलादिरूप करके स्थित होनेको समर्थ हैं। तथा यथेष्ट तत् तत् अनेक विग्रहको ग्रहण करनेमें भी समर्थ हैं।

और अब "विविध विग्रहरूप करके इन्द्रादि देवविषयक व्यवहारका श्रवण होता है" इस अर्थको दिखाते हैं—'तथा हि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे' इत्यादि भा०। अर्थ—उद्गातृगणमें स्थित ऋत्विक्‌विशेषका नाम सुब्रह्मण्य है। तत्सम्बन्धी जो 'इन्द्र, आगच्छ' इत्यादिक अर्थवाद है तिस अर्थवादमें कहा है कि—इन्द्र जो है सो मेधातिथि नामक काण्वायन ऋषिको मेषरूपको धारण करके ले जाता भया। तथा आदित्य जो है सो मनुष्य शरीरको धारण करके कुन्तीके पास प्राप्त होता भया इत्यादिक महाभारतमें भी श्रवण होता है इति।

किञ्च "आदित्यादिक जो देव हैं सो मृत्तिकाकी तरह अचेतन हैं" यह जो पूर्ववादीका कहना है सो भी असङ्गत है। क्योंकि सर्वत्र पदार्थोंमें जड़ तथा चेतन भेदसे अंशद्वय रहते हैं। अत एव 'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' इत्यादिक व्यव-हार शास्त्रविषे देखनेमें आता है। इस रीतिसे अचेतन मृत्तिकादिकोंमें भी चेतनरूप अधिष्ठाताको शास्त्रकार अङ्गीकार करते हैं। इसी प्रकार मन्त्र अर्थवाद व इतिहास पुराणादि प्रामाण्यबलसे आदित्यादिकोंमें भी दो दो अंश हैं। एक तो ज्योतिर्मण्डलरूप अचेतन अंशका स्वीकार है। दूसरा ज्योतिर्मण्डलका अधिष्ठाता देवतारूप चेतन अंश है। यह हम कह आये हैं।

शंका। जैसे 'विषं भुंक्ष्व' इस वाक्यको शत्रुके गृहमें भोजनकी निवृत्तिरूप अन्यअर्थपरत्व होनेसे पदशक्तिवृत्ति करके प्रतीयमान विषभक्षणरूप स्वार्थपरत्व नहीं है। तैसे 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादिक मन्त्र व अर्थवादादिकोंको भी स्तुति निन्दादि रूप अन्यअर्थपरत्व होनेसे पदकी शक्तिवृत्ति करके प्रतीयमान विग्रहरूप स्वार्थपरत्व नहीं बन सकता है।

समाधान। वस्तुके सद्भावमें वस्तुविषयक प्रत्यय कारण है तथा वस्तुके असद्भावमें अप्रत्यय कारण है। अन्यार्थत्व अथवा अनन्यार्थत्व नहीं। क्योंकि अन्य अर्थके लिये प्रस्थित अर्थात् जाता हुवा जो पुरुष है सो भी मार्गमें पड़े हुये जो तृणादिक हैं तिनविषयक अस्तित्वज्ञानको प्राप्त होता है।

शंका। यह दृष्टान्त विषम है; क्योंकि तहां तृणादिविषयक प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान है। तिस प्रत्यक्ष प्रमाण करके तृणादिकोंमें अस्तित्व प्रकारक

ज्ञानको पुरुष प्राप्त होता है। और प्रसङ्गमें विधिवाक्यके साथ एकवाक्यत्व-वाला होनेसे स्तुत्यर्थक अर्थवादमें स्तुतिरूप अर्थसे भिन्न विग्रहादिक विषयक प्रवृत्ति निश्चय करनेको अशक्य है। अर्थात् अर्थवादोंमें "यह विधि प्रशस्त है" ऐसा ही ज्ञान होता है, विग्रहादिक विषयक ज्ञान होता नहीं। जो सिद्धान्ती कहे कि—महावाक्यके घटक जो अवान्तर वाक्य हैं सो पृथक् विग्रह रूप अर्थको बोधन करेंगे ? सो भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि—'**न सुरां पिबेत्**' यहां नञ्वाले महावाक्यमें पद्त्रयके सम्बन्धसे सुरापानका प्रतिषेधरूप एक ही अर्थ प्रतीत होता है। पुनः 'सुरां पिबेत्' इस प्रकार पद द्वयके सम्बन्धसे सुरापानकी विधि भी प्रतीत होवे यह वार्ता नहीं है। यदि '**सुरां पिबेत्**' इस अवान्तर वाक्यको भी पृथक् अर्थका बोधकत्व मानोगे तो सुरापानकी विधि भी सिद्ध होनी चाहिये। परन्तु होती तो नहीं। अतः "अवान्तर वाक्य पृथक् विग्रहादिकोंका बोधक नहीं हो सकता है" ऐसा ही मानना पड़ेगा।

समाधान। 'न सुरां पिबेत्' यह दृष्टान्त विषम है। सुरापानके प्रतिषेधमें पदान्वयको एक होनेसे अवान्तर वाक्यार्थका जो अग्रहण है सो युक्त ही है। परन्तु विधिको संकीर्तन करके पठित अर्थवादोंमें ऐसा नहीं है। क्योंकि 'न सुरां पिबेत्' इस दृष्टान्तमें पदैकवाक्यता है। और सिद्धान्तमें जो अर्थवाद हैं तिनमें वाक्यैकवाक्यता है। दृष्टान्तमें नञ्रूप एक पदका जब 'सुरां पिबेत्' इस पदद्वयके साथ सम्बन्ध होता है तब पदैकवाक्यता कही जाती है। और सुरापानका निषेधरूप एक अर्थको ही 'न सुरां पिबेत्' यह वाक्य बोधन करता है। और पदद्वयसे सुरापानरूप पृथक् अर्थको नहीं बोधन करता है। यदि बोधन करेगा तो सुरापानका विधान होनेसे निषेधकी अनुपपत्ति होगी। और अर्थवाद जो हैं सो प्रथम स्वगत पदों करके देवता विग्रहादिरूप भूत अर्थविषयक ज्ञानको उत्पन्न करके अनन्तर "इस अर्थवादका क्या प्रयोजन है" इस किमर्थ आकाङ्क्षाके बलसे विधिकी स्तुतिद्वारा विधिवाक्यके साथ वाक्यैकवाक्यताको प्राप्त होते हैं। अतः, अर्थवादमें अवान्तरवाक्यके अर्थ विग्रहादिकोंका अनुभव होता है।

इस अर्थको अब स्पष्ट करके दिखाते हैं—'**वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः**'। अर्थ—विभूतिकी कामनावाला जो पुरुष है सो वायु देवताक श्वेत पशुका आलम्भन करे इति। यहां विधिवाक्यमें स्थित जो वायव्य आदिक पद हैं तिनोंका जैसे विधिके साथ साक्षात् सम्बन्ध है। अर्थात्-'वायव्यमालभेत, श्वेतमालभेत, भूतिकाम आलभेत इति। तैसे—'**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति**'। इत्यादिक अर्थवादमें स्थित पदोंका विधिके साथ सम्बन्ध नहीं है। अर्थात्-'वायुर्वा आलभेत, क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेत' इस प्रकार वायु आदिक पदोंका 'आलभेत' इस विधिके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता है। किन्तु 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादिक जो अर्थवाद हैं सो स्वगत पदों करके—

"शीघ्र गमन स्वभाववाला वायु देवता है। अतः यजमानको शीघ्र ही विभूतिको प्राप्त करता है" इस प्रकार अवान्तर विग्रहादिरूप देवताविषयक ज्ञानको उत्पन्न करके अनन्तर—'विशिष्टदैवत्यमिदं कर्म' अर्थात् "यह जो वायव्य कर्म है सो शीघ्र फलको देनेवाला अति उत्तम वायु देवतावाला है" इस प्रकार यथेष्ट विधिकी स्तुति करते हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे वाक्यैकवाक्यतावाले अर्थवादोंमें अवान्तर वाक्यार्थ देवताविग्रहादिकोंका ज्ञान होता है। और 'न सुरां पिबेत्' इस दृष्टान्तमें पदैकवाक्यता है, इसलिये अवान्तर वाक्यका अर्थ जो सुरापान है तिसका बोध नहीं होता है। अतः विषम दृष्टान्त है यह सिद्ध हुवा इति।

शंका। उक्त रीतिसे सर्वत्र अर्थवादोंमें स्वार्थोका ग्रहण होना चाहिये परन्तु होता तो नहीं। क्योंकि—'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि स्थलमें आदित्य तथा यूपादिका परस्पर अभेदरूप जो अर्थ है सो बाधित है।

समाधान। अर्थवाद तीन* प्रकारका है—अनुवाद, तथा गुणवाद तथा भूतार्थवाद। तहां—**'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'** 'अग्नि शीतकी औषध है' इत्यादिक स्थलमें प्रत्यक्ष प्रमाणान्तरका विषय जो अग्नि आदिक अवान्तर वाक्यका अर्थ है तिसका अनुवाद करके यह अर्थवाद प्रवृत्त होता है अतः इस अर्थवादका नाम अनुवाद है।

तथा **'आदित्यो यूपः'** इस स्थलमें प्रत्यक्षादिक प्रमाणान्तरसे यूपमें आदित्यका अभेद विरुद्ध है। इसलिये यूपमें जो आदित्यका तेजस्वित्वरूप गुण है तिस गुण करके यह अर्थवाद प्रवृत्त होता है। अतः इस अर्थवादका नाम गुणवाद है।

और जहां दोनों नहीं हैं अर्थात् मानान्तरका संवाद भी नहीं है तथा मानान्तरका विसंवाद कहिये विरोध भी नहीं है तहां अर्थात्—**'वज्रहस्तः पुरन्दरः'** इत्यादि स्थलमें—"प्रमाणान्तरका अभाव होनेसे क्या यह गुणवादरूप अर्थवाद है अथवा प्रमाणान्तरका अविरोध होनेसे भूतार्थवाद है" ऐसे संशयके हुये सिद्धान्ती कहता है कि—'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादि स्थलमें प्रतीतिशरण पुरुषोंको विद्यमानवाद अर्थात् भूतार्थवाद ही आश्रयण करनेको योग्य है। अर्थात् जिस अर्थवादमें मानान्तरका संवाद तथा विसंवाद नहीं हैं सो अर्थवाद स्वार्थमें प्रमाणरूप होता है। क्योंकि अर्थोको सिद्धिमें प्रतीति ही शरण है। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' यह जो अर्थवाद है सो इन्द्र देवताके विग्रहको बोधन करता है।

इससे मन्त्रका भी व्याख्यान हो चुका। अर्थात् मन्त्र भी मानान्तरका संवाद तथा विसंवादका अभाव होनेसे स्वार्थमें प्रमाणरूप हैं। अतः विग्रहादिकोंके बोधक हैं।

---

* टि०—विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा स्मृतः॥

किञ्च इन्द्रादिक देवता सम्बन्धि हविष्को विधान करनेवाले जो विधिवाक्य हैं सो भी इन्द्रादिक देवतावोंके स्वरूपकी अपेक्षा करते हैं। अतः "मन्त्र तथा अर्थवादादि देवताविग्रहको बोधन करते हैं" ऐसा अवश्य मानना पड़ेगा।

शंका। क्लेशात्मक कर्ममें फलसे विना विधि अनुपपन्न है। अतः 'यन्न दुःखेन संभिन्नम्' इत्यादिक अर्थवाद करके सिद्ध जो स्वर्ग है तिसमें विधिप्रमाण रहो। विग्रहसे विना विधिमें क्या अनुपपत्ति है?

समाधान। यदि विग्रहको नहीं मानोगे तो स्वरूप करके रहित इन्द्रादिक देवतावोंका चित्तमें आरोप नहीं कर सकते हैं। और चित्तमें अनारूढ़ तिस २ देवताके प्रति हविका प्रदान भी करनेको अशक्य है। अतः विधिकी अनुपपत्ति होनेसे स्वर्गकी तरह विग्रहको भी अवश्य मानना चाहिये।

किञ्च चित्तमें आरोहके लिये देवताविग्रहको अवश्य ही मानना पड़ेगा। यदि न मानोगे तो जिस देवताको उद्देश करके हविका त्याग करोगे; तिस देवताका चित्तमें अनारोह होनेसे त्यागकी अनुपपत्ति होगी; अतः देवताविग्रह अवश्य स्वीकार्य है। इस अर्थमें श्रुतिको दिखाते हैं—**'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन्।'** अर्थ—जिस देवताको उद्देश्य करके हवि गृहीत होवे तिस देवताका 'वषट्' इस शब्दका उच्चारण करते हुये मन करके ध्यान करे इति।

किञ्च वरादिप्रदात्री सुप्रसन्न विग्रहवाली देवताको त्याग करके "शब्दमात्रका नाम देवता है" यह जो मीमांसककी भक्ति है सो अयुक्त है इस अर्थको दिखाते हैं—**'न च शब्दमात्रमर्थस्वरूपं सम्भवति'** इत्यादि भा०। अर्थ—शब्दमात्र ही अर्थका स्वरूप नहीं हो सकता है। क्योंकि शब्द तथा अर्थका भेद है। अतः शब्द-प्रमाणवादी पुरुषको मन्त्रोंमें तथा अर्थवादोंमें इन्द्रादिक देवतावोंका यादृश स्वरूप निश्चित है तादृश स्वरूपका खण्डन करना युक्त नहीं है इति।

और "केवल मन्त्र व अर्थवादों करके ही देवतावोंके विग्रह सिद्ध हैं" यही वार्ता नहीं है। किन्तु इतिहास पुराणादिकों करके भी सिद्ध हैं। अब इस अर्थको भी भाष्यकार कहते हैं—**'इतिहासपुराणमपि'** इत्यादि भा०। अर्थ—इतिहास तथा पुराण भी मन्त्र व अर्थवाद मूलक होनेसे प्रमाणरूप हुये पूर्वोक्त रीतिसे देवताविग्रहादिको सिद्ध करनेमें समर्थ हैं इति।

किञ्च देवतावोंके विग्रहमें प्रत्यक्षादिक प्रमाण भी हैं। यद्यपि हमारे लोगोंको देवतावोंके विग्रहका प्रत्यक्ष नहीं भी है; तथापि चिरन्तन व्यासादिकोंको प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि इतिहासादिकोंमें लिखा है कि—देवतावोंके साथ व्यासादिक प्रत्यक्ष व्यवहारको करते थे इति।

जो पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि—"जैसे इस काल विषे हमारे लोगोंमें देवतावोंके साथ व्यवहार करनेको सामर्थ्य नहीं है। तैसे ही पूर्व काल विषे व्यासादिकोंमें

भी देवतावोंके साथ व्यवहार करनेकी सामर्थ्य नहीं होवेगी" सो वादी जगत्के वैचित्र्यको निषेध करेगा। अर्थात् "सर्वं, घटाभिन्नं, वस्तुत्वात्, घटवत्।" जैसे घटमें वस्तुत्व है अतः घटमें घटका अभेद है। तैसे सम्पूर्ण जगत्में वस्तुत्वरूप हेतु है अतः सम्पूर्ण जगत् घटरूप ही है घटसे विलक्षण नहीं" इस प्रकार जगत्के वैचित्र्यका अभावको कहेगा। और "जैसे इस कालमें सार्वभौम क्षत्रिय राजा नहीं है। तैसे ही पूर्वकालमें भी सार्वभौम क्षत्रिय राजा नहीं था" ऐसा भी वादी कह सकेगा। और यदि ऐसा ही मानोगे तो शास्त्रमें जो राजसूयादिक विधि कही हैं सो उपरुद्ध हो जावेंगी। और "जैसे इस कालमें वर्णाश्रम धर्मकी प्रायः अव्यवस्था है। तैसे ही पूर्वकालमें भी धर्मकी अव्यवस्था थी" ऐसी प्रतिज्ञा भी आप कर सकते हो, क्योंकि आप निरङ्कुश बुद्धिवाले हो। परन्तु ऐसा माननेसे राजसूयादिकोंका बोधक शास्त्र तथा कृत युगादिकोंके धर्मोंकी व्यवस्थाके प्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ होवेंगे। अतः तुम्हारेको ऐसा अवश्य कहना होगा कि—"धर्मके उत्कर्षके वशसे चिरन्तन व्यासादिक देवतावोंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते भये" यही वार्ता युक्त है।

किञ्च योगसूत्रके बलसे भी देवादिकोंके प्रत्यक्षकी सिद्धि होती है—तहां सूत्रम्—**'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः'**। अर्थ—मन्त्रके जपरूप स्वाध्यायसे इष्ट देवता समीपमें प्राप्त होते हैं। तथा सम्भाषणादिक भी करते हैं इति। इत्यादि। और अणिमादिक ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फलवाला स्मृत्यादिकोंमें प्रसिद्ध जो योग है सो साहस मात्र करके खण्डन करनेको भी अशक्य है।

तथा श्रुति भी योगके माहात्म्यको वर्णन करती है—**'पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥'** (श्वे० २।१२)।

अर्थ—पादके तलसे लेकर जानु पर्यन्त पृथिवीकी, तथा जानुसे लेकर नाभि पर्यन्त जलकी, तथा नाभिसे लेकर ग्रीवा पर्यन्त तेजकी, तथा ग्रीवासे लेकर केशोंके प्ररोह पर्यन्त वायुकी, तथा केशोंके प्ररोहसे लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त आकाशकी धारणा करके संयमके बलसे पांचो भूतोंके वशमें करनेसे अणिमादिक योगगुणकी प्रवृत्ति होती है। और दिव्य तेजोमय देहकी भी प्राप्ति होती है। इसके अनन्तर तिस योगी पुरुषको रोग तथा जरा व मृत्यु स्पर्श नहीं करते हैं इति।

किञ्च मन्त्र तथा ब्राह्मणरूप वेदको साक्षात्कार करनेवाले ऋषियोंकी सामर्थ्यको अपने लोगोंकी सामर्थ्यके समान जानना भी युक्त नहीं है। अतः व्यासादि प्रणीत इतिहास पुराण समूल ही हैं इति।

और जो चित्रकारों करके रचित देवादिक विग्रहोंकी लोकमें प्रसिद्धि है सो भी देवादिक विग्रहके सम्भव हुये निरालम्बन निश्चय करनेको अयुक्त है।

अब देवता अधिकरणको समाप्त करते हैं—'तस्मात्' इत्यादि भाष्यम्। इस पूर्वोक्त रीतिसे मन्त्रादिकों करके तथा मन्त्रादि मूलक इतिहास पुराणादिकों करके देवतादिकोंके विग्रहका निश्चय होता है। तथा देवतावोंमें भी अर्थित्वादिकोंका सम्भव होनेसे युक्ति व शास्त्रके बलसे ब्रह्मविद्यामें अधिकार सिद्ध हुवा। और देवादिकोंके विग्रह स्वीकार करनेसे ही क्रममुक्तिका प्रतिपादक शास्त्र भी समीचीन होता है। अन्यथा "अहंग्रह उपासनादि करके ब्रह्मलोकादिकोंकी प्राप्ति होती है। तहां दिव्य देवादि शरीरोंमें ब्रह्म साक्षात्कारद्वारा मुक्तिकी प्राप्ति होती है" इस प्रकार क्रममुक्तिको प्रतिपादन करनेवाली अनेक श्रुतिस्मृतियोंकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी॥ ३३॥

इति देवताधिकरणम्॥

जैसे ब्रह्मविद्यामें मनुष्योंके अधिकारका नियमको खण्डन करके देवतावोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारको कह आये हैं। तैसे ही द्विजाति मात्रके अधिकारका नियमको खण्डन करके 'शूद्रको भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है' ऐसा मानना चाहिये? इस शंकाको निवृत्त करनेके लिये सूत्रकार इस अधिकरणको दिखाते हैं:—

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥३४॥

अर्थ—१ शुक्, २ अस्य, ३ तदनादरश्रवणात्, ४ तदाद्रवणात्, ५ सूच्यते, ६ हि। इस सूत्रमें छ पद हैं। जानश्रुति राजाको हंसोंके अनादर वाक्योंके श्रवणसे जो शोक उत्पन्न होता भया सोई शोक रैक्व ऋषिने 'शूद्र' शब्दसे सूचित किया है। अर्थात् 'शुचा दुद्रुवे' 'शोक करके जानश्रुति रैक्वके पास प्राप्त हुवा है' इसलिये जानश्रुतिको रैक्वने शूद्र शब्दसे कहा है। तथा च प्रकृत शूद्र शब्द यौगिक है रूढ़ जातिवाचक नहीं है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरण* रचनाको दिखाते हैं:—'वेदान्तविचार' इस अधिकरणका विषय है।

और शूद्रमें अर्थित्वादिकोंका सम्भव तथा असम्भव करके "शूद्रको वेदान्तविचारमें अधिकार है, अथवा नहीं है" ऐसा यहां सन्देह है।

---

* पूर्व अधिकरणमें, ब्रह्मविद्यामें देवादिकोंके अधिकारकी सिद्धिके लिये मन्त्रादिकोंका विग्रहादिरूप भूतअर्थमें समन्वयकी उक्ति करके वेदान्तोंका भूत (सिद्ध) अर्थ ब्रह्ममें समन्वय दृढ़ किया है। और इस अधिकरणमें भी 'हारेत्वा शूद्र' इस श्रुतिमें स्थित शूद्र शब्दका क्षत्रियमें समन्वयकी उक्ति करके समन्वयको ही दृढ़ करते हैं। अतः प्रासङ्गिक इन दोनों अधिकरणोंका इस समन्वयाध्यायमें अन्तर्भाव है।

अथ पूर्वपक्ष। तहां शूद्रको भी वेदान्तविचारमें अधिकार होगा यह प्राप्त हुवा। क्योंकि शूद्रमें भी अर्थित्व सामर्थ्यादिक बन सकते हैं। किञ्च 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७।१।१।६) इस श्रुतिमें जैसे 'सामर्थ्य न होनेसे शूद्र यज्ञमें अनधिकारी है', ऐसा श्रवण होता है। तैसे 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' 'शूद्र विद्यामें अनधिकारी है' ऐसा निषेधका श्रवण होता नहीं। अतः शूद्रको भी विद्यामें अधिकार है।

और जो शूद्रको कर्ममें अनधिकारका कारण अनग्नित्वको कहा है सो अनग्नित्वरूप लिङ्ग भी विद्यामें अधिकारको दूर नहीं कर सकता है। क्योंकि "आहवनीयादिक अग्नि करके रहित पुरुष विद्याको नहीं प्राप्त हो सकता है" यह कहना असङ्गत है।

किञ्च "शूद्रके अधिकारका साधक, विद्यार्थी पुरुषमें शूद्र शब्दका प्रयोगरूप लिङ्ग भी देखनेमें आता है, इस कारणसे भी शूद्रमें विद्याका अधिकार है" इस अर्थको अब दिखाते हैं—'भवति च लिङ्गम् शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम्' इत्यादि भा०। छान्दोग्यके चतुर्थ अध्यायमें स्थित—'वायुर्वाव संवर्गः' इत्यादिक संवर्गविद्यामें लिखा है कि—जानश्रुति राजाने, छ सौ गायों करके सहित रथको रैक्व ऋषिके आगे निवेदन करके कहा कि—"हे भगवन्! मेरेको विद्याका उपदेश करें।" पश्चात् रैक्व ऋषि बोले—'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु।' अर्थ—पत्नी करके रहित कन्यार्थी रैक्व ऋषिने खेदके साथ कहा कि—हे शूद्र! सुवर्णमय हार करके सहित गमन करनेवाला जो यह रथ है, सो गावों करके सहित यह रथ तुम्हारेको ही रहे; अर्थात् तू अपने पास ही रख इति। तथा च 'हारेत्वा शूद्र' इस श्रुतिमें शूद्र शब्दका, श्रवण करनेकी इच्छावाले जानश्रुति विद्यार्थीमें प्रयोग होनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि—शूद्रका भी वेदविद्यामें अधिकार है इति।

किञ्च "शूद्रयोनिसे उत्पन्न हुये भी जो विदुरादिक हैं सो भी ब्रह्मविद्या करके सम्पन्न हैं" ऐसा शास्त्रमें श्रवण होता है। अतः इस पूर्वोक्त रीतिसे शूद्रको भी वेदान्तविचारमें अधिकार सिद्ध होता है इति।

अथ सिद्धान्तपक्ष। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है—'न शूद्रस्याधिकारः' इत्यादि भा०। शूद्रमें वेदाध्ययनका अभाव होनेसे विद्यामें अधिकार नहीं बन सकता है। किञ्च अध्ययनविधि करके संस्कृत जो वेद है तिस वेद करके उत्पन्न जो वेदार्थ विषयक आपातज्ञान अर्थात् सामान्य ज्ञानरूप शास्त्रीय सामर्थ्य है तिस सामर्थ्यवाले पुरुषको ही वेदार्थके विचारमें अधिकार है। शूद्रमें वेदाध्ययनजन्य सामान्य ज्ञानरूप शास्त्रीय सामर्थ्यका अभाव होनेसे वेदार्थके विचारमें अधिकार नहीं हो सकता है।

क्योंकि वेदाध्ययनका प्रयोजक जो उपनयन है सो शूद्रमें है नहीं, किन्तु तीन वर्णोंमें ही है। अतः निरुक्त सामर्थ्यके न होनेसे केवल लौकिक अर्थित्व ही अधिकारका कारण नहीं हो सकता है। और सेवादिरूप केवल लौकिक सामर्थ्य भी अधिकारका कारण नहीं हो सकती है। क्योंकि शास्त्रीय अर्थमें शास्त्रीय सामर्थ्यकी भी अपेक्षा अवश्य रहती है। और शूद्रमें वेदाध्ययनका निराकरण होनेसे ही शास्त्रीय सामर्थ्यका निराकरण हो चुका है। अतः शूद्रको वेदविद्यामें व फलपर्यन्त विद्याके साधन श्रवणादि विधियोंमें अधिकार नहीं है।

किञ्च शूद्रमें अध्ययनविधि करके लभ्य अध्ययनके अधीन वेदार्थ ज्ञानवत्त्वरूप सामर्थ्यके न होनेसे 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' यह वचन जैसे शूद्रका यज्ञमें अनधिकारको बोधन करता है। तैसे ही विद्यामें भी अनधिकारको द्योतन करता है। क्योंकि शूद्रमें वेदार्थज्ञानवत्त्वरूप उक्त सामर्थ्याभावरूप न्याय तुल्य है। अर्थात् 'शूद्रो यज्ञे' इस श्रुतिमें यज्ञपद वेदार्थका उपलक्षण है।

किञ्च पूर्वपक्षीने जो कहा था कि—"संवर्गविद्यामें जो शूद्र शब्दका श्रवणरूप लिङ्ग है सो शूद्रमें विद्याके अधिकारको बोधन करता है" यह कहना भी असङ्गत है। क्योंकि वेदार्थज्ञानवत्त्वरूप सामर्थ्यका अभावात्मक जो असामर्थ्यरूप न्याय है तिस करके शूद्रमें अर्थित्वादिकोंके सम्भवरूप न्यायको खण्डित होनेसे शूद्रशब्दका जो श्रवण है सो लिङ्ग नहीं है। यदि शूद्रमें अर्थित्वादिकोंका सम्भव होता तो अधिकाररूप अर्थका द्योतक शूद्र शब्दका श्रवणरूप लिङ्ग होता, परन्तु ऐसा है नहीं।

शंका। 'निषादस्थपतिं याजयेत्' यहां जैसे निषाद शब्दसे निषादको वैदिक इष्टिमें अधिकार है, तैसे शूद्र शब्दसे शूद्रको विद्यामें भी अधिकार मानना चाहिये।

समाधान। निषादके दृष्टान्तसे भी केवल संवर्गविद्यामें ही शूद्र शब्दका श्रवण होनेसे एक संवर्गविद्यामें ही कथञ्चित् शूद्रको अधिकार हो सकता है सर्व विद्यावोंमें नहीं। और वास्तवसे विचार करके देखें तो पूर्वोक्त दृष्टान्त करके शूद्रको संवर्गविद्यामें भी अधिकार सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि निषाद शब्दको विधिवाक्यमें स्थित होनेसे निषाद शब्द निषादरूप अधिकारीका समर्पक हो-सकता है। और यह जो प्रकृत शूद्र शब्द है सो अर्थवादवाक्यमें स्थित है। अतः किसी भी विद्यामें शूद्रके अधिकारको बोधन करनेके लिये समर्थ नहीं हो-सकता है। अर्थात् इस शूद्र शब्दमें अर्थवादस्थत्व होनेसे विधिअन्वयके योग्य, और विधिसे अविरुद्ध, अर्थका समर्पकत्व प्रतीत होता है। और शूद्र जातिको वैदिक विद्याकी विधिमें योग्यता है नहीं। इसलिये इस शूद्र शब्दका अर्थ शूद्रजाति नहीं कह सकते हैं।

शंका। शूद्र जातिको वैदिक विधिमें योग्यता न होनेसे अर्थवादगत शूद्र शब्द क्या अनर्थक है?

समाधान। अनर्थक नहीं है, क्योंकि प्रकृत विधिके अधिकारीमें ही इस 'शूद्र' शब्दकी योजना कर सकते हैं।

शंका। फिर 'हारेत्वा शूद्र' इस श्रुतिमें श्रुत जो शूद्र शब्द है तिसका क्या अर्थ है?

समाधान। छान्दोग्यमें यह उपाख्यान है कि-किसी समयमें जानश्रुति नामक एक राजा 'पौत्रायण' अर्थात् 'जनश्रुतके पुत्रका पौत्र' श्रद्धापूर्वक बहुत दान देनेवाला बहुत पक्व अन्नको तैय्यार कराके अतिथियोंको प्रेमपूर्वक तृप्त करनेवाला था।

"सर्व तरफसे अतिथि लोग आकर मेरे यहां अन्नपानादिसे तृप्त होवें" इस अभिप्रायसे तिस राजाने जहां तहां प्रत्येक तीर्थोंमें और प्रत्येक ग्राम व नगरादिकोंमें अतिथियोंके आरामके लिये अत्यन्त सुन्दर सुन्दर अनेक धर्मशालावोंका व विविध अन्नपान करके परिपूर्ण क्षेत्रोंका प्रबन्ध करा रखा था।

ऐसे दानवीर राजाके गुणगणोंकी कीर्ति तिस समय दिङ्मण्डलमें भ्रमण करती भई। एक समय ग्रीष्म ऋतुकी रात्रिमें जानश्रुति राजा महलके छतके उपर शयन कर रहा था। उस समय राजाके अन्नदानादिक गुणगणों करके संतोषको प्राप्त जो देव व ऋषि हैं सो राजाके हितके लिये हंसरूपको धारण करके मालाके समान लम्बायमान होकर आकाशमार्गसे चलते भये। जब राजाके समीप पहुंचे तब पिछला हंस अग्रसर हंसके प्रति कहता भया "हे २ भल्लाक्ष! भल्लाक्ष! इस जानश्रुति राजाका तेज स्वर्ग पर्यन्त व्याप्त हो रहा है तिसको तू क्या नहीं देखता है? यदि इसके तेजको तू उलङ्घन करेगा तो वह तेज तुम्हारेको दग्ध कर देगा। अतः, आगे नहीं जाना" इस प्रकार पिछले हंसके वचनको श्रवण करके अगला हंस बोलता भया कि—**'कंवर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ'** । छा०४।१।३।

अर्थ—'कंवर' यहां 'कं, उ, अरे' ऐसा पदच्छेद करना। 'उ' शब्दका अर्थ वितर्क है। 'कं' पदका अर्थ आक्षेप है। अरे पश्चात्गामी हंस! क्या विद्या करके हीन जो यह विद्यमान निकृष्ट राजा है इस विचारेको तू दो बैलों करके चलनेवाली गाड़ीके सहित स्थित रैक्व ऋषिकी तरह कहता है? तिस पुण्यात्मा ब्रह्मनिष्ठ भगवान् रैक्व ऋषिके धर्ममें सम्पूर्ण प्रजाके पुण्यका अन्तर्भाव होता है। रैक्वके पुण्यकी तुलना किसीके पुण्यसे नहीं हो सकती है। जिस तत्त्वको रैक्व जानता है तिस तत्त्वको जो जानता है तिसके पुण्यमें भी सबके पुण्यका अन्तर्भाव होता है। अर्थात् अपरोक्ष ज्ञानवान् ब्रह्मनिष्ठ रैक्व ऋषिका तेज दुरतिक्रम है विद्याहीन इस अनात्मज्ञ राजाका तेज दुरतिक्रम नहीं हो सकता है। यहां ऋषियोंका यह अभिप्राय है कि "इन उक्त हमारे वचनोंसे राजा शकटरूप लिङ्ग करके रैक्व ऋषिको जानकर तथा रैक्व ऋषिके शरणमें प्राप्त होकर अपरोक्ष विद्यावान् हो जायगा" इति। 'कंवर' इत्यादिक हंसोंके वचनसे अपने अनादरको और रैक्वके उत्कर्षकी पराकाष्ठाको श्रवण करके अत्यन्त विषादयुक्त हुवा पुनः २ उच्छ्वास निःश्वासको लेता हुवा निद्राके विना ही राजा किसी तरह रात्रिको व्यतीत करता भया।

प्रातःसमय निशा अवसानकी सूचक बन्दारुवृन्दों करके प्रारब्ध विविध प्रकारसे अपनी स्तुतिको और अनेक प्रकारके माङ्गलिक वाद्यनिर्घोषोंको श्रवण करके शय्यामें स्थित हुवा ही राजा सहसा क्षत्ता (यन्ता) को बुलाकर स्तुति व वाद्यनिर्घोषोंको बन्द कराकर आज्ञा करता भया कि— हे वयस्य ! रैक्व नामक ब्रह्मविद् सयुग्वा (गाड़ीवाला) कोई तपस्वी ऋषि है जिसके पुण्यमें सम्पूर्ण प्रजाके पुण्यका अन्तर्भाव है, तिसका खोज करके आवो ।

तब क्षत्ता ग्राम व नगरादिकोंमें खोज करके राजाके पास वापिस आकर रैक्व ऋषिके न मिलनेका समाचार कहता भया ।

राजा—अरे ! जहां ब्राह्मणकी खोज होती है तहांसे खोज करके आवो । अर्थात् अनेक वन, पर्वत, निकुञ्ज, पवित्र नदीतीरादि विविक्त प्रदेशोंमें खोज करके खबर दो ।

तब क्षत्ता पुनः बड़े प्रयत्नसे तहां २ अनेक प्रदेशोंमें खोज करता भया । क्वचित् अत्यन्त एकान्त प्रदेशमें शकटके नीचे खुजली करते हुये एक ब्राह्मणको देखता भया । तिसको देखकर 'यही रैक्व होगा' ऐसा विचार करके विनय पूर्वक पूछता भया ।

क्षत्ता—हे भगवन् ! सयुग्वा रैक्व आप ही हैं क्या ?

रैक्व—'अहं ह्यरे' 'अरे मैं ही हूं' इति ।

इसके अनन्तर शकटरूप लक्षणसे और वचनसे रैक्वभावका निश्चय करके और वार्तालापसे धनकी और गृहस्थपनेकी इच्छाका अनुमान करके राजाके पास आकर क्षत्ता सर्व समाचारोंको निवेदन करता भया ।

समाचारके मिलते ही राजा छैसौ गाय, और एक हार, और एक अश्वतरीरथ (खच्चरों करके युक्तरथ)को भेटके लिये लेकर शीघ्र ही रैक्व ऋषिके पास गया । जाकर विधिवत् पूजन व भेटको समर्पण करके नम्रतापूर्वक राजा बोला— हे भगवन् ! रैक्व ! ये छै सौ गाय, और यह हार, व रथको भेटमें स्वीकार कीजिये । और जिस देवताकी आप उपासना करते हैं तिस देवताका उपदेश मेरेको दीजिये ।

इस प्रकार कहनेवाले राजाके प्रति आटोप व स्पृहापूर्वक रैक्व बोला— **'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति ।'** अर्थ—खिन्न होकर रैक्व कहने लगा-हे शूद्र ! गायोंके सहित व हारके सहित 'इत्वा' कहिये गमनशील यह रथ तेरे पास ही रहो । अर्थात् गृहस्थाश्रमके लिये अपर्याप्त इस अल्प धनको मैं स्वीकार नहीं करता इति ।

पुनः राजा एक सहस्र गाय, हार व रथ और अपनी एक कन्याको भेटके लिये लेजाकर रैक्वके प्रति निवेदन करता हुवा बोला—हे रैक्व ! इन सहस्र गायोंको व हार व रथको और इस मेरी कन्याको आप अपने गृहस्थाश्रमके लिये स्वीकार कीजिये । और जिस ग्राममें आप विराजमान हैं इस ग्रामको भी भेटमें स्वीकार कीजिये । हे भगवन् ! मुझको उपदेश कीजिये ।

इसके अनन्तर सर्व धनको स्वीकार करके राजाके प्रति संवर्गविद्याका उपदेश ऋषि करता भया इति ।

इस उपाख्यानमें 'हारेत्वा शूद्र' यह शूद्र शब्द जातिका वाचक रूढ़ नहीं है, किन्तु यौगिक है । अर्थात् 'कंवर' इत्यादिक हंसोंके वचनसे अपने अनादरको श्रवण करके राजा जानश्रुतिको जो शोक उत्पन्न हुवा है । तिस शोकको रैक्व ऋषि अपनेमें सर्वज्ञत्वको दिखानेकी इच्छासे राजाके प्रति इस 'शूद्र' शब्द करके सूचन करता है । क्योंकि जातिशूद्रको वैदिक विद्यामें अधिकार न होनेसे पूर्वापरकी पर्यालोचना करके इस प्रकरणमें यही अर्थ निश्चित होता है ।

शंका । हंसोंसे अनादर वचनको श्रवण करके राजामें जो शोक उत्पन्न हुवा तिस शोकको 'शूद्र' शब्द करके रैक्वने किस प्रकार सूचन किया ?

समाधान । **'तदाद्रवणात्'** इति भा० । अर्थ—राजा शोकको प्राप्त हुवा है इसलिये राजामें शूद्र शब्दका प्रयोग रैक्वने किया है । अथवा शोकरूप कर्ता करके राजा रैक्व ऋषिको प्राप्त हुवा है इसलिये शूद्र शब्दका प्रयोग रैक्वने किया है । अथवा शोकरूप करण करके राजा रैक्व ऋषिको प्राप्त हुवा है इसलिये प्रयोग किया है इति । इस रीतिसे शूद्र शब्दके अवयवार्थका सम्भव होनेसे तथा शूद्रत्व जातिविशिष्ट शूद्ररूप रूढ़ि अर्थका असम्भव होनेसे, ब्रह्मविद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है । यह अर्थ जानश्रुति राजाकी इस आख्यायिकामें प्रसिद्ध है इति ॥ ३४ ॥

अब "श्रुतिमें जो शूद्र शब्द है सो यौगिक है रूढ़ नहीं" इस अर्थमें सूत्रकार हेत्वन्तरको दिखाते हैं :—

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

अर्थ—१ क्षत्रियत्वगतेः, २ च, ३ उत्तरत्र, ४ चैत्ररथेन, ५ लिङ्गात् । इस सूत्रमें पांच पद हैं । इस हेतुसे भी जानश्रुति राजा जातिशूद्र नहीं है, क्योंकि यदि प्रकरणका विचार करें तो 'उत्तरत्र' कहिये संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें 'चैत्ररथेन लिङ्गात्' कहिये चित्ररथ राजाके वंशमें उत्पन्न होनेसे निश्चित क्षत्रिय जातिवाला जो अभिप्रतारी नामक राजा है तिसके साथ संदिग्ध क्षत्रिय जातिवाले राजा जानश्रुतिका एक ही संवर्गविद्यामें साहचर्य्यरूप लिङ्ग होनेसे 'क्षत्रियत्वगतेः' कहिये जानश्रुति राजामें क्षत्रियत्वका निश्चय होता है इति ।

शंका । क्षत्रिय अभिप्रतारी राजाके साथ जानश्रुतिके साहचर्यका बोधक वह संवर्गविद्याका वाक्यशेष कौन है ?

समाधान । जब अग्नि शान्त होती है तब वायुमें ही लीन होती है । और जब सूर्य अस्त होता है तब वायुमें ही लीन होता है । और जब चन्द्रमा अस्त होता है तब वायुमें ही लीन होता है । और जब जल सूखता है तब वायुमें ही

लीन होता है। इसलिये 'संवृक्ते' इति संवर्गः– इस व्युत्पत्तिसे वायुका नाम अधिदेव संवर्ग है।

और जब वाक् लीन होती है तब प्राणमें ही लीन होती है। और जब चक्षु लीन होता है तब प्राणमें ही लीन होता है। और जब श्रोत्र लीन होता है तब प्राणमें ही लीन होता है। और जब मन लीन होता है तब प्राणमें ही लीन होता है। इसलिये 'संवृक्ते' इति संवर्गः-इस व्युत्पत्तिसे प्राणका नाम भी अध्यात्म संवर्ग है।

तथा च अध्यात्म अधिभूत अधिदेवरूप निखिल प्रपञ्चको संवर्गत्वगुणविशिष्ट प्राण व वायुरूपसे चिन्तन करके; पुनः संवर्गरूप हिरण्यगर्भमें 'संवर्गोऽहं' इस प्रकारका जो अभेद निश्चय है तिसका नाम संवर्गविद्या है।

इस संवर्गविद्याकी स्तुतिके लिये ही उत्तरत्र संवर्गविद्याके वाक्यशेषरूप अर्थवादमें चैत्ररथि अभिप्रतारी क्षत्रियका संकीर्तन है– **'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतु'** रित्यादि (छा० ४।३।४)। अर्थ—'अथ' शब्द संवर्गविद्याकी उक्तिके अनन्तर संवर्गविद्याकी स्तुतिके लिये अर्थवादके आरम्भका बोधक है। 'ह'का अर्थ अर्थवादरूप ऐतिह्य (आख्यायिका) है। एक समय कपिगोत्रवाला शौनक ऋषि और कक्षसेनका पुत्र काक्षसेनि अभिप्रतारी नामक राजा भोजनके लिये बैठे थे। और सूपकार परोस रहे थे। उसी समय एक संवर्गविद्याका अभिमानी ब्रह्मचारी भिक्षा मांगनेके लिये आया, उस ब्रह्मचारीको विद्याका अभिमानी समझकर "देखें यह क्या कहेगा" इस विचारसे परीक्षा करनेके लिये शौनक व राजा भिक्षा नहीं देते भये।

ब्रह्मचारी-हे कापेय ! चार महात्मावोंको अर्थात् 'अग्नि आदिक और वागादिक' को अकेला जो भक्षण करता है और जगत्का जो गोपा है सो कौन है ? हे अभिप्रतारिन् ! जो प्रजापति है तिसको अविवेकी मनुष्य नहीं जानते हैं। जिसके लिये यह अन्न पकता है तिसको ही नहीं दिया है। इस कहनेसे ब्रह्मचारीने अपनेमें संवर्गरूपता बोधन करी है।

शौनक-हे ब्रह्मचारिन् ! जिस प्रजापतिको तू कहता है यह प्रजापति सर्व स्थावरजङ्गमका आत्मा है, देवतावोंको व सर्व प्रजाको भक्षण करके पुनः २ उत्पन्न करता है, और अभग्नदंष्ट्र है, सर्वज्ञ है, इत्यादि अनेक रूपसे इसको हम जानते हैं–**'वयं*ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे'**। अर्थ–यहां 'आ इदम्' ऐसा च्छेद है। 'हे ब्रह्मचारिन् ! हम इसकी अच्छी तरहसे उपासना करते हैं इति।

इस आख्यायिकारूप अर्थवादसे प्रसिद्ध याजक जो कापेय शौनक ऋषि है तिसके साथ अभिप्रतारी राजाका योग प्रतीत होता है। इस योगसे अभिप्रतारी राजा याज्य प्रतीत होता है। और ब्रह्मचारीके

*टि०-"हे ब्रह्मचारिन् ! इस परिच्छिन्नकी हम उपासना नहीं करते हैं अर्थात् हम तो निरवच्छिन्न परब्रह्मके उपासक हैं" ऐसा अर्थ भी कोई करते हैं।

भिक्षा मांगनेसे राजामें अशूद्रत्वका निश्चय होता है । क्योंकि ब्रह्मचारी जो है सो शूद्रसे भिक्षा नहीं मांग सकता है । और कापेय शौनक ऋषिके योगसे अभिप्रतारी राजामें चैत्ररथित्व व क्षत्रियत्वका भी निश्चय होता है । क्योंकि चित्ररथ राजाका कपिगोत्रोत्पन्न ऋषियोंके साथ योग छान्दोग्य श्रुतिमें ही निश्चित होता है । तहां ताण्ड्य ब्राह्मण—**'एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन् ।'** अर्थ—इस छान्दोग्यमें प्रसिद्ध द्विरात्र नामक यज्ञ करके चित्ररथ राजाको कापेय ऋषि यजन कराते भये इति ।

शंका । चित्ररथमें कापेयका योगके हुये भी अभिप्रतारी राजामें चैत्ररथित्व किस प्रकार होगा ?

समाधान । समान वंशवालोंके प्रायः करके समान वंशवाले ही याजक होते हैं । अर्थात् चित्ररथ राजाका याजक कापेय है । और अभिप्रतारी राजाका भी याजक कापेय है । अतः, अभिप्रतारी राजामें चैत्ररथित्वका निश्चय होता है । और—**'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत'** इस वचन करके चैत्ररथिमें क्षत्रपतित्वका निश्चय होनेसे क्षत्रियत्वका निश्चय होता है ।

और क्षत्रिय जो अभिप्रतारी है तिसके साथ एक संवर्गविद्यामें जो राजा जानश्रुतिका संकीर्तन है सो जानश्रुति राजामें भी क्षत्रियत्वको सूचन करता है । क्योंकि समानोंके ही प्रायः करके समभिव्याहार होते हैं । किञ्च युधिष्ठिरादिकोंकी तरह अत्यन्त दानी राजा जानश्रुतिमें रैक्व ऋषिको अन्वेषण करनेके लिये सारथिको भेजनेसे, तथा ऐश्वर्यके योगसे, भी क्षत्रियत्वका निश्चय होता है । अतः शूद्रको वेदार्थके विचारसे उत्पन्न होनेवाली ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है इति ॥ ३५ ॥

अब 'शूद्रको वेदार्थविचारमें अधिकार नहीं है' इस अर्थमें सूत्रकार हेत्वन्तरको दिखाते हैं—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—१ संस्कारपरामर्शात्, २ तदभावाभिलापात्, ३ च । इस सूत्रमें तीन पद हैं । विद्याग्रहणका अङ्गरूप जो उपनयनरूप संस्कार है तिसका प्रायः सर्वत्र जहां २ विद्याका उपदेश है तहां २ परामर्श होनेसे, तथा शूद्रमें उपनयन संस्कारके अभावका अभिधान होनेसे भी शूद्रको ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है इति ।

वैदिक अर्थके विचारसे उत्पन्न होनेवाली विद्याके अधिकारमें निमित्त जो वेदाध्ययन व उपनयन है तिसके न होनेसे शूद्रको वैदिक विद्यामें अधिकार नहीं है यह अर्थ पूर्व कहा । और अब जहां २ वैदिक विद्याके उपदेशके प्रदेश हैं तहां २ शिष्योंमें उपनयन संस्कार, व वेदाध्ययन, व ऋषित्व व द्विजातित्वादिक ही

देखनेमें आते हैं, शूद्रत्व देखनेमें नहीं आता है। इस कारणसे भी शूद्रका वैदिक विद्यामें अधिकार नहीं है। इस अर्थको दिखाते हैं।

शंका। वह विद्याके प्रदेश कौन २ हैं जिनमें उपनयन संस्कारादिक देखनेमें आते हैं?

समाधान। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है—'तं होपनिन्ये।' अर्थ-आचार्य जो है सो शिष्यके उपनयनरूप संस्कारको करता भया इति। इस श्रुतिमें उपनयन देखनेमें आता है।

और छान्दोग्यके सप्तम अध्यायमें लिखा है—'अधीहि भगव इति होपससाद'। अर्थ—'हे भगवन्! मेरेको विद्याका उपदेश करें।' इस पूर्वोक्त मन्त्रका उच्चारण करता हुवा नारद ऋषि सनत्कुमारके शरणको प्राप्त होता भया इति। इस श्रुतिमें वेदाध्ययन व ऋषित्व देखनेमें आता है।

और प्रश्नोपनिषत्में लिखा है—'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः' इत्यादि। अर्थ—वेदोंके पारङ्गत तथा सगुण ब्रह्ममें निष्ठावाले तथा निर्गुण ब्रह्मका अन्वेषण करनेवाले जो भारद्वाजादिक षट ऋषि हैं सो "हमारे जिज्ञासित सर्व अर्थको ये पिप्पलाद ऋषि कहेंगे" ऐसा निश्चय करके समित्पाणि होकर भगवान् पिप्पलाद गुरुके शरणको प्राप्त होते भये। पश्चात् पिप्पलाद ऋषि तिन ऋषियोंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश करते भये इति। इस श्रुतिमें भी वेदाध्ययनादिक देखनेमें आते हैं इत्यादि।

शंका। छान्दोग्यके पञ्चम अध्यायमें स्थित वैश्वानर विद्यामें अनुपनीत पुरुषोंको भी ब्रह्मका उपदेश श्रवण होता है—'तान्हानुपनीयैवैतदुवाच।' (छा० ५।११।७)। अर्थात् उद्दालकादिक ऋषियोंको उपनयनके विना ही अश्वपति कैकेय राजाने वैश्वानर स्वरूप आत्माका उपदेश किया है। अतः उपनयनशून्य शूद्रका भी वैदिक विद्यामें अधिकार बन सकता है।

समाधान। शूद्रको वैदिक विद्यामें अधिकार नहीं है; क्योंकि इस वैश्वानर विद्यामें यह प्रसङ्ग है—एक समय प्राचीनशाल आदिक पांच ऋषि आपसमें मिलकर "को न आत्मा किं ब्रह्म" ऐसा विचार करते भये। जब स्वयं निर्णय न कर सके तब उद्दालकके पास आये। परन्तु उद्दालकने इनमें महाश्रोत्रियत्वका निश्चय करके मनमें विचार किया कि-"मैं इनके सर्व प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ न हो सकुंगा, अतः इनको कैकेय राजाके पास ले चलूं" ऐसा विचार करके उद्दालक तिन सर्व ऋषियोंको कैकेय राजाके पास लेजाकर राजासे कहता भया कि-"हे राजन्! इस समयमें जिस वैश्वानर आत्माको आप जानते हैं व स्मरण करते हैं तिस वैश्वानर आत्माको ही हमारे लोगोंके प्रति उपदेश करें" तब राजाने कहा कि—"हम कल प्रातःकाल उपदेश करेंगे"। उद्दालकादिक ऋषि जान गये कि—"हमलोग समित्पाणि होकर नहीं आये हैं इसलिये राजाने इस समय हमको उपदेश नहीं किया हैं"। पुनः

दूसरे दिन प्रातःसमय उद्दालकादिक ऋषि समिधोंको हाथोंमें लेकर अर्थात् समित्पाणि होकर राजाके पास आये। और राजा तिन ऋषियोंको उपनयनके विना ही वैश्वानर विद्याका उपदेश करता भया इति। अर्थात् इस प्रसङ्गकी पर्यालोचना करनेसे वैश्वानर विद्याके अधिकारी प्राचीनशाल आदिक ऋषियोंमें उपनयनसंस्कार निश्चित है।

शंका। इन ऋषियोंके उपनयनसंस्कारमें क्या प्रमाण है?

समाधान। 'ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः'। अर्थ—सो ये बड़े २ गृह व धर्मशाला व पाठशालावाले और अत्यन्त वेदाध्ययनवाले प्रसिद्ध प्राचीनशाल आदि पांचो ऋषि मिलकर ब्रह्मका विचार करते भये इति।

और 'प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियाः।' अर्थ—बड़ी २ शालावाले व महाश्रोत्रिय ये जो प्राचीनशाल आदिक ऋषि हैं ये मुझको पूछेंगे, परन्तु मैं इनके सर्व प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ न हो सकुंगा इत्यादि विचारको उद्दालक ऋषि करता भया इति। इत्यादिक छान्दोग्य श्रुति प्राचीनशाल आदिक ऋषियोंके वेदाध्ययन प्रयोजक उपनयनसंस्कारमें प्रमाण है। और उपनयनके विना वेदाध्ययन व महाश्रोत्रियत्व बने नहीं। अतः ऋषियोंमें महा श्रोत्रियत्वकी अनुपपत्ति भी उपनयनमें प्रमाण है। और 'तान्हानुपनीयैव' इस श्रुतिसे भी ऋषियोंमें उपनयनकी प्राप्ति ही सूचित होती है। क्योंकि प्राप्तिपूर्वक ही प्रतिषेध होता है। अर्थात् इन ऋषियोंका उपनयनादि संस्कार प्रथम ही हो गया था।

अथवा राजा क्षत्रिय था और ऋषि ब्राह्मण थे, अतः "उत्तम जातिवाले ब्राह्मणका उपनयन न्यून जातिवाले क्षत्रियको कर्तव्य नहीं है" इस मर्यादाको बोधन करनेके लिये 'तान्हानुपनीय' इस श्रुतिमें कहा कि—'राजाने उपनयन नहीं करके ही विद्याका उपदेश किया है'। वस्तुत उपनयन दो प्रकारका है। एक वेदाध्ययनके लिये विधिपूर्वक यज्ञोपवीतादि धारणरूप है। दूसरा ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये उपसदनरूप है। यह उपसदन भी दो प्रकारका है। एक तो विद्यार्थीका आचार्यके समीप गमनरूप है। और दूसरा आचार्यकर्तृक शिष्यत्वेन स्वीकार व स्वसमीपमें चिर अवस्थानकी अथवा स्वपादसेवादिकी अनुमतिःरूप है।

तहां महाश्रोत्रियत्वरूप लिङ्गसे प्रकृत ऋषियोंमें यज्ञोपवीत धारणरूप उपनयन सिद्ध है। तथाच इस प्रथम उपनयनका निषेध 'तान्हानुपनीय' इस श्रुतिसे करना व्यर्थ है। और उपनीतमें पुनः यज्ञोपवीतादि धारणारूप उपनयनकी प्रसक्ति भी है नहीं। और विद्यार्थीका आचार्यके समीप गमनरूप उपसदन नामक उपनयन भी ऋषियोंमें वर्तमान ही है तिसका निषेध भी नहीं बन सकता है।

अतः 'तान्हानुपनीय' इस श्रुतिमें परिशेषसे आचार्यकर्तृक शिष्यत्वेन स्वीकारादिरूप उपनयनका ही यह प्रतिषेध है। अर्थात् "उत्तम वर्ण व विद्यादि करके

युक्त शिष्यको हीनवर्णवाले गुरुने स्वसमीपमें चिरकाल वास व सेवादिके विना ही विद्या देनी चाहिये" इस आचारकी ज्ञापक 'तान्हानुपनीय' यह श्रुति है।

और बृहदारण्यकके द्वितीय अध्यायमें भी 'प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयात्' इत्यादि श्रुतिवचनसे क्षत्रिय राजा अजातशत्रुने भी गार्ग्यके प्रति क्षत्रिय व ब्राह्मणका आचार्य व शिष्यभावको विरुद्ध बतलाकर शिष्यत्वेन स्वीकारादिरूप उपनयनके विना ही उपदेश किया है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे उपनयनसंस्कार व वेदाध्ययन गुरुशुश्रूषादिकवाले पुरुषको ही विद्याग्रहणमें अधिकार है। और शूद्रमें उपनयनसंस्कारादिकोंका अभाव कहा है। अतः शूद्रको विद्यामें अधिकार नहीं है।

शंका। शूद्रके उपनयनरूप संस्काराभावमें क्या प्रमाण है?

समाधान। 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०।४)। इस स्मृतिसे शूद्र चौथा वर्ण है तथा एकजाति (उपनयनरूप द्वितीय जन्म रहित) है ऐसा सिद्ध होता है।

और—न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।' (मनु० १०।१२६) अर्थ—यद्यपि अहिंसा सत्यादिक धर्मोंको सार्ववर्णिक होनेसे हिंसा अनृतादिकसे पातक शूद्रमें अवश्य होता है। तथापि शूद्रको अभक्ष्य लशुनादिभक्षणसे किञ्चित् मात्र भी पातक नहीं होता है। तथा उपनयनरूप संस्कारके योग्य भी शूद्र नहीं है इति। इत्यादि स्मृति शूद्रके उपनयनसंस्काराभावमें प्रमाण हैं॥ ३६॥

अब 'शूद्रको विद्यामें अधिकार नहीं है' इस अर्थमें अन्य हेतुको सूत्रकार दिखाते हैं।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

अर्थ—१ तदभावनिर्धारणे, २ च, ३ प्रवृत्तेः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। सत्यकाम नामक शिष्यमें सत्यवचनसे शूद्रत्वके अभावका निश्चय हुये ही जो गौतम ऋषिकी सत्यकामके उपनयनादिकोंमें प्रवृत्ति है सो यह प्रवृत्ति भी शूद्रके अनधिकारमें लिङ्ग है इति। छान्दोग्यके चौथे अध्यायमें यह प्रसङ्ग है कि—सत्यकामने अपनी मातासे पूछा कि—हे मातः! मेरा गोत्र (वंश) कौन है? क्योंकि मैं ब्रह्मचर्यधारणपूर्वक विद्याके लिये आचार्यके समीप जाना चाहता हूं।

तब माता बोली कि—"हे तात! मैं पतिकी सेवामें ही अत्यन्त दत्तचित्त रहती थी। इसलिये तुम्हारे गोत्रको नहीं जानती हूं, यौवन अवस्थामें मैंने तुझको पाया था, तभी तुम्हारे पिताके मृत हो जानेसे मैं अनाथ हो गयी थी। 'जबाला मेरा नाम है, और सत्यकाम तुम्हारा नाम है' इतना मात्र मैं जानती हूं; सो तू यही आचार्यके पास जाकर कहना"। इसके अनन्तर सत्यकाम जब गुरु-

कुलमें गौतम ऋषिके पास गया और अपने ब्रह्मचर्यादिकके लिये प्रार्थना किया। तब गौतम ऋषिने पूछा कि—हे सोम्य! तुम्हारा गोत्र कौन है?

सत्यकामने कहा कि—हे भगवन्! मैं अपने गोत्रको नहीं जानता हूं तथा मेरी माता भी नहीं जानती है। मैंने मातासे पूछा था, परन्तु मेरी माताने कहा कि—"हे तात! मैं पतिकी सेवामें ही अत्यन्त दत्तचित्त रहती थी इसलिये तुम्हारे गोत्रको नहीं जानती हूं। योवन अवस्थामें मैंने तुझको पाया था, तभी तुम्हारे पिताके मृत हो जानेसे मैं अनाथ हो गई थी। जबाला मेरा नाम है, और सत्यकाम तुम्हारा नाम है, इतना मात्र मैं जानती हूं; सो तू यही आचार्यके पास जाकर कहना"। सो हे भगवन्! मेरा नाम सत्यकाम है तथा मेरी माताका नाम जबाला है।

इस वचनको श्रवणके अनन्तर "यह अब्राह्मण नहीं है, क्योंकि अब्राह्मणका ऐसा कोमल व सरल वचन नहीं हो सकता है, अतः इस सत्यकाममें शूद्रत्वकी संभावना नहीं है" ऐसा निश्चय करके गौतम ऋषिने कहा कि—हे सत्यकाम! तू द्विजाति है, क्योंकि 'न सत्यादगाः' 'तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है'। अतः 'उप त्वा नेष्ये' तुम्हारे उपनयनको हम अवश्य करेंगे। हे सोम्य! उपनयनके लिये समिधाको ले आवो। इस प्रकार गौतम ऋषि उपनयन तथा विद्याका उपदेश करनेके लिये प्रवृत्त होते भये इति। इस पूर्वोक्त श्रुतिसिद्ध प्रवृत्तिरूप लिङ्ग करके भी शूद्रमें विद्याका अधिकार नहीं है यह सिद्ध हुवा इति॥ ३७॥

अब "स्मृति करके भी श्रवणादिकोंका निषेध होनेसे शूद्रको विद्यामें अधिकार नहीं है" इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३८॥

अर्थ—१ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्, २ स्मृतेः, ३ च। इस सूत्रमें तीन पद हैं। इस स्मृतिरूप हेतुसे भी शूद्रको वेदके श्रवणका व वेदाध्ययनका और वेदार्थके ज्ञानका तथा वेदार्थके अनुष्ठानका निषेध होनेसे वैदिक विद्यामें अधिकार नहीं हो सकता है इति।

शंका। शूद्रको वेदके श्रवणादिकोंका निषेध करनेवाली स्मृति कौन है?

समाधान। 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्।'
अर्थ—प्रमादसे वेदको श्रवण करनेवाला जो शूद्र है तिस शूद्रके श्रोत्रमें सीसा तथा लाखको तपा करके भर देवे यह प्रायश्चित्त कर्तव्य है इति।

और—'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।'
अर्थ—यह जो शूद्र है सो संचारशील पैरोंवाला श्मशान है। अतः शूद्रके समीप अध्ययन नहीं करना चाहिये इति। और इन स्मृतियोंसे शूद्रमें वेदाध्ययनका भी निषेध

हो चुका। क्योंकि जिसके समीपमें वेदाध्ययन ही कर्तव्य नहीं है सो आचार्य करके उच्चारण किया हुवा वेदको श्रवण न करके किस प्रकार अध्ययन कर सकता है?

और इसी विषयमें अन्य स्मृतिके अर्थको दिखाते हैं—'**भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः**' इति। अर्थ—यदि शूद्र वेदका उच्चारण करे तो शूद्रकी जिह्वाका च्छेदन करना चाहिये। यदि शरीरके उपर वेदका धारण करे तो उसके शरीरका भेदन करना चाहिये इति। यह भी प्रायश्चित्त स्मृतिमें कहा है। अतः शूद्रको वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है। और जब शूद्रको वेदाध्ययनका निषेध हुवा। तब वेदार्थके ज्ञानका तथा वेदार्थके अनुष्ठानका भी निषेध अर्थात् हो चुका। क्योंकि अध्ययनादिके विना ज्ञान व अनुष्ठान बने नहीं।

और—'**न शूद्राय मतिं दद्यात्**' इति। '**द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्।**' इति च। 'शूद्रको वेदार्थका ज्ञान न देवे'। और 'द्विजातिको वेदाध्ययन, इज्या, व दानमें अधिकार है' इति। इत्यादिक स्मृति वचनोंसे भी शूद्रको वैदिक विद्यादिकमें अधिकार नहीं है। परन्तु 'दानञ्च दद्यात् शूद्रोऽपि' इत्यादिक स्मृतिके बलसे दानादिकका निषेध नहीं है। दानादि सत्कर्मोंको शूद्र भी कर सकता है।

शंका। वेदश्रवणादिकमें दण्डके विधान होनेसे शूद्रको वेदाध्ययनादिका निषेध होनेपर भी; जैसे वेदाध्ययनरहित मैत्रेयी आदिक स्त्रियोंमें विद्वानोंके द्वारा वैदिक विद्याका उपदेश व विद्या प्रसिद्ध है। तैसे ही शूद्रोंको भी वैदिक विद्याका अधिकार अवश्य होना चाहिये। किञ्च ईश्वर सर्व जगत्का पिता है, और शूद्र भी ईश्वरकी प्रजा हैं; और शूद्रोंके कल्याणके निमित्त भी ईश्वरको उपदेश कर्तव्य है। अतः शूद्रका वैदिक विद्यामें अधिकार अवश्य होना चाहिये। और सर्वथा यदि शूद्रमें ब्रह्मविद्याका अधिकार न होवे तो विदुरादिकोंमें भी ब्रह्मविद्याका श्रवण नहीं होना चाहिये।

समाधान। 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इत्यादि शास्त्रके बलसे राजसूयादि यज्ञोंमें जैसे ब्राह्मणादिका अधिकार नहीं है। तैसे ही वेदविद्यामें भी शूद्रका अधिकार सिद्ध नहीं हो सकता है। और विदुर, धर्मव्याध आदिक शूद्रोंमें जो ज्ञानकी उत्पत्ति कही है सो पूर्वकृत संस्कारके बलसे बन सकती है। क्योंकि विदुरादिकोंने पूर्व जन्ममें वेदाध्ययनादिक ज्ञानकी सामग्रीको सम्पादन किया था। परन्तु किसी प्रतिबन्धसे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुये प्रतिबन्धके निवृत्त होनेसे ज्ञानको प्राप्त होकर मुक्त हो गये। तिनकी ब्रह्मविद्याका व मुक्तिरूप फलप्राप्तिका प्रतिषेध कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि ज्ञानमें मुक्तिकी कारणता नियत है।

शंका। यद्यपि सिद्ध विदुरादिकोंकी जो व्यवस्था कही है सो सत्य है, तथापि जो साधक शूद्र हैं तिनोंको ज्ञानकी प्राप्ति किस प्रकार होगी?

समाधान । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इत्यादिक वचनों करके इतिहास-पुराणादिकोंके श्रवणमें चारों वर्णोंका अधिकार है। अतः सत् शूद्र जो है सो इतिहासपुराणादिकोंका श्रवण करके ब्रह्मविद्यादिको सम्पादन कर सकता है। वैध उपनयनका ही शूद्रको निषेध है । गुरूपसदनादिरूप लौकिक संस्कारका निषेध नहीं है। इस पूर्वोक्त रीतिसे वेदके अर्थको विचार करके उत्पन्न होनेवाली ब्रह्मविद्यामें द्विजातिका ही अधिकार है शूद्रका नहीं यह सिद्ध हुवा इति ॥ ३८ ॥

इति अपशूद्राधिकरणम् ॥

'शब्दादेव प्रमितः' इत्यादि तृतीय पादके सप्तम प्रमिताधिकरणमें 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इस कठ श्रुतिका विचार करते हुये 'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्' इस सूत्रसे शास्त्रमें मनुष्यका अधिकार होनेसे मनुष्यके हृदयकी अपेक्षासे सर्वगत परमात्मामें भी अङ्गुष्ठमात्रत्वकी उपपत्ति कही । इस अधिकारके प्रसङ्गसे 'तदुपर्यपि बादरायणः' इत्यादि आठ सूत्रोंसे अष्टम देवताधिकरणमें देवतावोंमें भी वेदविद्याके अधिकारका वर्णन किया। पुनः प्रसङ्गसे 'शुगस्य तदनादर' इत्यादि पांच सूत्रोंसे नवम अपशूद्राधिकरणमें शूद्रको वेदविद्याके अधिकारका निषेध किया। अब प्रासङ्गिक अधिकारका विचार समाप्त हो गया है। अतः प्रकृत जो कठवाक्यका विचार है तिसको ही सूत्रकार प्रवृत्त करते हैं:—

कम्पनात्* ॥ ३९ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है । सम्पूर्ण जगत्‌की चेष्टारूप कम्पनलिङ्गसे 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यमें स्थित 'प्राण' शब्द करके चैतन्यरूप ब्रह्मका ही ग्रहण करना वायुका नहीं इति ।

---

* टि०—**शंका** । 'अत एव प्राणः' इस अधिकरणसूत्रके विषयवाक्यमें कह आये हैं कि—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति । अर्थ—ये सम्पूर्ण भूत प्राणमें ही लयभावको प्राप्त होते हैं तथा प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं इत्यादि इति । जैसे तहां सर्व भूतोंका लयादिरूप लिङ्ग करके ब्रह्मरूप प्राणमें श्रुतिका समन्वयको दिखाया है। तैसे यहां भी सर्व जगत्‌की चेष्टा तथा भयहेतुत्वरूप ब्रह्मके लिङ्गको विद्यमान होनेसे प्राणरूप ब्रह्ममें ही इस श्रुतिका समन्वय हो सकता है। अर्थात् 'अत एव प्राणः' इस अधिकरण करके ही 'कम्पनात्' यह अधिकरणसूत्र गतार्थ है। इस कारणसे यहां पूर्वपक्षका अवसर ही नहीं बन सकता है। अतः यह अधिकरण व्यर्थ है ?

समाधान । यह किसीका कहना असङ्गत है, क्योंकि 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इत्यादि वाक्यमें ब्रह्मका स्पष्ट लिङ्ग नहीं है। अतः निर्णयके लिये 'कम्पनात्' इस अधिकरणकी रचना बन सकती है। अथवा 'अत एव प्राणः' इस प्राणाधिकरणका ही यह कम्पनाधिकरण प्रपञ्च है।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतं। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥' (क० २।६।२) यह मन्त्र इस सूत्रका विषय है।

अर्थ—यह सम्पूर्ण जगत् जिस प्राणसे उत्पन्न होता है; तथा जिस प्राणरूप चिदात्मा प्रेरकके हुये ही चेष्टा करता है; सो प्राणरूप कारण ब्रह्म ही है। और इस ब्रह्मसे सूर्यादिक भी भयको प्राप्त होते हैं, अतः यह ब्रह्म महत् भयरूप है। और ब्रह्ममें जो भयहेतुत्व है तिसमें दृष्टान्तको दिखाते हैं। जैसे 'उद्यत' कहिये उठाया हुवा वज्र भयका हेतु होता है। तैसे ब्रह्म भी अनीति युक्त जीवोंको भयका हेतु है। और जो प्राणी इस प्राणरूप निर्विशेष ब्रह्मको जानते हैं सो मुक्त हो जाते हैं इति।

शंका। इस सूत्रमें 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्' इस वाक्यका उदाहरण किस प्रकार दिया है?

समाधान। इस सूत्रमें 'एजृ कम्पने' एजृ धातुका अर्थ जो कम्पन है तिसका कथन है। अत 'एजति' पद्युक्त वाक्यका उदाहरण दिया है इति।

इस विषयवाक्यमें प्राणके आश्रित सर्व जगत् चेष्टा करता है यह प्रतीत होता है। और 'उद्यत वज्र' शब्द करके उक्त महद् भयका कारण कुछ प्रतीत होता है। तथा तिसके ज्ञानसे मुक्ति होती है ऐसा श्रवण होता है। अत यहां प्राण शब्द करके पञ्च वृत्तिवाले वायुका ग्रहण करना अथवा सर्व जगत्को कम्पानेवाले ब्रह्मका ग्रहण करना यह संशय होता है।

तहां विशेषकी प्रतिपत्ति (निश्चय) न होनेसे 'यह प्राण कौन है' और 'सो भयानक वज्र क्या है' ऐसी जिज्ञासा होती है।

अथ पूर्वपक्ष। 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यमें विचार करने पर प्राण शब्द करके चेष्टाजनक प्राणवायुकी ही प्रतीति होती है।

शंका। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' यह वाक्य जैसे जीवका अनुवादक है, तैसे ही 'यदिदं किञ्च' यह वाक्य भी प्राणका अनुवादक क्यों न हो?

समाधान। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इस वाक्यमें जैसे जीवका ब्रह्मके साथ मुख्य ऐक्यज्ञानके लिये जीवका अनुवाद किया है। तैसे यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्' इस वाक्यमें प्राणका ब्रह्मके साथ मुख्य ऐक्यज्ञानके लिये प्राणका अनुवाद नहीं बन सकता है। क्योंकि कल्पित जो प्राण है तिसका ब्रह्मके साथ ऐक्यज्ञान नहीं बन सकता है। अतः यह वाक्य प्राणकी उपासनाका ही बोधक है।

इस अर्थमें भाष्यको दिखाते हैं—'प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिर्वायुः प्राणः' इत्यादि भा०। अर्थ—'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यमें प्राण, व्यान, अपान, समान,

उदान, इस भेद करके पञ्चवृत्तिवाला प्रवृत्तिका हेतु जो वायु है सो ही प्राण है। क्योंकि लोकमें यह वार्ता प्रसिद्ध है इति। और वज्र अशनिका नाम है; अशनि वायुका परिणाम विशेष है। यह वार्ता भी शास्त्रमें प्रसिद्ध है। अतः यह सर्व वायुके माहात्म्यका संकीर्तन है।

शंका। वायुके माहात्म्यका संकीर्तन किस प्रकार है।

समाधान। यह दृश्यमान जो सम्पूर्ण जगत् है सो प्राण शब्दका वाच्य जो पञ्च वृत्तिवाला वायु है तिस वायुमें स्थितिको प्राप्त होकर वायुरूप निमित्तके हुये ही चेष्टा करता है। और वायु निमित्तक ही महा भयानक वज्रका उद्यमन व निपातन होता है। और बाह्य वायु ही धूम, ज्योतिः, सलिल करके युक्त हुवा मेघरूपसे परिणत होकर विद्युत्, स्तनयित्नु, वृष्टि व अशनिरूपसे परिणत होता है। यह परिणामवेत्तावोंका कथन है। और वायुकी उपासनारूप ज्ञानसे ही 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' यह आपेक्षिक अमृतभावकी उपपत्ति भी बन सकती है। और जैसे 'य एतद्विदुः' इस मन्त्रमें वायुके ज्ञानसे अमृतत्व कहा है। तैसे ही अन्य श्रुतिमें भी वायुके ज्ञानसे मोक्ष कहा है। तहां श्रुतिः— **'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद।'** बृ०। अर्थ— वायु ही व्यष्टिरूप है तथा वायु ही समष्टिरूप है इस प्रकार जो पुरुष जानता है सो अपमृत्युरूप संसारदुःखको तर जाता है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यमें स्पष्ट ब्रह्मके लिङ्गको न होनेसे प्राण शब्द करके वायुका ही ग्रहण करना ब्रह्मका नहीं इति।

अथ सिद्धान्तपच। इस पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है— **'ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्'** इत्यादि भा०। यहां विद्वदनुभवसिद्ध ब्रह्म ही जाननेको योग्य है। अर्थात् प्राण शब्द करके 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्' इत्यादि वाक्यमें ब्रह्मका ही ग्रहण करना, पञ्च वृत्तिवाले वायुका नहीं। क्योंकि—'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यके पूर्व तथा उत्तर ग्रन्थकी आलोचना करनेसे पूर्व तथा उत्तर ग्रन्थभागमें ब्रह्म ही निर्दिश्यमान प्रतीत होता है।" मध्यमें स्थित इस वाक्यमें ही अकस्मात् पञ्च वृत्तिवाले वायुके निर्देशको हम किस प्रकार जान सकते हैं अर्थात् नहीं जान सकते हैं।

तहां पूर्ववाक्यको दिखाते हैं—**तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥** (क० २।६।१) अर्थ— यह जो स्वप्रकाश चिद्रूप पुरुष है सो इन्द्रियोंके सो जानेपर भी काम्यमान स्त्री पुत्र पशु आदिकोंको रचता हुवा जागता ही रहता है। अर्थात् इस द्रष्टाकी दृष्टिका लोप कभी नहीं होता है। तथा च जाग्रत् व स्वप्नादिरूप निखिल संसारवृक्षका मूल व द्रष्टारूप करके वर्णित जो पुरुष है सोई पुरुष 'शुक्रं' कहिये सर्व उपाधि करके रहित शुद्ध है। तथा स्वयंप्रकाश है। तथा व्यापक ब्रह्मस्वरूप है। तथा उक्त आत्मतत्त्व ही 'अमृत' कहिये मोक्षरूप

शास्त्रमें कहा है। तिस ब्रह्ममें ही सम्पूर्ण पृथिव्यादिक स्थावर तथा सम्पूर्ण प्राणी स्थित हैं। कोई पदार्थ भी ब्रह्म स्वरूपको 'नात्येति' कहिये ब्रह्मरूपताको अतिक्रमण करके अन्यभावको नहीं प्राप्त हो सकता है इति।

इस मन्त्र करके निर्दिष्ट जो ब्रह्म है सोई ब्रह्म 'यदिदंकिञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति' इस मन्त्रमें सर्वलोकाश्रयत्वकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे व पूर्व मन्त्रके सन्निधानसे निर्दिष्ट है ऐसा निश्चय होता है। और परमात्मामें ही इस प्राण शब्दका प्रयोग अन्य श्रुतियोंमें भी किया है, क्योंकि—'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) 'परमात्मा प्राणका भी प्राण है' ऐसा प्रयोग देखा गया है इति। और वायु आदिक सर्व जगत्की यह चेष्टाकारयितृत्व भी परमात्मामें ही बन सकता है वायु मात्रमें नहीं। तहां श्रुतिः—'**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥**' (क० ५।५) अर्थ—प्राण तथा अपान करके कोई प्राणी नहीं जीते हैं। किन्तु 'इतरेण' कहिये तिस परमात्मा करके ही सर्व जीवनको प्राप्त होते हैं। जिस परमात्माके आश्रित ये प्राण तथा अपान हैं इति। इन पूर्वोक्त वचनोंसे वायु करके सहित निखिल प्रपञ्चका कम्पन करानेवाला परमात्मा ही है वायु नहीं यह सूत्रका अर्थ सिद्ध हुवा इति।

अब उत्तर ग्रन्थको दिखाते हैं—**भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥** (क० २।६।३) इत्यादि। अर्थ—इस परमात्माके भयसे ही अग्नि तथा सूर्य तपता है, इन्द्र वृष्टिको करता है, वायु चलता है, तथा पञ्चम यमराज भी प्राणियोंके भोग समाप्त हुये प्राणहरणके लिये धावन करता है इति। इस उत्तरमन्त्रमें भी ब्रह्मका ही निर्देश करेंगे वायुका नहीं, क्योंकि "जिस ब्रह्मका 'महद्भयम्' 'वज्रमुद्यतम्' इत्यादि करके 'यदिदं किञ्च' इस पूर्व मन्त्रमें निर्देश किया है। तिस ब्रह्मका ही; वायुके सहित सर्व जगत्को भयहेतुत्वका अभिधान होनेसे, और ब्रह्म प्रतिपादक मन्त्रका सन्निधान होनेसे, और भयहेतुत्वकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे, 'भयादस्याग्निस्तपति' इस उत्तर मन्त्रमें भी निर्देश किया है" यह निश्चय होता है।

शंका। ब्रह्ममें वज्र शब्दका प्रयोग किस प्रकार बन सकता है?

समाधान। भयहेतुत्वरूप गुण करके अर्थात् गौणीवृत्ति करके ब्रह्ममें वज्र शब्दका प्रयोग बन सकता है। और इन्द्रादि राजाके हाथमें उठाये हुये वज्रको देखकर; जैसे "यदि इस राजाके शासनको हम नहीं पालन करेंगे तो यह उद्यत वज्र मेरे शिरके उपर पड़ेगा" ऐसा भय करके प्रजा नियमसे राजाके शासनमें प्रवृत्त होती है। तैसे ही यह अग्नि वायु सूर्यादिक सम्पूर्ण जगत् भी ब्रह्मसे भयको प्राप्त हुवा, नियम करके अपने अपने व्यापारमें प्रवृत्त होता है, अतः भयानक वज्रकी उपमा ब्रह्मकी दी है इति।

इसी प्रकार अन्य श्रुतिमें भी ब्रह्मको भयका हेतु कहा है—**भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥**

(तै० २।८।१)। अर्थ पूर्वोक्त श्रुतिके अनुसार ही जानना। **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुद-रमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य॥** (तै०) अर्थ—जब यह जीव इस अद्वितीय स्वप्रकाश ब्रह्ममें उपास्योपासकभाव ज्ञातृज्ञेय-भावादिरूप अल्प भी अन्तर (भेददृष्टि) को करता है; तब इसको ब्रह्म ही भयका हेतु होता है। अर्थात् अभेददृष्टि करके रहित 'ब्रह्म उपास्य है मैं उपासक हूं' इस प्रकार जाननेवालेको भी ब्रह्मतत्त्व ही भयका हेतु होता है इत्यादि इति। और विषयवाक्यमें अमृतत्वरूप फलके श्रवणसे भी प्राण शब्द करके परमात्माका ही निश्चय होता है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। तहां श्रुतिः—**'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'** अर्थ—ब्रह्मका साक्षात्कार करके ही संसारदुःखरूप मृत्युको तरता है। मोक्षरूप अमृतके लिये 'नान्यः पन्था' कहिये दूसरा मार्ग व उपाय नहीं है इति। और वादीने जो कहा था कि—'वायु ही व्यष्टि है, वायु समष्टि है' इस प्रकार जो जानता है सो अपमृत्युको तर जाता है? सो भी असङ्गत है। क्योंकि यह जो वायुकी उपासनारूप ज्ञानसे अमृतत्व कहीं बृहदारण्यादिकमें कहा है सो आपेक्षिक है मुख्य नहीं है। क्योंकि तहां बृहदारण्यकके ही पञ्चम अध्यायमें 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः' इत्यादिसे वायुकी उपासनाके प्रकरणको समाप्त करके पुनः वायुरूप सूत्रात्माके कथनसे अनन्तर 'अथ हैनमुषस्तः पप्रच्छ' इत्यादिसे ज्ञेय परमात्मारूप अन्तर्यामीको कहकर परमात्मासे भिन्न सर्व वायु आदिकोंको 'अतोऽन्यदार्तम्' इस मन्त्र करके विनाशी कहा है। और मुख्यके सम्भव हुये अमुख्यकी कल्पना बने नहीं।

और प्रकरणसे भी 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति' इस मन्त्रमें ब्रह्मका ही निश्चय होता है क्योंकि—**'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत्पश्यसि तद्वद॥'** (क० २।१४) अर्थ—यज्ञादिक धर्मसे तथा शास्त्र अविहित हिंसादिक अधर्मसे तथा कार्य कारणसे तथा भूतादिक कालसे तथा तिन कालोंमें होनेवाले पदार्थोंसे भिन्न परिच्छेदशून्य स्वतःप्रकाश जो वस्तु है तिस आत्मतत्त्वरूप वस्तुको यदि आप जानते हो तो मेरे प्रति कथन करो इति। इस प्रकार नचिकेताने धर्मराजके प्रति पूछा है। इसी प्रश्नका उत्तररूप ही 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' यहांसे लेकर समस्त कठोपनिषत् है। अतः 'यदिदं किञ्च' इत्यादि कठमन्त्रका ज्ञेय ब्रह्ममें ही समन्वय सिद्ध हुवा। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'यदिदं किञ्च' इस मन्त्रमें प्राण शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना पञ्च वृत्तिवाले वायुका नहीं यह सिद्ध हुवा इति। यहां पूर्वपक्षमें प्राणकी उपासना फल है; और सिद्धान्तमें ब्रह्मका ज्ञान फल है इति॥ ३९॥

इति कम्पनाधिकरणम्॥

प्रकरण करके अनुगृहीत ब्रह्मके बोधक कम्पनादिक बहुत लिङ्गोंका विरोध होनेसे पूर्व अधिकरणमें 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस मन्त्रमें स्थित प्राण

श्रुतिको मुख्य अर्थ वायुका त्याग करके ब्रह्मपरत्व जैसे किया है। तैसे ही इस अग्रिम अधिकरणमें भी प्रकरण करके अनुगृहीत 'स उत्तमः पुरुषः' इस श्रुति करके 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' इस मन्त्रमें स्थित ज्योतिः शब्दका मुख्य अर्थ जो सूर्यादिक तेज है तिसके बाधको सूत्रकार दिखाते हैं:—

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

अर्थ—इस सूत्रमें दो पद हैं। १ ज्योतिः, २ दर्शनात्। 'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्' इस वाक्यमें स्थित 'ज्योतिः' शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहंण करना, क्योंकि इस प्रकरणमें तिस ब्रह्मकी ही वक्तव्यरूप करके अनुवृत्ति देखनेमें आती है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं-छान्दोग्यमें ऐसा श्रवण होता है- 'एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।' यह इस सूत्रका विषयवाक्य है।

अर्थ—जैसे शिरपाणि आदिरूप शरीर करके रहित जो वायु, अभ्र, व विद्युतादिक हैं सो वर्षावसान कालमें आकाशभावापन्न हुये वर्षाकालमें आदित्यके तेजको प्राप्त हो करके अपने २ वायु आदिक रूपसे निष्पन्न होते हैं। तैसे ही वस्तुतः शरीर रहित यह जो 'संप्रसाद' जीव है सो भी अविद्यादशामें देहात्मभावापन्न हुवा ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके उपदेश करके अर्थात् "तू प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मरूप है, देहादिकोंसे तथा देहादिकोंके धर्मोंसे रहित है" इस प्रकारके उपदेशको प्राप्त हो करके इस शरीरसे 'उत्थाय' कहिये देहाभिमानको त्यागकर परमात्मरूप ज्योतिको प्राप्त हो करके स्वतःप्रकाश परज्योतिरूप अपने स्वरूपसे निष्पन्न होता है इति।

तहां संशयको दिखाते हैं-'एष सम्प्रसादोऽस्मात्' इस वाक्यमें 'ज्योतिः' शब्द जो है सो चक्षुका विषय तथा तमको नाश करनेवाला सूर्यादिक तेजविषयक है अथवा पर ब्रह्मविषयक है इति।

वस्तुतः यहां ज्योतिः शब्दका अर्थ क्या प्राप्त हुवा ऐसी जिज्ञासाके हुये—

जैसे पूर्व अधिकरणमें ब्रह्म प्रकरणका अनुग्राहक जो 'यदिदंकिञ्च जगत्सर्वम्' इस श्रुतिमें स्थित 'सर्व' शब्दके संकोचका अभाव है तिसके बलसे प्राणश्रुतिका ब्रह्ममें समन्वय किया है। तैसे यहां 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इस प्रकरणका अनुग्राहक कोई देखनेमें नहीं आता है। अतः प्रति उदाहरण करके अर्थात् व्यतिरेकी दृष्टान्तके बलसे पूर्वपक्षी पूर्वपक्षको दिखाता है—'प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति' इत्यादि भा०। अर्थ—ज्योतिः शब्द जो है सो प्रसिद्ध सूर्यादिक तेजविषयक ही है। क्योंकि ज्योतिः शब्द तेजमें ही रूढ़ है। अतः यहां ज्योतिः शब्द करके प्रसिद्ध सूर्यादिक तेजका ही ग्रहण करना ब्रह्मका नहीं इति।

शंका। ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इस अधिकरणमें ज्योतिः शब्दकी ब्रह्ममें वृत्ति कह ही आये हैं, अतः यहां पूर्वपक्ष नहीं बन सकता है?

समाधान। यह कहना असंगत है, क्योंकि जैसे—'**यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते**' इस वचनमें, प्रकृत ब्रह्मका परामर्शक 'यत्' शब्दके साथ ज्योतिः शब्दका सामानाधिकरण्य होनेसे, और द्युसम्बन्धरूप लिङ्ग करके ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे, ज्योतिः शब्द जो है सो अपना मुख्य अर्थ जो तेज है तिसको त्याग करके ब्रह्ममें वर्तता है। तैसे यहां ज्योतिः शब्दका मुख्य अर्थके त्यागमें कोई हेतु देखनेमें नहीं आता है, अतः पूर्वपक्ष समीचीन है इति।

शंका। '**एष सम्प्रसादोऽस्मात्**' इस वाक्यमें भी 'परं ज्योतिः' यह जो ज्योतिमें 'परत्व' विशेषण है तिसकी, और स्वरूपाभिनिष्पत्तिकी, और उत्तम-पुरुषत्वकी आदित्यादि तेजरूप ज्योतिःपक्षमें उपपत्ति न होनेसे ज्योतिः शब्दका प्रसिद्ध तेज अर्थ नहीं बन सकता है।

समाधान। प्रकृत ज्योतिः शब्दका आदित्यरूप तेज ही अर्थ मानना चाहिये। क्योंकि जैसे छान्दोग्यके अष्टम अध्यायके नाड़ी खण्डमें—'**अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते**'। अर्थ—प्रारब्ध कर्मके क्षयसे अनन्तर जिस कालमें यह जीव शरीरसे उत्क्रमण करता है तिस कालमें नाड़ियोंमें फैली हुई रश्मियोंके द्वारा ऊर्ध्व गमन करके अर्चिरादि मार्गमें स्थित ब्रह्मलोकका द्वाररूप आदित्यको प्राप्त होता है इति। इत्यादि मन्त्र करके मुमुक्षुको आदित्यकी प्राप्ति कही है।

तैसे ही 'एष सम्प्रसादोऽस्मात्' यह मन्त्र भी छान्दोग्यके अष्टम अध्यायका ही है। अत इस मन्त्रमें स्थित 'सम्प्रसाद' पदका अर्थ जो जीव है सो भी शरीरको त्याग करके परज्योतिरूप आदित्यको ही प्राप्त होता है। पश्चात् आदित्यद्वारा ब्रह्मलोकमें प्राप्त होकर तत्त्वज्ञान द्वारा स्वस्वरूपको प्राप्त होता है। अतः 'परं ज्योतिः' यह 'परत्व' विशेषण भी, अर्चि, अह, व शुक्लपक्षादिकी अपेक्षासे आदित्यमें बन सकता है। क्योंकि अर्चिरादिकी अपेक्षासे आदित्य पर है। और 'स्वरूपाभिनिष्पत्ति' और 'उत्तमपुरुषत्व' इन दोनों विशेषणोंकी भी उपपत्ति बन सकती है। क्योंकि ब्रह्मलोकद्वारा ज्ञात आत्मामें भी स्वरूपकी अभिनिष्पत्ति व उत्तमपुरुषत्व विद्यमान ही है। अतः प्रसिद्ध सूर्यरूप तेज ही ज्योतिः शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है ब्रह्म नहीं इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष**। इस प्रकारके पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है कि—'**परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्**' इत्यादि भा०। अर्थ—'एष सम्प्रसादोऽस्मात्' इस मन्त्रमें स्थित ज्योतिः शब्दका अर्थ परब्रह्म ही है सूर्यादिक तेज नहीं। क्योंकि इस प्रकरणमें सर्वत्र ब्रह्मका ही दर्शन होता है। अर्थात् इस प्रकरणमें ब्रह्मकी ही वक्तव्यरूप करके अनुवृत्ति देखनेमें आती है इति। और जिस वस्तुकी उपक्रममें प्रतिज्ञा होती है, और जिस वस्तुका मध्यमें अनुसन्धानरूप परामर्श होता है; और जिस वस्तुका अन्तमें उपसंहार होता है; सो ही प्रधान प्रकरणका अर्थ होता है। और

इनके मध्यगत जितने वाक्य होते हैं तिन सर्वका प्रकरण करके प्रतिपाद्य वस्तु परत्वेन ही समन्वय होता है। यह शास्त्रकी मर्यादा है।

तथाच छान्दोग्यके अष्टम अध्यायमें पञ्चदश खण्ड हैं, और दो प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरणरूप छै खण्डोंमें दहरविद्याका प्रतिपादन है। और द्वितीय प्रकरणमें—**'य आत्मा अपहतपाप्मा'** इत्यादि सप्तम खण्डसे लेकर ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त शरीररहित निर्गुण आत्माका ही प्रतिपादन है। अतः द्वितीय प्रकरणमें स्थित—**'एष सम्प्रसादोऽस्मात्'** यह मन्त्र भी निर्गुण ब्रह्मका ही प्रतिपादक है।

शंका। इस द्वितीय प्रकरणके उपक्रममें निर्गुण ब्रह्मविषयक प्रतिज्ञावाक्य कौन है? और परामर्शवाक्य व उपसंहारवाक्य कौन है?

समाधान। इस प्रकरणके आदिमें—**'य आत्मा अपहतपाप्मा'** इत्यादि मन्त्रसे अपहतपाप्मत्वादिक गुणवाले ब्रह्मकी अन्वेष्टव्य तथा विजिज्ञासितव्यरूप करके प्रतिज्ञाकी प्रतीति होती है।

और **'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'** इस वचनसे प्रजापतिने इन्द्रके प्रति पूर्वोक्त पाप्मादिरहित आत्माका ही तीन वार मध्यमें परामर्श करके उपदेश किया है।

और **'स उत्तमः पुरुषः'** इस वचनसे अन्तमें निर्गुण परमात्माका ही उपसंहार किया है। क्योंकि—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'** इत्यादि स्मृतिसे परमात्मा ही उत्तम पुरुष है।

और **'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'**। अर्थ—शरीरादिकोंमें आत्मत्व भ्रम करके रहित जो विद्यमान ब्रह्मनिष्ठ पुरुष है तिसको सुख दुःखादिक स्पर्श नहीं करते हैं इति। इस श्रुतिमें कहा हुवा जो अशरीरत्वरूप फल है, तिस फलरूप लिङ्गके श्रवणसे भी परज्योतिः ब्रह्म स्वरूप ही है सूर्यादिक नहीं। क्योंकि ब्रह्मप्राप्तिसे अन्यत्र सूर्यादिक ज्योतिकी प्राप्तिसे अशरीरतारूप फल बने नहीं। और इस ज्योतिवित् पुरुषमें अशरीरतारूप फलके लिये ही—**'परं ज्योतिरुपसंपद्य'** इस वचन करके ज्योतिःसंपत्तिका कथन किया है। और ब्रह्मरूप होनेसे ब्रह्मवित् पुरुषमें अशरीरत्व बन सकता है।

शंका। मुमुक्षुको सूर्यकी प्राप्ति द्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर तत्त्वज्ञानसे अशरीरता बन सकती है अतः परज्योतिः शब्दका अर्थ सूर्य कह सकते हैं।

समाधान। यहां परज्योतिः शब्दका अर्थ सूर्य नहीं हो सकता है। क्योंकि इस परज्योतिको ही 'स उत्तमः पुरुषः' इस अग्रिम वाक्यसे उत्तम पुरुषरूप कहा है। अतः ज्योतिमें ही अशरीरत्वका निश्चय होनेसे परज्योतिः शब्द करके ब्रह्म ही

ग्राह्य है आदित्य नहीं। तथाच पूर्वोक्त प्रतिज्ञा, और परामर्श और उपसंहार और फल रूप लिङ्गसे इस प्रकरणमें ब्रह्मकी ही अनुवृत्ति देखी गई है। अतः परज्योतिः शब्दका अर्थ ब्रह्म ही है आदित्यादिक तेज नहीं है।

और जो वादीने कहा था कि—जैसे छान्दोग्यके अष्टम अध्यायके नाड़ी खण्डमें मुमुक्षुको आदित्यकी प्राप्ति कही है। तैसे ही द्वितीयप्रकरणके 'एष सम्प्रसादो' इस मन्त्रमें भी मुमुक्षु परज्योतिरूप आदित्यको ही प्राप्त होता है इत्यादि।

सो कहना असङ्गत है क्योंकि नाड़ीखण्डमें जो दहरोपासक पुरुषको आदित्यकी प्राप्ति कही है, सो आत्यन्तिक मोक्ष नहीं कहा है; किन्तु आदित्य प्राप्तिद्वारा कार्यब्रह्मलोककी प्राप्ति कही है। क्योंकि तहां—'शरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' यह गति और उत्क्रान्तिका सम्बन्ध है। और आत्यन्तिक मोक्षमें गति तथा उत्क्रान्ति नहीं होती है। इस अर्थको चतुर्थाध्यायके 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' इत्यादि सूत्रमें कहेंगे। और आदित्यकी प्राप्तिमें गति तथा उत्क्रान्ति होती है। भाव यह है कि—'एष संप्रसादो' इत्यादि मन्त्र छान्दोग्यके अष्टमाध्यायके प्रथम दहरविद्याप्रकरणमें भी है। और 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादि निर्गुण ब्रह्मप्रतिपादक द्वितीयप्रकरण में भी है। तहां दहरविद्यागत नाड़ीखण्डमें जो दहरोपासकको सूर्यकी प्राप्ति कही है; सो आत्यन्तिक मोक्ष नहीं है। अतः दहरप्रकरणमें स्थित—'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इस वाक्यमें परज्योतिः शब्द करके सूर्यको उक्ति युक्त है। परन्तु प्रजापतिके वाक्यों करके प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्मविद्यामें अर्चिरादि मार्गमें स्थित सूर्यकी प्राप्तिका अभाव होनेसे यहां निर्गुण ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें स्थित 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इस वाक्यका "परज्योतिः" स्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करके तिस परज्योतिको ही प्राप्त होता है" ऐसा ही अर्थ जानना इति। यहां पूर्वपक्षमें सूर्यको उपासना करके ब्रह्मलोकद्वारा क्रममुक्ति फल है। और सिद्धान्तमें ब्रह्मज्ञानसे साक्षात् मुक्ति फल है इति ॥४०॥

इति ज्योतिरधिकरणम् ॥

पूर्व अधिकरणमें उपक्रमसे और प्रकरणसे अनुगृहीत जो 'उत्तमः पुरुषः' इत्यादिक श्रुति स्मृति हैं तिन करके 'परं ज्योतिः' इस वाक्यमें स्थित 'ज्योतिः' शब्दका सूर्यादिक तेजमें बाधको कह आये हैं। अब 'नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादि अग्रिम विषयवाक्यमें स्थित नामरूपनिर्वाहकर्तृत्वादिक लिङ्ग करके अनुगृहीत जो ब्रह्म तथा आत्म श्रुति हैं तिन करके भूताकाशमें आकाशश्रुतिके बाधको सूत्रकार दिखाते हैं—.

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

अर्थ—१ आकाशः, २ अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'आकाशो

वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इस वाक्यमें स्थित 'आकाश' शब्द करके भूताकाशका ग्रहण नहीं करना। किन्तु परमात्माका ही ग्रहण करना। क्योंकि सम्पूर्ण नामरूपका निर्वाहक होनेसे आकाशादिक नामरूप जगत्से भिन्न करके इस आकाशको श्रुतिमें कथन किया है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—**'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा'** (अ ८।१४)। यह मन्त्र छान्दोग्यमें श्रवण होता है। यह मन्त्र इस अधिकरणका **विषय वाक्य** है। अर्थ— 'नाम' कहिये श्रुतिमें प्रसिद्ध जो आकाश है; सो नामरूप जगत्का निर्वाह करनेवाला है। और जिसके अन्दर निखिल नामरूप जगत् है सो आकाश ब्रह्म है। और सो ब्रह्म अमृतरूप है तथा आत्मस्वरूप है इति।

इस श्रुतिमें जो 'आकाश' शब्द है सो प्रसिद्ध भूताकाशका ही बोधक है अथवा पर ब्रह्मका बोधक है इस प्रकारका यहां **संशय** होता है।

अथ **पूर्वपक्ष**। विचार करने पर आकाश शब्दको भूताकाशमें रूढ होनेसे आकाश शब्द करके भूताकाशका ही ग्रहण युक्त है।

शंका। प्रसिद्धिके बलसे आकाश शब्दका भूताकाश अर्थ मानना अनुचित है। क्योंकि भूताकाशमें यावत् नामरूपका निर्वाहकत्व नहीं बन सकता है?

समाधान। आकाश शब्दसे भूतकाशका ग्रहण करना ही उचित है; क्योंकि भूताकाशमें भी अवकाशके दानद्वारा नामरूप जगत्के निर्वाहकी योजना कर सकते हैं। यद्यपि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रमें सर्वोत्पादकत्वादि ब्रह्मलिङ्गके दर्शनसे आकाश शब्द करके परमात्माका ग्रहण किया है। तथापि तहां जैसे सर्वोत्पादकत्वादि ब्रह्मके लिङ्गोंका स्पष्ट दर्शन है। तैसे 'आकाशो वै नाम' यहां पर जगत्कर्तृत्वादिक स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गका श्रवण न होनेसे आकाश शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण नहीं हो सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे आकाश शब्द करके भूताकाशका ही ग्रहण करना इति?

इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये अब सिद्धान्तको कहते हैं:—

अथ **सिद्धान्तपक्ष**। **'परमेव ब्रह्म'** इत्यादि भा०। अर्थात् यहां आकाश शब्द करके परब्रह्मका ही ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि ब्रह्ममें ही अर्थान्तरत्वादिका व्यपदेश बन सकता है। अर्थात् **'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म।'** अर्थ—'ते' कहिये नामरूप जिसके मध्यमें हैं अथवा सम्पूर्ण नामरूपका जो अन्तर्यामी है सो आकाश ब्रह्म है इति। यह श्रुति नामरूप जगत्से भिन्न अन्तर्यामी ब्रह्मको ही आकाशरूपसे वर्णन करती है। और ब्रह्मसे भिन्न कोई भी वस्तु नामरूप जगत्से भिन्न नहीं हो सकती है। क्योंकि आकाशादिक सम्पूर्ण जगत् नामरूपका ही विकार है।

किञ्च 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें आकाशको नामरूपका निर्वाहक कहा है। और भूताकाश विकाररूप होनेसे नामरूपके अन्तर्गत है। यद्यपि पवनादिका निर्वाहक आकाश है। तथापि स्वनिर्वाहकत्व आकाशमें नहीं बन सकता है। क्योंकि सुशिक्षित हुवा भी नटका बालक अपने शिरमें चढ़कर नहीं नाच सकता है।

शंका। 'नामरूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें भूताकाशसे भिन्न नामरूपका निर्वाहक भूताकाश ही प्रतिपाद्य क्यों न हो?

समाधान। सङ्कोचके विना ही सम्पूर्ण नामरूपका स्वतन्त्र निर्वाहकत्व ब्रह्ममें ही बन सकता है। अतः भूताकाश भिन्नत्वरूप संङ्कोच अनुचित है। और नामरूपका जो निरङ्कुश निर्वहण है अर्थात् स्वतन्त्र निर्वाहकत्व है सो ब्रह्मसे भिन्न परतन्त्र भूताकाशादिक किसी भी वस्तुमें नहीं बन सकता है। क्योंकि— **'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।'** अर्थ— चिन्मात्ररूप मैं परमात्मा इस कालमें 'अनेन' कहिये बुद्धिमें स्थित तथा पूर्व सृष्टिमें अनुभूत 'जीवेन' कहिये प्राणके धारणका हेतु,'आत्मना' कहिये सद्रूप करके अर्थात् जलमें सूर्यके प्रतिबिम्बकी तरह बुद्धिमें स्थित इस स्वस्वरूप जीव करके 'अनुप्रविश्य' कहिये देहाभिमानवाला होकरके 'नामरूपे' कहिये सूक्ष्म पिण्डरूप नामरूपको 'व्याकरवाणि' कहिये यह अमुक नामवाला है इत्यादि व्यवहारके योग्य स्थूलरूपसे करूं। यह भूत सृष्टिके अनन्तरभावी ईशका संकल्प है इति। इत्यादि मन्त्रोंमें नामरूप जगत्का कर्तृत्व ब्रह्ममें ही श्रवण होता है। तथा च नामरूपके अन्तःपाती भूताकाशमें निखिल नामरूपका कर्तृत्वादिरूप निर्वहण नहीं बन सकता है। अतः आकाश करके भूताकाशका ग्रहण नहीं हो सकता है।

शंका। यह नामादिकोंका जो कर्तृत्व है सो ब्रह्मका लिङ्ग नहीं है किन्तु जीवका ही है। क्योंकि यह श्रुति जीवमें ही नामादिकोंके निर्वाहकर्तृत्वको स्पष्ट कहती है।

समाधान। यद्यपि यह श्रुति जीवमें नामरूपके निर्वाहकर्तृत्वको कहती है यह वार्ता सत्य है; तथापि जीवमें जो नामादिकोंके निर्वाह कर्तृत्वको श्रुति कहती है सो ब्रह्मके साथ अभेद विवक्षा करके कहती है साक्षात् नहीं, क्योंकि जीवमें साक्षात् जगत्का कर्तृत्व व जगत्का निर्वाहकर्तृत्व नहीं बन सकता है। और जो वादीने कहा था कि—'आकाशो वै नाम' यहां पर ब्रह्मका स्पष्ट लिङ्ग नहीं है? सो भी कहना असङ्गत है। क्योंकि नामरूपका स्वतन्त्र निर्वाहकत्व जो श्रुतिमें कहा है इस कथनसे ही जगत् स्रष्टृत्वादिक स्पष्ट ब्रह्मका लिङ्ग भी कथित हो चुका। और "तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" इत्यादिक जो श्रुति है सो भी ब्रह्मकी बोधक स्पष्ट लिङ्ग है।

शंका। जब यहां ब्रह्मके बोधक स्पष्ट लिङ्ग हैं तब 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्र करके वर्णित अर्थका ही इस सूत्रमें पुनः वर्णन होनेसे पुनरुक्ति दोष होवेगा।

समाधान। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रके अर्थका ही साधक यह विचार है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं हो सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'आकाशो वै नाम' इस श्रुतिमें आकाश शब्दकरके ब्रह्म ही ग्राह्य है भूताकाश नहीं यह सिद्ध हुवा इति। यहां पूर्वपक्षमें अमृतत्वादिकरूप करके आकाशकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है इति ॥ ४१ ॥

इति अर्थान्तरत्वाधिकरणम् ॥

पूर्व अधिकरणमें, जगत्निर्वाहकर्तृत्वादिक ब्रह्मके लिङ्गोंसे अनुगृहीत 'तद्ब्रह्म स आत्मा' इत्यादि श्रुतिकरके भूताकाशमें 'आकाशो वै' इस श्रुतिके बाधको कह आये हैं। अब अग्रिम अधिकरणमें ब्रह्मके लिङ्गों करके जीवके लिङ्गोंके बाधको दिखाते हैं:—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

अर्थ—१ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः, २ भेदेन। इस सूत्रमें दो पद हैं। और पूर्व सूत्रसे 'व्यपदेशात्' इस पदकी अनुवृत्ति करनी। तथाच बृहदारण्यकमें 'कतम आत्मेति' इत्यादि जनकके प्रश्नके अनन्तर याज्ञवल्क्यके उत्तररूप ग्रन्थमें सुषुप्तिमें तथा उत्क्रान्तिमें संसारी जीवसे भिन्न करके परमात्माका कथन किया है। अतः 'कतम आत्मेति' इस जनकके प्रश्न वाक्यमें स्थित आत्मा शब्द करके भी परमात्मा ही प्रष्टव्य व प्रतिपादनीय है संसारी जीव नहीं इति।

अब यहां अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—**'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'** (बृ०४।३।७)। यह मन्त्र इस अधिकरणका विषयवाक्य है।

अर्थ—अहं बुद्धिके विषय देह इन्द्रिय प्राणादिकोंके मध्यमें कोई एक आत्मा है अथवा देहादिकोंसे अतिरिक्त आत्मा है इस प्रकार राजा जनकके प्रश्नके अनन्तर याज्ञवल्क्य कहते हैं—इस प्राणादिक संघातके भीतर हृदयमें जो यह विज्ञानरूप बुद्धिका साक्षी अन्तर्यामी ज्योतिः स्वरूप परिपूर्ण पुरुष है सो यही आत्मा है। इस मन्त्रके 'प्राणेषु, हृदि' इन दोनों स्थलोंमें जो यह सप्तमी विभक्ति है तिसका अर्थ 'व्यतिरेक' है अर्थात् भिन्नत्व है। इन दोनों पदों करके "प्राणोंसे तथा हृदय उपलक्षित बुद्धिसे आत्मा भिन्न है" यह बोधन किया। और 'अन्तर्' शब्द करके 'बुद्धिवृत्तिसे भिन्न आत्मा है' तथा 'ज्योतिः' शब्द करके 'अज्ञानसे भिन्न आत्मा है' यह बोधन किया है इति।

बृहदारण्यकके षष्ठ प्रपाठकमें 'कतम आत्मेति' ऐसा उपक्रम करके बहुत विस्तारसे आत्माका विचार किया है। यहां 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि उपक्रम वाक्यमें स्थित विज्ञानमयादि शब्दोंसे तथा 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' इत्यादि उपसंहार वाक्यमें स्थित सर्वेशानादि शब्दोंसे संशय होता है कि—'कतम आत्मेति' इत्यादि जो यह

विषयवाक्य है सो क्या संसारी जीवके स्वरूप मात्रका प्रतिपादक है अथवा जीवका अनुवाद करके असंसारी परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादक है इति।

'वस्तुतः यहां क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासाके हुये अब पूर्वपक्षको दिखाते हैं:—

अथ पूर्वपक्ष। 'संसारिस्वरूपमात्रविषयमेव' इत्यादि भा०। अर्थात् 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्य संसारी जीवके स्वरूपका ही प्रतिपादक है। क्योंकि 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि उपक्रम वाक्यमें 'विज्ञानमयः' इत्यादिसे विज्ञानरूप बुद्धि सम्बन्धादिक शारीर जीवके ही लिङ्ग देखनेमें आते हैं। तथा— 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि उपसंहार वाक्यमें भी जीवके लिङ्गका त्याग नहीं किया है किन्तु विज्ञानमयत्वादिक संसारी जीवके ही लिङ्ग देखनेमें आते हैं।

शंका। यदि उपक्रम उपसंहार करके 'कतम आत्मेति' इत्यादि ग्रन्थ जीवका ही प्रतिपादक होवे तो उपसंहार वाक्यमें स्थित 'महानजः' इत्यादि श्रुतिका विरोध होवेगा?

समाधान। यद्यपि निरपेक्ष व्यापकत्वरूप महत्त्व और सर्वथा जन्माभावरूप अजत्व जीवमें नहीं बन सकता है, तथापि आपेक्षिक महत्त्व और अजत्व जीवमें भी बन सकता है। तथा मध्यमें भी जाग्रत् आदिक अवस्थाका उपन्यास करके जीवके प्रतिपादनका ही प्रपञ्च किया है। अतः यहां जीवरूप आत्मा ही प्रतिपाद्य है। असंसारी परमात्मा नहीं इति।

इस प्रकारके पूर्वपक्षको प्राप्त हुये अब भाष्यकार सिद्धान्तको कहते हैं:—

अथ सिद्धान्तपक्ष। 'परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यम्' इत्यादि भा०। अर्थात् परमेश्वरका उपदेश ही 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्य करता है केवल जीवका अनुवाद मात्र नहीं करता है। क्योंकि यदि इस वाक्यको केवल जीवका स्तावक ही मानें, तो अग्रिम वाक्य करके सुषुप्तिमें और उत्क्रान्तिमें जो जीवसे भिन्न ईश्वरका व्यपदेश किया है सो (उपदेश) असङ्गत हो जावेगा।

शंका। तहां सुषुप्तिमें जीवसे भिन्न परमेश्वरका उपदेश करनेवाला मन्त्र कौन है?

समाधान। 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमिति' (बृ० ४।३।२१)। अर्थ—कार्यकारणरूप उपाधिमें प्रविष्ट जो यह क्षेत्रज्ञरूप पुरुष है सो सुषुप्ति अवस्थामें उपाधिके विलय हुये स्वाभाविक अविद्याका साक्षीरूप प्राज्ञके साथ अत्यन्त एकरूप होनेसे बाह्य पदार्थोंको तथा आन्तर पदार्थोंको कुछ भी नहीं जानता है इति। इस मन्त्रमें जीवसे भिन्न करके परमात्माका कथन किया है।

और जीवको वेदिता होनेसे इस मन्त्रमें जो 'पुरुष' शब्द है सो जीवका वाचक है। क्योंकि जीवमें बाह्य तथा आन्तर वेदनकी प्रसक्ति हुये ही 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' इस वचन करके निषेध बन सकता है। और परमात्माको सर्वज्ञत्वरूप प्रज्ञाके साथ नित्य अवियोग होनेसे प्राज्ञ शब्द परमेश्वरका बोधक है।

शंका । यहां पुरुष शब्द करके शरीरका ग्रहण और प्राज्ञ शब्द करके जीवका ग्रहण क्यों न हो ?

समाधान । "इस मन्त्रमें पुरुष शब्द करके शरीरका ग्रहण करना तथा प्राज्ञ शब्द करके जीवका ग्रहण करना" यह कहना असङ्गत है। क्योंकि यदि शरीरमें वेदनकी प्रसक्ति होती तो 'न बाह्यम्' इत्यादि निषेधवचनकी शरीरमें उपपत्ति होती। और जीवमें सर्वज्ञत्वरूप नित्य प्रज्ञाके सम्बन्धकी उपपत्ति न होनेसे प्राज्ञ* शब्दसे जीवका ग्रहण भी नहीं बन सकता है।

---

* अर्थात् प्राज्ञ शब्द निरपेक्षप्रज्ञाप्रकर्षवालेमें निरूढ़ है। ऐसा ईश्वर ही है। क्योंकि निरपेक्ष प्रज्ञाका प्रकर्ष सर्वज्ञ ईश्वरसे अन्यमें बने नहीं, अतः प्राज्ञ शब्द करके अज्ञ जीवका ग्रहण नहीं हो सकता है।

शंका । सुषुप्ति अवस्थावाले आत्माका नाम प्राज्ञ है। "सुषुप्तिमें मुझको कुछ भी ज्ञान नहीं था" इस अनुभवके बलसे प्राज्ञमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती है। किञ्च यदि सुषुप्तिमें आत्मा सर्वज्ञ होवे तो जाग्रदादिकी अपेक्षासे निद्रा ही उत्तम होवेगी। तथा च **'निद्रया ह्रियते नक्तम्'** इत्यादि शास्त्रका और अनुभवका विरोध होवेगा।

समाधान । सुषुप्ति अवस्थामें जीवात्मा ज्ञान शून्य है? अथवा परमात्मा अज्ञ है? प्रथम पक्षमें, कार्य (स्थूल सूक्ष्म) रूप जीवकी उपाधिके विलय हो जानेसे ज्ञानशून्यता बन सकती है। द्वितीय पक्षमें, माण्डूक्यमें प्राज्ञ-निरूपणके अनन्तर **'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः'** इत्यादि श्रुतियोंका विरोध होगा। और अविद्यारूप ईश्वरकी उपाधिको विद्यमान होनेसे जीवकी सुषुप्ति दशामें भी चित्प्रतिबिम्बित अविद्यावृत्तियोंके द्वारा ईश्वरमें सर्व संसारका ज्ञान बन सकता है।

शंका । **'सुषुप्तिकाले सकले विलीने'** इत्यादि श्रुतिसे सुषुप्ति दशामें संसार ही नहीं है, अतः सुषुप्तिमें ईश्वर सर्वज्ञ है' यह कहना असङ्गत है।

समाधान । सुषुप्तिमें सुप्त जीवोंके संसारका अभाव होने पर भी सम्पूर्ण संसारका अभाव नहीं बन सकता है। और 'सुषुप्तिकाले' यह श्रुति भी सुप्त जीवके संसारका ही विलयको बोधन करती है। और विलय अवस्थापन्न संसारको भी ईश्वर जानता है। अतः प्राज्ञ सदा सर्वज्ञ है। अर्थात् विलीन उपाधिवाले एक जीवका नाम ही प्राज्ञ नहीं है; किन्तु अविद्योपाधिक चेतनका नाम प्राज्ञ है।

शंका । उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्न परमेश्वरका उपदेश करनेवाला मन्त्र कौन है?

समाधान । तथा उत्क्रान्तिमें भी—**'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्ज्जन् याति'** (बृ० ४।३।३५)। यह मन्त्र जीवसे भिन्न करके परमात्माको कहता है। अर्थ—जैसे गमनकालमें भार करके आक्रान्त जो शकट है सो शकटवाले पुरुष करके अधिष्ठित हुवा नाना प्रकारके शब्दोंको करता हुवा जाता है। तैसे ही मरणकालमें विद्या कर्मादिक भार करके आक्रान्त जो इस स्थूल शरीरमें रहनेवाला साभास लिङ्ग शरीररूप शारीर आत्मा है सो भी स्वचिदाभासद्वारा स्वयं ज्योतिः स्वरूप प्राज्ञरूप आत्मा करके अधिष्ठित हुवा और अनेक प्रकारकी वेदना करके पीड़ित होकर हिक्कादिक शब्दोंको करता हुवा जाता है इति। इस मन्त्रमें भी शरीरका स्वामी होनेसे 'शारीर' नाम जीवका है। तथा 'प्राज्ञ' नाम तिस परमात्माका ही है। अतः "सुषुप्ति तथा उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्न करके प्राज्ञरूप परमेश्वरका कथन होनेसे 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्य-सन्दर्भ करके परमात्मा ही विवक्षित है" ऐसा निश्चय होता है इति।

और जो प्रथम वादीने कहा था कि—यहां आदि, अन्त व मध्यमें जीवके लिङ्ग देखनेमें आते हैं अतः 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यको जीवपरत्व ही है? सो भी कहना असङ्गत है। क्योंकि उपक्रममें जो—**'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'** यह मन्त्र है तिसमें संसारी जीव विवक्षित नहीं है। किन्तु संसारी जीवके स्वरूपका अनुवाद करके पर ब्रह्मके साथ इस जीवकी एकता विवक्षित है।

तथा **'अपूर्वे वाक्यतात्पर्यम्'** इस न्याय करके भी अपूर्व परमात्मामें ही मन्त्रका तात्पर्य है। अतः यहां परमात्मा ही प्रतिपादनीय है। अर्थात् ज्ञात तथा अज्ञात ये दोनों जहां प्राप्त होवें तहां ज्ञातका अनुवाद करके अज्ञात ही प्रतिपादनीय होता है। प्रसङ्गमें जीव ज्ञात है तथा परमात्मा अज्ञात है, अतः जीवके स्वरूपका अनुवाद करके प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म ही प्रतिपादनीय है।

शंका । यहां जीवका अनुवाद करके परमात्माका प्रदिपादन नहीं बन सकता है। क्योंकि इस प्रकरणमें संसारी जीवका ही प्रायः निरूपण दीखता है। जीवके धर्मोंका अपवाद नहीं दीखता है।

समाधान । "यहां जीवके धर्मोंका अपवाद नहीं दीखता है" यह कहना असङ्गत है। क्योंकि **'ध्यायतीव लेलायतीव'** अर्थात् ध्यान करती हुई बुद्धिको

इस अविद्यावच्छिन्न प्राज्ञमें ही, सुषुप्ति दशामें अनन्त जीव एकीभावको प्राप्त होते हैं। और अनन्त जीव जाग्रदादिक अवस्थावोंमें भ्रमण करते हैं। यद्यपि सुषुप्ति दशामें जीवका प्राज्ञके साथ अभेद होनेसे जीवमें भी सर्वज्ञत्वकी शंका बन सकती है। तथापि ईशभावापन्न जीवको सर्वज्ञ होने पर भी जीवत्व दशामें सर्वज्ञता कदापि बने नहीं।

'मैं ध्यान करता हूं' इस प्रकार आत्मा ध्यानकर्ताकी तरह प्रतीत होता है। तथा चलती हुई बुद्धिको आत्मा चलते हुयेकी तरह प्रतीत होता है। वस्तुतः न आत्मा ध्यान करता है न चलता है। इत्यादिक जो उत्तर ग्रन्थकी प्रवृत्ति है सो आत्मामें संसारीके सर्व धर्मोंका निषेध करती हुई स्पष्ट प्रतीत होती है इति।

तथा उपसंहारमें भी "उपक्रमके अनुसार ही उपसंहार किया है" इस अर्थको दिखाते हैं—**'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'** इति। अर्थ—याज्ञवल्क्य कहते हैं—हे जनक! प्राणादिक संघातके मध्यमें जो यह विज्ञानमय संसारी प्रतीत होता है "सो यह वस्तुतः महान् अज आत्मा परमेश्वर ही है" ऐसा हमने प्रतिपादन किया है इति। इस सिद्धान्तपक्षमें निरपेक्ष व्यापकत्व व परिच्छेद शून्यत्वरूप महत्त्व, और सर्वथा जन्माभावरूप अजत्व ही 'महानजः' इस श्रुतिका अर्थ है। अमुख्य अर्थ नहीं मानना पड़ता है। और जो पुरुष ऐसा मानता है कि—"मध्यमें जाग्रत् आदिक अवस्थाका कथन किया है अतः यहां संसारीका ही स्वरूप विवक्षित है" सो पुरुष पूर्व दिशाको भेजा हुवा भी पश्चिम दिशाको जावेगा। अर्थात् जैसे पूर्व दिशामें भेजे हुये पुरुषको पश्चिम दिशामें जाना अनुचित है। तैसे ही परमात्माके उपदेशको जीवका उपदेश समझना अनुचित है।

भाव यह है कि—इस प्रकरणमें जाग्रदादिक अवस्था और अवस्थाविशिष्ट आभासरूप संसारी जीव प्रतिपाद्य नहीं है। किन्तु सर्वानुस्यूत चिन्मात्र ही प्रतिपाद्य है। क्योंकि जाग्रत् अवस्था विशिष्ट संसारी जीव अवस्थान्तरवाला नहीं हो सकता है। अतः अवस्थावोंका उपन्यास जीवका लिङ्ग नहीं है किन्तु "त्वं पदार्थकी शुद्धिद्वारा जीव ब्रह्मकी एकता परक है" अब इसी अर्थको दिखाते हैं—**'न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षति'** इत्यादि भा०। अर्थ—जाग्रत् आदिक अवस्थाका उपन्यास करके आत्मामें अवस्थावत्त्व तथा संसारित्व विवक्षित नहीं है, किन्तु अवस्थारहितत्व तथा असंसारित्व ही विवक्षित है इति।

शंका। इस अर्थको तुम किस प्रकार जानते हो?

समाधान। बृहदारण्यकमें स्थित जनक और याज्ञवल्क्यके पुनः २ प्रश्न और उत्तरसे इस अर्थको हम जानते हैं। क्योंकि राजा जनक याज्ञवल्क्यके प्रति वारम्वार प्रश्न करते हैं कि—**'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि'**। अर्थ—कामादिकोंके विवेकसे अनन्तर मोक्षके लिये ही आप मुझको उपदेश करें इति। तथा याज्ञवल्क्य भी **'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः'**। अर्थ—सर्व अवस्थावोंके धर्मों करके आत्मा स्पर्श रहित है। और यह पुरुष असङ्ग है। क्योंकि जाग्रदादिक अवस्था व इनके धर्म व्यभिचारी हैं। सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्न नहीं हैं, जाग्रदादिमें सुषुप्ति नहीं है। अतः यह सर्व प्रपञ्च मिथ्या है। और यह साक्षी पुरुष सर्वत्र अनुस्यूत है; अतः सत्य है असङ्ग है इति। इस प्रकार पदपदमें जनकके प्रति कहते हैं। और आगे भी याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं -हे राजा जनक! यह आत्मा

पुण्यपापादिके सम्बन्धसे रहित है। और पुण्यपापादिक सर्व हृदयमें स्थित अन्तःकरणके धर्म हैं। क्योंकि सुषुप्ति आदिकमें अन्तःकरणके न रहनेसे आत्मा सर्व शोकोंको तर जाता है इत्यादि। अतः 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ 'असंसारीके स्वरूपका ही प्रतिपादक है' ऐसा ही निश्चय करनेको योग्य है इति ॥ ४२ ॥

'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ "जीव ब्रह्मकी एकताका ही प्रतिपादक है" इस अर्थमें सूत्रकार अन्य हेतुको दिखाते हैं—

पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है। "सर्वस्य वशी" इत्यादिक श्रुतिमें स्थित 'पतिः' 'ईशानः' 'वशी' इत्यादिक शब्दोंसे भी 'कतम आत्मेति' इत्यादिक वाक्यसमूह परमेश्वरका ही प्रतिपादक है इति। इस हेतुसे भी "असंसारी ब्रह्म प्रतिपादनपरक ही 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ है" यह निश्चय करना चाहिये। क्योंकि इस वाक्यसन्दर्भमें पत्यादिक शब्द असंसारी ब्रह्म स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाले और संसारी स्वभावको निषेध करनेवाले विद्यमान हैं।

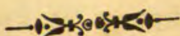
शंका। कौन २ शब्द असंसारी ब्रह्मस्वरूपके प्रतिपादक हैं ? और कौन २ शब्द संसारी स्वभावके निषेधक हैं ?

समाधान। "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः" इत्यादि अनेक शब्द असंसारी ब्रह्मस्वरूपके प्रतिपादक हैं। और "न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्" "स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जते" इत्यादिक अनेक शब्द संसारी स्वभावके प्रतिषेधक हैं। तथा च "असंसारी परमेश्वर ही इस जनक और याज्ञवल्क्यके प्रश्नोत्तररूप 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ करके प्रतिपाद्य है" यह निश्चय है। अतः शोधित 'तत्' और 'त्वम्' अर्थकी एकतामें ही बृहदारण्यकके षष्ठाध्यायका समन्वय है। यह सिद्ध हुवा इति। इस अधिकरणका पूर्वपक्षमें कर्मकर्ता जीवकी स्तुतिरूप फल है। और सिद्धान्तमें जीवका अनुवाद करके शोधित 'तत्' और 'त्वम्' अर्थकी एकताका निश्चय फल है ॥ ४३ ॥

इति सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीचिद्घनानन्दगिरिपूज्यपादशिष्यगोविन्दानन्दगिरिविरचितायां सूत्रभाष्यार्थप्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य ज्ञेयब्रह्मप्रतिपादकास्पष्टश्रुतिसमन्वयाख्यस्तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ।



श्रीगणेशाय नमः । श्रीगुरवे नमः । श्रीशंकराचार्य्येभ्यो नमः ॥

पूर्व जैसे प्रसिद्ध जीवविषयक लिङ्गका अप्रसिद्ध ब्रह्मविषयक लिङ्ग करके बाधको कह आये हैं; तैसे यहां प्रकरण करके प्राप्त जो श्रौत क्रम है तिस करके, श्रौत क्रमके सदृश जो स्मार्त क्रम है तिसके बाधको शंकापूर्वक सूत्रकार दिखाते हैं—अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि मन्त्रगत आत्मा, शरीर, बुद्धि यह श्रौत क्रम है। इसीके तुल्य महत्, अव्यक्त, पुरुष यह सांख्यीय स्मार्त क्रम है। तहां श्रौत क्रम करके स्मार्त क्रमके बाधको कहिये 'अव्यक्त' शब्द करके प्रधानके ग्रहणको न करके शरीरके ग्रहणके सूत्रकार दिखाते हैं:—

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीते-र्दर्शयति च ॥ १ ॥

अर्थ—१ आनुमानिकम्, २ अपि, ३ एकेषाम्, ४ इति, ५ चेत्, ६ न, ७ शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः, ८ दर्शयति, ९ च। इस सूत्रमें नव पद हैं।

शंका। किसी २ शाखामें प्रधानके प्रतिपादक जो शब्दाभास हैं तिनके बलसे प्रधानको वैदिक माननेवाले कपिलादिके मतमें 'कार्यतस्तदुपलब्धेः' 'अर्थात् महदादि कार्यकी उपलब्धिसे कारणरूप प्रधानकी अनुमिति होती है' इत्यादि कार्यलिङ्गक अनुमान करके सिद्ध जो प्रधान है सो प्रधान भी जगत्का कारण हो सकता है?

समाधान। प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि जैसे 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धि तु' इस वाक्यमें आत्मा तथा बुद्धिके मध्य स्थानमें शरीरको रथके सदृश करके कथन किया है। तैसे ही 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः'। इस वाक्यमें बुद्धि तथा पुरुषके मध्य स्थानमें अव्यक्तको कथन किया है। अतः प्रसिद्ध रथकी तरह रूपकालङ्कारकी रचनाके लिये विन्यस्त शरीरका ही 'अव्यक्त' शब्द करके ग्रहण करना चाहिये, प्रधानका नहीं। और जब प्रधानका ग्रहण नहीं हुवा तब प्रधान अवैदिक हुवा। अतः अवैदिक प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता है। तथा इसी अर्थको 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि श्रुति भी दिखाती है इति।

अब इस पादके आनुमानिकादि तीन आधिकरणोंकी 'ईक्षति' अधिकरणके साथ 'उपपाद्यउपपादकभाव' संगतिको दिखानेके लिये प्रथम अतीत ग्रन्थके अर्थको अनुवाद करके दिखाते हैं—तहां प्रथम पादके प्रथम सूत्रमें ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा करके 'जन्माद्यस्य यतः' इस द्वितीय सूत्र करके 'जगज्जन्मादिकारणत्व' ब्रह्मका लक्षण कहा, तदनन्तर इस लक्षणकी प्रधानादिकोंमें अतिव्याप्तिकी शंका

करके तिस शंकाका 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रसे प्रधानादिकोंको अप्रमाणिक कहकर परिहार किया है। और 'गतिसामान्यात्' इस सूत्र करके सम्पूर्ण वेदान्तोंमें चेतननिष्ठ कारणताऽवगतिकी समानता कही। और 'श्रुतत्वाच्च' इस सूत्रसे लेकर तृतीय पादकी समाप्ति पर्यन्त "सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंकी ब्रह्म कारणवादमें ही अवगतिकी समानता है; प्रधानादिकारणबादमें नहीं है" इस अर्थका भी विस्तारसे प्रतिपादन कर आये हैं इति।

शंका। पुनः अब अवशिष्ट क्या है? जिसके लिये उत्तर ग्रन्थका आरम्भ करते हैं। जो सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—जब तक **'महतः परमव्यक्तम्'** इत्यादिक श्रुति स्मृतियोंका, कपिलादिकोंको जगत्कारणत्वेन अभिमत जो प्रधानादिक हैं तिनमें समन्वयका खण्डन न किया जावेगा; तब तक ब्रह्मलक्षणमें व्यभिचारकी शंका बनी रहेगी। अत उत्तर ग्रन्थका आरम्भ सफल है। सो कहना असङ्गत है। क्योंकि—'महतः परमव्यक्तम्' इत्यादिक जो वाक्य हैं सो प्रधाननिष्ठ जगत्के कारणत्वको नहीं कहते हैं; किन्तु प्रधानादिकोंके सद्भावमात्रको कहते हैं। तथा च प्रधानादिकोंके सद्भावमात्रसे ब्रह्मके लक्षणकी किञ्चित् मात्र भी हानि नहीं हो सकती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे उत्तर ग्रन्थका आरम्भ व्यर्थ है इति।

समाधान। यद्यपि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र करके ब्रह्मविषयक जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्मका जो "जगत्की उत्पत्तिस्थितिलयका कारणत्वरूप" लक्षण कहा है सो प्रधानादिकोंमें समान है? ऐसी आशंका करके तिस शंकाका 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रसे प्रधानादिकोंको अप्रामाणिक कहकर परिहार कर आये हैं। और जैसे सम्पूर्ण चक्षु एक रूपविषयक ज्ञानके हेतु हैं। तैसे 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिक सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य जगत् कारण एक ब्रह्मविषयक ज्ञानके ही हेतु हैं। इस प्रकारसे "सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंकी ब्रह्मकारणवादमें ही अवगतिकी समानता है। प्रधानादि कारणवादमें नहीं है" इस अर्थका भी विस्तारसे 'गतिसामान्यात्' इत्यादि पूर्वग्रन्थ करके निरूपण कर आये हैं।

तथापि अभी यहां यह आशंका अवशेष है कि—"जो प्रधानमें अशब्दत्व को कहा है सो असिद्ध है; क्योंकि किसी किसी शाखामें प्रधाननिष्ठ कारणत्वके समर्पक आभासरूप शब्दोंका श्रवण होता है। अतः 'महान् परम ऋषि कपिलादिकोंने जो प्रधानमें जगत्का कारणत्व स्वीकार किया है सो वैदिक ही है" ऐसा निश्चय होता है। अतः जब तक प्रधानादिमें जगत्के कारणत्वके प्रतिपादक जो शब्द हैं तिन शब्दोंमें अन्य अर्थपरताको प्रतिपादन नहीं करेंगे। तब तक सर्वज्ञ ब्रह्ममें प्रतिपादित जो 'जगत्का कारणत्वरूप' लक्षण है सो व्याकुल होगा। अतः तिन शब्दोंमें अन्य अर्थपरत्वको दिखानेके लिये अग्रिम ग्रन्थसमूह प्रवृत्त होता है, अतः व्यर्थ नहीं है।

अर्थात्—'महतः परमव्यक्तम्' 'अजामेकाम्' इत्यादिक जो श्रुतिवाक्य हैं सो प्रधानके सद्भावमात्रको प्रतिपादन नहीं करते हैं। किन्तु प्रधानमें जगत्के कारणत्वको प्रतिपादन करते हैं। तहां 'महतः परम्' यहां जो 'पर' शब्द है सो 'अव्यवहित पूर्वकालवृत्तित्व' रूप कारणत्वको कहता है। तथा 'अजाम्' इत्यादिक जो श्रुति हैं सो प्रधानमें जगत्कारणत्वको अति स्पष्ट रूपसे विधान करती हैं। ऐसे निश्चयवाले जो कपिलादिक हैं तिनके मतसे ब्रह्मका लक्षण जो जगत्का कारणत्व है तिसका प्रधानमें व्यभिचार हुवा। तिस व्यभिचाररूप दोषकी निवृत्तिके लिये उत्तर ग्रन्थका आरम्भ सफल है व्यर्थ नहीं इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—**'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः'** (क० १।३।११)। इस मन्त्रमें स्थित जो 'अव्यक्त' पद है सो, **इस सूत्रका विषय है।**

सांख्य स्मृतिमें 'अव्यक्त' शब्द स्वतन्त्र प्रधानका वाचक प्रसिद्ध है। और **'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु'** इस प्रकृत श्रुतिसे **'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः'** इस श्रुतिमें बुद्धि और आत्माके मध्यवर्ति होनेसे 'अव्यक्त' पदसे शरीर प्रतीत होता है। अतः यहां "अव्यक्त पद प्रधान परक है अथवा शरीर परक है" ऐसा **संशय** होता है।

अब "पूर्व बृहदारण्यकके षष्ठाध्यायको जैसे अप्रसिद्ध ब्रह्मपरता दिखाई है। तैसे ही यहां भी अव्यक्त पदको अप्रसिद्ध प्रधानपरता ही माननी चाहिये" इस प्रकार वादी पूर्वपक्षको दिखाता है—

अथ पूर्वपक्ष। 'आनुमानिकम्'इत्यादि भा०। अर्थात्-'कायतस्तदुपलब्धेः' इत्यादि अनुमान करके निरूपित जो प्रधान है सो भी किसी २ शाखावालोंको वेद करके प्रतिपाद्य प्रतीत होता है-तहां कठ श्रुतिः-'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः' इति। यहां सांख्यवादी कहता है कि—सांख्यीयस्मृतिमें जो महत् तथा अव्यक्त तथा पुरुष जिस नामवाले तथा जिस क्रमवाले प्रसिद्ध हैं सोई महत् और अव्यक्त और पुरुष इस कठ श्रुतिमें प्रत्यभिज्ञाके विषय हैं अतः यहां 'महतः परम्' इत्यादि श्रुतिमें 'अव्यक्त' पदसे सांख्य स्मृतिमें प्रसिद्ध प्रधानका ही कथन है। क्योंकि **"सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्"** इत्यादि सांख्य स्मृतिमें 'अव्यक्त' पद प्रधानमें ही रूढ़ है।

तथा शब्दादिकों करके रहित होनेसे 'न व्यक्तं अव्यक्तम्' इस व्युत्पत्तिका भी सम्भव हो सकता है। अतः प्रधानको वैदिक शब्द प्रमाणवाला होनेसे अशब्दत्व नहीं बन सकता है। तथाच पूर्वोक्त श्रुति करके, तथा सांख्यीय स्मृति करके, तथा **'यदल्पं तज्जड़प्रकृतिकम्'** 'जो परिच्छिन्न होता है सो जड़ प्रकृति-

वाला होता है' इस युक्ति करके पूर्वोक्त स्वतन्त्र प्रधान ही जगत्का कारण है यह सिद्ध हुवा इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष**। इस पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है कि— **'नैतदेवम्'** इत्यादि भा०। अर्थात् सांख्य स्मृति करके प्रसिद्ध जो महत् और अव्यक्त हैं तिनके केवल सद्भावको कहनेवाला **'महतः परमव्यक्तम्'** यह काठक वाक्य नहीं है। क्योंकि जैसा त्रिगुणात्मक जगत्का स्वतन्त्र कारण प्रधान स्मृतिमें प्रसिद्ध है तैसे प्रधानकी यहां पूर्वोक्त श्रुतिमें प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। किन्तु केवल अव्यक्त शब्दमात्रकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है।

शंका 'अव्यक्त' शब्दकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे अर्थकी प्रत्यभिज्ञा भी अवश्य माननी चाहिये।

समाधान। अर्थकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है; क्योंकि यौगिक शब्दसे नियामकके विना अर्थविशेषका बोध नहीं हो सकता है। और 'अव्यक्त' शब्दको 'न व्यक्तम् अव्यक्तम्' इस व्युत्पत्ति करके यौगिक होनेसे प्रधानसे भिन्न सूक्ष्म तथा दुर्लक्ष्य वस्तुमें भी प्रयोगकर सकते हैं। अतः 'अव्यक्त' शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है।

शंका। 'अव्यक्त' शब्द प्रधानमें रूढ है। अतः रूढ़िवृत्ति करके प्रधानका बोध हो सकता है।

समाधान। 'लौकिकी रूढि है' अथवा 'स्मार्त रूढि है'? तहां "प्रसिद्ध जो लौकिकी रूढि है सो ही वैदिक अर्थके निर्णयका हेतु है" यह वार्ता शास्त्रमें प्रसिद्ध है— **'य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चैषामर्थाः'**।

अर्थ—जैसे प्रसिद्ध रूढिवाले जो गवादिक लौकिक शब्द हैं, सोई वैदिक शब्द हैं। और जो लौकिक गवादिक शब्दोंके अर्थ सास्नादिवाले गवादिक व्यक्ति हैं, सोई वैदिक गवादिक शब्दोंके अर्थ हैं इति। और लोकमें जैसे गवादिक शब्द गवादिक व्यक्तिमें रूढ हैं तैसे 'अव्यक्त' शब्द किसीमें भी रुढ नहीं हैं" इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं—**'न चायं कस्मिंश्चिद्रूढः'** इति भा०। **अर्थ**—यह 'अव्यक्त' शब्द लोकमें किसी अर्थमें भी रूढ नहीं है इति।

तथा द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि जो प्रधानवादियोंकी रूढि है सो तिनोंकी ही सङ्केतरूप परिभाषा है। ऐसी पौरुषेयी परिभाषा अनादि वैदिक अर्थके निरूपणमें कारणभावको नहीं प्राप्त हो सकती है। अतः 'अव्यक्त' शब्दकी रूढिवृत्तिसे प्रधानकी प्रतीति नहीं हो सकती है। और योग-वृत्ति तो जैसे प्रधानमें है तैसे प्रधानसे भिन्नमें भी तुल्य है। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'अव्यक्त' श्रुतिको अन्यथासिद्ध होनेसे 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें जो

'अव्यक्त' शब्द है सो शरीरगोचर ही है। और जिस प्रकार अव्यक्त शब्दको शरीरगोचरत्व बन सकता है तिस प्रकारको आगे दिखावेंगे।

शंका। 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें स्मार्त क्रमकी प्रत्यभिज्ञा करके क्रमिक महदादि अर्थ भी स्मार्त ही होना चाहिये ?

समाधान। जहां पूर्व क्रम विषयीभूत अर्थके स्थानमें विरुद्ध अर्थकी प्रत्यभिज्ञा होती है। तहां क्रममात्रकी समानतासे समान अर्थ विषयक ज्ञान नहीं होता है। जैसे अश्वके स्थानमें अश्वसे विरुद्ध गौको देखता हुवा बुद्धिमान् पुरुष 'यह अश्व है' ऐसा निश्चय नहीं करता है। तैसे श्रुतिस्थ क्रममें 'अव्यक्त' शब्दको देख करके स्मार्त प्रधानरूप अर्थसे विरुद्ध शरीररूप अर्थको जानता हुवा बुद्धिमान् पुरुष प्रधानविषयक ज्ञानको नहीं प्राप्त होता है।

शंका। प्रसङ्गमें विरुद्ध अर्थका ज्ञान ही नहीं होता है ?

समाधान। प्रकरण करके प्रधानसे विरुद्ध शरीरज्ञानको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'प्रकरण'** इत्यादि भा०। अर्थ—प्रकरणके विचार करनेसे 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें सांख्यवादी करके कल्पित प्रधानकी प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि 'शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः' अर्थात् प्रकरणके अनुसार—**'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।'** इत्यादि श्रुतिमें स्थित रथरूपक कल्पनामें विन्यस्त (प्रक्षिप्त) जो शरीर है; सो ही 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें अव्यक्त शब्द करके गृहीत होता है। अतः अव्यक्त पद करके शरीरका ही ग्रहण होता है इति।

शंका। 'महतः परमव्यक्तम्' इस मन्त्रमें 'अव्यक्त शब्दसे शरीरका ही ग्रहण होता है' इसमें क्या नियामक है ?

समाधान। **'प्रकरणात्परिशेषाच्च'** इति भा०। अर्थात् प्रकरण और परिशेष नियामक है। अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं—अतीत अनन्तर ग्रन्थसे आत्मा तथा शरीरादिकोंमें रथी तथा रथादिकरूपक क्लृप्तिको अर्थात् रथादि सादृश्य कल्पनाको धर्मराज दिखाते हैं—**'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥'** (क० १।३।३।४) अर्थ—धर्मराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—हे नचिकेतः! इस जीवात्माको तू रथी जान। तथा इस जीवके भोग और मोक्षका साधन जो यह शरीर है इस शरीरको रथ जान। तथा बुद्धिको सारथी जान। तथा मनको 'प्रग्रह' कहिये अश्वोंकी रशना जान। और रथ रूपक कल्पनामें कुशल जो पुरुष हैं सो इन्द्रियोंको अश्व कहते हैं। और शब्द स्पर्शरूप रसादिक विषयोंको इन्द्रियरूप अश्वोंके विचरनेके मार्गरूपसे वर्णन करते हैं। अर्थात् जैसे अश्व अपने २ मार्गको अवलम्बन करके चलते हैं तैसे इन्द्रियरूप अश्व भी अपने २ विषयरूप

मार्गको अवलम्बन करके चलते हैं। प्रश्न—स्वतः चैतन्यरूप आत्मामें भोगका सम्भव होनेसे शरीरादिरूप रथादिकोंका क्या प्रयोजन है? उत्तर—देह इन्द्रिय मनादि कल्पना करके युक्त आत्माको ही पण्डित लोग भोक्ता कहते हैं स्वतः नहीं। क्योंकि आत्मा स्वतः असङ्ग है इति।

अर्थात् जैसे लोकमें किसी पुरुषका रथ होता है; तहां जिस पुरुषके रथका सारथी विवेकहीन होता है; और घोड़े कुमार्गगामी होते हैं; और अश्व और अश्वोंकी रशनाको सारथी अपने वशमें नहीं रख सकता है; तिस रथी पुरुषको सो सारथी ठीक अभिलषित स्थानमें नहीं पहुंचा सकता है। किन्तु सारथी आदिके अव्यवस्थित होनेसे इस रथमें स्थित रथीका जीवन संकटमय हो जाता है।

और जिस रथी पुरुषका सारथी विवेकी होता है और अश्व और अश्वोंकी रशनाको वशमें रख सकता है। तिस रथी पुरुषको सो विवेकी सारथी ठीक अभिलषित स्थानमें पहुंचा सकता है।

तैसे ही जिस पुरुषका बुद्धिरूपी सारथी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें विवेकहीन होता है। और इन्द्रियरूप अश्व कुमार्गगामी होते हैं। और इन्द्रियरूप अश्वोंको और अश्वोंकी रशनारूप मनको जो सारथी अपने वशमें नहीं रख सकता है। तिस रथी पुरुषको सो विवेकहीन सारथी वैष्णवपदको नहीं प्राप्त करा सकता है। किन्तु बुद्धि आदिके अव्यवस्थित होनेसे इस रथी जीवका जीवन संकटमय हो जाता है। पुनः पुनः जन्ममरणरूप संसारको ही प्राप्त होता है।

और जिस रथी पुरुषका बुद्धिरूपी सारथी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें विवेकी होता है। और इन्द्रियरूप अश्वोंको और अश्वोंकी लगामरूप मनको वशमें रख सकता है। तिस रथी पुरुषको सो विवेकी सारथी संसार अध्वके पार तिस वैष्णवपदको प्राप्त करा सकता है जिस विष्णुके पदको प्राप्त होकर यह जीव पुनः २ जन्ममरणरूप संसारको नहीं प्राप्त होता है।

इस प्रकार शरीरादिकोंमें रथादि रूपककी कल्पना करके संसारगति और संसार अध्वके पार विष्णुके पदको दिखानेके अनन्तर "संसारअध्वके पार सो विष्णुका परम पद क्या है" ऐसी नचिकेताकी आकांक्षाके हुये पूर्वोक्त प्रकृत जो इन्द्रियादिक हैं तिनोंसे ही पररूप करके संसारमार्गका पार पर ब्रह्मरूप विष्णुके परम पदको धर्मराज स्पष्ट करके दिखाते हैं– **'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥** (१।३।१०,११) अर्थ—इन्द्रियोंसे विषयरूप अर्थ पर (श्रेष्ठ) हैं। अर्थोंसे मन पर है। मनसे बुद्धि पर है। और बुद्धिसे महानात्मा जीव पर है। जीवसे अव्यक्त पर है। अव्यक्तसे पुरुष पर है। और पुरुषसे परे कुछ नहीं है। पुरुष ही सबकी काष्ठा अवधि और परा गति है इति।

तथा च इस मन्त्रमें परिशेषसे अव्यक्त शब्द करके शरीरका ही ग्रहण प्राप्त है।

शंका। यद्यपि प्रसङ्गमें परिशेषसे शरीर प्राप्त है, तथापि सांख्य स्मृतिके बलसे 'महतः परमव्यक्तम्' इस मन्त्रमें जो 'अव्यक्त' शब्द है तिस करके प्रधानका ही ग्रहण करना चाहिये।

समाधान। 'तत्र य एव' इत्यादि भा०। अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि मन्त्रसे जो पूर्व रथरूपककी कल्पनामें इन्द्रियादिक अश्वादि भाव करके प्रकृत हैं। तिन इन्द्रियादिकोंका ही 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि मन्त्रमें ग्रहण है। यदि प्रकृत इन्द्रियादिकोंका ग्रहण न करेंगे तो प्रकृतकी हानि और अप्रकृतकी कल्पनारूप दोष होगा। अतः इस दोषपरिहारके लिये अव्यक्त शब्द करके प्रकृत शरीरका ही ग्रहण करना चाहिये, और अप्रकृत प्रधानका ग्रहण नहीं करना चाहिये।

इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रकरणको शोधन करके अब शरीरमें परिशेषताको दिखाते हैं—'तत्र' इत्यादि भा०। अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि पूर्व मन्त्रमें और 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि इस उत्तर मन्त्रमें इन्द्रिय मन व बुद्धि यह शब्द तो समान ही हैं। और पूर्व मन्त्रमें 'विषय' शब्द है। और इस मन्त्रमें 'अर्थ' शब्द है। इस प्रकार शब्दोंका भेद है अर्थका नहीं। क्योंकि पूर्व मन्त्रमें भी इन्द्रियरूप अश्वोंके गोचरत्वरूप करके अर्थ स्वरूप शब्दादिक ही 'विषय' शब्दसे निर्दिष्ट हैं।

शंका। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इस वाक्यमें जो इन्द्रियोंसे अर्थोंको पर कहा है सो असङ्गत है। क्योंकि इन्द्रियोंको ही स्थूल शब्दादि विषयोंकी अपेक्षासे आन्तरता व सूक्ष्मता प्रसिद्ध है?

समाधान। यहां आन्तर व सूक्ष्म 'पर' शब्दका अर्थ विवक्षित नहीं है, किन्तु 'पर' शब्दसे प्रधानता विवक्षित है।

शंका। विषयोंमें इन्द्रियोंसे प्रधानता भी किस तरह हो सकती है क्योंकि लोकमें रूपादिकी अपेक्षासे नेत्रादिकोंमें ही प्रधानता प्रसिद्ध है?

समाधान। श्रुतिमें घ्राण, जिह्वा, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त, त्वक्, इन आठ इन्द्रियोंको ग्रह कहा है। क्योंकि पुरुषपशुको ये इन्द्रिय अपने वशमें करती हैं; इसलिये इन इन्दियोंका नाम ग्रह है। अर्थात् नदीनिमग्न पुरुषको जैसे कदाचित् ग्राह अपने वशमें कर लेता है। तैसे ही संसारनदीनिमग्न पुरुषको इन्द्रिय वशमें करती हैं। अतः इन्द्रियोंका नाम ग्रह है। परन्तु ये इन्द्रिय भी गन्ध, रस, नाम, रूप, शब्द, काम, कर्म, स्पर्शादि विषय सम्बन्धके विना स्वतः इस पुरुषपशुको अपने वशमें नहीं कर सकती हैं। अतः इन गन्धादिक आठोंको श्रुतिमें अतिग्रह कहा है। क्योंकि पुरुषपशुको वशमें करनेवाली जो इन्द्रिय हैं तिन

इन्द्रियोंको भी वश करनेवाले गन्धादिक विषय हैं। अतः श्रुतिप्रसिद्धिसे गन्धादिक अर्थ इन्द्रियोंसे प्रधान हैं।

शंका। यदि घ्राणादि ग्रहोंसे गन्धादि अतिग्रह श्रेष्ठ हैं तो मनरूप ग्रहको अतिग्रहरूप अर्थोंसे पर कहना विरुद्ध है।

समाधान। यद्यपि ग्रहपना मन और इन्द्रियोंमें तुल्य है। तथापि मन गन्धादि अर्थोंसे श्रेष्ठ है। क्योंकि विषयोंका और इन्द्रियोंका सम्पूर्ण व्यवहार मनके अधीन है। और मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है क्योंकि मनका व्यापार बुद्धिके अधीन है; और बुद्धिको आश्रयण करके ही भोग्यसमूह भोक्ताको प्राप्त होता है। और बुद्धिसे श्रेष्ठ महान् आत्मा है। यही आत्मा 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस मन्त्रमें रथीरूप करके कहा है। क्योंकि श्रुतिमें आत्मशब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। तथा भोगकी सामग्रीरूप बुद्धि आदिकसे भोक्तामें परत्वकी उपपत्ति भी बन सकती है। और भोक्ताको बुद्धिका स्वामी होनेसे महान् कहना भी बन सकता है।

शंका। जब 'महत्' शब्द आत्माका वाचक हुवा तब 'महतः परमव्यक्तम्' ऐसा नहीं कहना चाहिये, किन्तु 'आत्मनः परमव्यक्तम्' ऐसा कहना चाहिये। और चिद्रूप जीवात्मासे जड़ अव्यक्त श्रेष्ठ भी नहीं हो सकता है।

समाधान। अथवा—'बुद्धेरात्मा महान् परः' इस वाक्यमें प्रथम शरीरी हिरण्यगर्भकी जो समष्टि बुद्धि है सो ही 'महान्' शब्दसे और 'आत्मा' शब्दसे विवक्षित है। क्योंकि सो समष्टि बुद्धि सम्पूर्ण व्यष्टि बुद्धियोंकी परा प्रतिष्ठा है। और **'मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥'** अर्थ—संकल्पविकल्परूप मननशक्ति करके हिरण्यगर्भकी बुद्धिका नाम मन है। तथा व्यष्टि मनोंमें समष्टिरूप करके व्याप्त होनेसे महान् नाम है। तथा संकल्प विकल्परूप शक्ति करके हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें संदेहात्मत्वकी प्राप्ति होती है तिसकी निवृत्तिके लिये मति कहा। तथा महत्त्ववाली होनेसे ब्रह्मा नाम है। तथा भोग्य समूहका आश्रय होनेसे पूर्नाम है। तथा निश्चयात्मक होनेसे बुद्धि नाम है। तथा कीर्ति शक्तिवाली होनेसे ख्याति नाम है। तथा नियमन शक्तिवाली होनेसे ईश्वर नाम है। तथा लोकमें सर्वोत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रज्ञा नाम है। तथा पदार्थोंकी अभिव्यञ्जक होनेसे संवित् नाम है। तथा चैतन्यप्रधान होनेसे चिति नाम है। तथा ज्ञात सर्व अर्थका अनुसंधान शक्तिवाली होनेसे स्मृति नाम है। और 'परिपठ्यते' यह जो पद है सो सर्वत्र विद्वानोंमें प्रसिद्धिका बोधक है इति। यह स्मृति हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें प्रमाण है।

किञ्च ईश्वरके अनुग्रहके बलसे हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें वेदके आविर्भावको कहनेवाली श्रुति भी हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें प्रमाण है। तहां श्रुतिः—**'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये** (श्वे०-६।१८) अर्थ—जो परमात्मा सृष्टिके आदि कालमें हिरण्यगर्भको

उत्पन्न करता है। तथा जो परमात्मा तिस हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव करता है। और जो इस अपने बुद्धि मन आदिक संघातका प्रकाश स्वरूप है। तिस देवकी मैं मुमुक्षु शरण हूं इति।

शंका। जैसे पूर्व प्रकरणमें अनुक्त अथवा अप्रकृत हिरण्यगर्भकी बुद्धिको 'आत्मा महान् परः' इस वचन करके कथन करते हो तैसे 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि पूर्व मन्त्रमें अनुक्त तथा अप्रकृत प्रधानको भी अव्यक्त शब्द करके कहना चाहिये?

समाधान। 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस पूर्व मन्त्रमें जो बुद्धिका ग्रहण है तिस बुद्धि करके हिरण्यगर्भकी बुद्धिका भी ग्रहण है। अतः हिरण्यगर्भकी बुद्धि अप्रकृत नहीं है। अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस पूर्व मन्त्रमें व्यष्टिबुद्धिके साथ अभेद करके समष्टिबुद्धिका प्रतिपादन किया है। और इस मन्त्रमें 'बुद्धे-रात्मा महान् परः' इस वचन करके हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें परत्वको दिखानेके लिये व्यष्टिबुद्धिसे भिन्न करके समष्टिबुद्धिका पृथक् प्रतिपादन किया है। क्योंकि हम लोगोंकी बुद्धियोंकी अपेक्षासे तिस हिरण्यगर्भकी समष्टिबुद्धिमें परत्वकी उपपत्ति हो सकती है। अतः अप्रकृत प्रधानका ग्रहण 'अव्यक्त' शब्दसे नहीं हो सकता है।

शंका। इस पक्षमें 'महानात्मा' इस श्रुतिसे यदि समष्टिबुद्धिका ही ग्रहण है। तो 'आत्मानं रथिनम्' इस पूर्वमन्त्रसे प्रकृत जो रथी भोक्ता आत्मा है तिसका ग्रहण भी यहां नहीं हुवा। तथाच रथीका जैसे 'इन्द्रियेभ्यः पराः' इत्यादि मन्त्रमें कथन नहीं किया है। तैसे रथका भी कथन नहीं किया है। अतः रथी तथा रथ ये दोनों अवशिष्ट रहे?

समाधान। ऐसी शंकाके हुये भाष्यकार कहते हैं—'एतस्मिंस्तु पक्षे' इत्यादि भा०। अर्थात् 'अथवा' इस पक्षमें अन्तिम परमात्मारूप पर पुरुषका ग्रहण करके ही रथीरूप आत्माका ग्रहण जाननेको योग्य है। क्योंकि जैसे समारोपित जो प्रतिबिम्ब है सो परमार्थ करके बिम्बसे भिन्न नहीं है। तैसे ही परमात्मासे भिन्न विज्ञानात्मा भी नहीं है। अर्थात् परमार्थसे परमात्मा तथा आत्माका अभेद होनेसे पर पुरुषको ही इस मन्त्रमें रथीरूप करके कथन किया है। सो इस पूर्वोक्त रीतिसे इस पक्षमें भी एक शरीर ही परिशिष्ट रहता है।

और अब प्रकरण तथा परिशेष करके प्रतिपाद्य जो एक शरीररूप रथ अवशिष्ट है तिसको 'अव्यक्त' शब्द करके दिखाते हैं—'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस पूर्व मन्त्र करके रथरूपक कल्पनामें दिखाये हुये आत्मादिकोंके मध्यमें शरीरसे भिन्न जो इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि और रथी प्रकृत हैं। तिनको ही विष्णुके परम पदको सर्व श्रेष्ठ रूपसे स्पष्ट दिखानेकी इच्छा करके 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इस उत्तर मन्त्रमें अनुक्रमसे ग्रहण करती हुई यह कठ श्रुति "परिशिष्ट अन्तिम अव्यक्त शब्द करके परिशिष्ट जो प्रकृत शरीररूप रथ है तिसको ही दिखाती है" यह निश्चय होता है।

शंका । यहां शरीरादिकोंमें रथादिरूपक कल्पनाका प्रयोजन क्या विवक्षित है ?

समाधान । शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय तथा सुख दुःखका अनुभवरूप वेदना करके संयुक्त जो अविद्यावाला भोक्ता है तिसकी, शरीरादिकोंमें रथादिरूपककी कल्पना करके जो संसारगति तथा मोक्षगतिका निरूपण है; इस करके यहां प्रसङ्गमें प्रत्यग् आत्मारूप जीवकी ब्रह्मरूप करके जो अवगति (साक्षात्कार) है सोई प्रयोजनरूप करके विवक्षित है।

और जीवमें जो ब्रह्मत्व है, सो आगमसे भिन्न मानान्तर करके सिद्ध नहीं है, किन्तु आगम करके ही सिद्ध है। अतः आगमको धर्मराज दिखाते हैं— **'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥'** (क० १।३।१२) अर्थ—सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित जो यह आत्मा है सो गूढ़ है अर्थात् अविद्या करके आच्छादित है। अतः प्रकाशित नहीं होता है अर्थात् जाननेमें नहीं आता है। **प्रश्न** – जब आत्माका प्रकाश नहीं हुवा तब आत्मा अप्रकाश स्वभाववाला हुवा ? **उत्तर**–श्रवणादिकोंके परिपाकसे जन्य जो 'ब्रह्मैवाहमस्मि' यह बुद्धि है तिसका नाम 'अग्र्या' है तथा सूक्ष्म (दुर्लक्ष) ब्रह्मविषयक होनेसे 'सूक्ष्मा' है। ऐसी अग्र्य सूक्ष्म बुद्धिसे सूक्ष्मदर्शी पुरुष करके देखनेमें आता है। अर्थात् सूक्ष्म ब्रह्मनिष्ठ पुरुषको ही पूर्वोक्त बुद्धि करके आत्माका दर्शन होता है। बहिर्मुख पुरुषको नहीं इति।

इस श्रुतिसे विष्णुके परम पदमें दुर्गमत्वको कह करके अब इस विष्णुके परम पदके निश्चयके लिये अनन्तर मन्त्र करके योगको धर्मराज दिखाते हैं— **यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥** यह मन्त्र ब्रह्माभिन्न आत्मविषयक साक्षात्कारके साधन योगको विधान करता है। अर्थ—इस मन्त्रसे यह अर्थ उक्त होता है— प्राज्ञ जो विवेकी पुरुष है सो वाणीको मनमें निरोध करे अर्थात् वागादिक बाह्य इन्द्रियोंके व्यापारको त्याग करके मनोमात्र करके स्थित होवे। और विषयवासनायुक्त बहिर्मुख मनमें भी संकल्पादिकोंका सम्भव होनेसे एकरस ब्रह्मात्माका ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः मनमें संकल्पादिकरूप दोषदृष्टि करके श्रुतिमें ज्ञान शब्द करके कथित निश्चयात्मक बुद्धिमें मनको धारण करे। अर्थात् सम्पूर्ण संकल्प विकल्पोंको त्यागकर निश्चयरूप बुद्धिमात्र करके स्थित होवे। और बुद्धिकी भी विषयमें प्रवृत्तिके हुये ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है अतः तिस बुद्धिको भी विषयोंसे विमुख करके भोक्तारूप महान् आत्मामें निरोध करे। अथवा विवेकाभ्याससे व्यष्टि बुद्धिको सूक्ष्म करके समष्टि बुद्धिमें विलय करे। अर्थात् समष्टि बुद्धिमात्ररूप करके स्थित होवे। और महान् आत्माको ब्रह्मसे पृथक् अवस्थित हुये ऐक्यज्ञान नहीं बन सकता है, अतः भोक्तारूप महानात्माको शान्त आत्मामें कहिये अविद्यादि प्रपञ्चरूप उपद्रव शून्य प्रकरण करके प्रतिपाद्य जो पूर्ण तथा सर्वोत्कृष्ट परत्वकी अवधिरूप तथा परा गतिरूप स्वयं ज्योतिः स्वरूप पुरुष है तिस पर पुरुषमें स्थापन करे। अर्थात् 'यह प्राज्ञरूप परात्मा मैं हूं' इस प्रकार अभेदरूप करके स्थित होवे इति। सो इस पूर्वोक्त रीतिसे पूर्व तथा अपर

वाक्योंकी आलोचनाके करनेसे प्रसङ्गमें "सांख्यवादी करके कल्पितप्रधानका अवकाश नहीं है" यह सिद्ध हुवा इति ॥ १ ॥

अब देहमें अव्यक्त शब्दकी प्रवृत्तियोग्यत्वको सूत्रकार दिखाते हैं—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥



अर्थ—१ सूक्ष्मम्, २ तु, ३ तदर्हत्वात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। प्रसङ्गमें 'महतः परमव्यक्तम्' इस वाक्यमें अव्यक्त शब्दसे जगत्की बीज अवस्थारूप 'सूक्ष्म' कारण शरीर ही विवक्षित है, क्योंकि सूक्ष्म वस्तुमें ही अव्यक्त शब्दकी योग्यता है इति। अब इस सूत्रके अभिप्रायको वर्णन करते हैं—'उक्तम्' इत्यादि भा०। अर्थात् पूर्व सूत्रमें प्रकरण तथा परिशेष करके "अव्यक्त शब्दका अर्थ शरीर है प्रधान नहीं" ऐसा कह आये हैं। अब इस अर्थमें शंका को दिखाते हैं—

शंका। शरीरके बोधनमें अव्यक्त शब्दकी योग्यता कैसे है? क्योंकि यह शरीर स्थूल होनेसे नेत्रादि करके अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है, और जो अस्पष्ट वस्तु होती है सो ही अव्यक्त शब्दकी वाच्य होती है।

समाधान। 'शरीरं रथमेव तु' इस श्रुतिमें शरीर शब्दसे सूक्ष्म (कारण) शरीर विवक्षित है। क्योंकि अति सूक्ष्म (कारण) शरीर ही अव्यक्त शब्दके योग्य है। यद्यपि यह जो स्थूल शरीर है सो स्वयं अव्यक्त शब्दका वाच्य नहीं हो सकता है। तथापि स्थूल शररीके आरम्भक जो भूत सूक्ष्म हैं सो अव्यक्त शब्दके योग्य हैं। अतः शरीरको भी अव्यक्त कह सकते हैं।

और 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं०)। अर्थ—गौका विकार जो दुग्ध है तिस करके सोमको मिश्रित करे इति। यहां जैसे गौरूप प्रकृतिका वाचक जो 'गो' शब्द है तिसका गौका विकार दुग्धमें प्रयोग देखनेमें आता है। तैसे ही प्रकृतिका और विकारका अभेद होनेसे प्रकृतिका वाचक जो 'अव्यक्त' शब्द है तिसका शरीररूप विकारमें प्रयोग बन सकता है। तहां श्रुतिः 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' अर्थ—सृष्टिसे पूर्वकालमें सो यह सम्पूर्ण जगत् अव्याकृत स्वरूप ही था। अर्थात् यह जो परोक्ष व अपरोक्ष व्याकृत भिन्न भिन्न नामरूप जगत् है सो सृष्टिसे पूर्वकालमें व्याकृत नामरूपको परित्याग करके बीज शक्ति अवस्था (संस्कार) रूपको प्राप्त होता भया इति। यह श्रुति "शरीर अव्यक्त शब्दके योग्य है" इस अर्थको दिखाती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे स्थूल शरीर भी अव्यक्त शब्दके योग्य है यह सिद्ध हुवा इति ॥ २ ॥

'तद्धेदम्' इस उक्त श्रुति करके प्रधानको भी सिद्धि हो सकती है। अतः 'अव्यक्त' शब्द करके प्रधानका ही स्वीकार करना चाहिये, कारण

शरीररूप मायाका स्वीकार निष्फल है ? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार समाधानको दिखाते हैं:—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—१ तदधीनत्वात्, २ अर्थवत। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'तद्धेदम्' इत्यादि श्रुतिमें स्थित 'अव्याकृत' शब्द करके और 'अव्यक्त' शब्द करके मायाका ही स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि पूर्वोक्त अव्यक्तरूप माया परमात्माके अधीन होनेसे अर्थवाली है। अर्थात् माया ब्रह्ममें जगत् स्रष्टृत्वकी सिद्धिकी सहकारी कारण है। अतः सार्थक है। और स्वतन्त्र प्रधानका स्वीकार निष्फल है इति।

अब 'अत्राह' इत्यादि भाष्यसे अपसिद्धान्तकी शंकाका उत्तररूप करके सूत्रके व्याख्यानको दिखाते हैं—

शंका। यदि इस जगत्की जो अनभिव्यक्त नामरूपवाली बीजात्मक प्रागवस्था है तिसमें अव्यक्त शब्दकी योग्यता स्वीकार करी जावे; और कारणरूपसे ही शरीरमें भी अव्यक्त शब्दकी योग्यताकी प्रतिज्ञा करी जावे। तो इस प्रकार माननेसे; वही सांख्य परिकल्पित प्रधानकारणवाद प्राप्त होवेगा। क्योंकि सांख्यवादी भी इस जगत्की प्रागवस्थाको ही प्रधानरूपसे स्वीकार करते हैं।

यह जो सुखदुःखमोहात्मक जगत् है सो सुखदुःखमोहात्मक कारणसे ही उत्पन्न होनेको योग्य है। क्योंकि कारणरूप ही कार्य होता है। जो सुखात्मकता है यही सत्त्व है। जो दुःखात्मकता है यही रज है। और जो मोहात्मकता है यही तम है। सत्त्वरजतमकी कारण अवस्थाका नाम ही प्रधान है। यह सांख्यका मत है।

समाधान। जगत्की कारण अवस्थारूप मायाके स्वीकारसे प्रधान कारणवादकी आपत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि माया वेदान्तसिद्धान्तमें अनित्य है। अनिर्वचनीय व मिथ्या है। और परतन्त्र है। और सांख्यवादमें प्रधान नित्य है। निर्वचनीय व सत्य है। और स्वतन्त्र है।

तथा च यदि हम किसी स्वतन्त्र प्रागवस्थाको जगत्की कारण मानें तो प्रधानकारणवादकी प्रसक्ति हमारे मतमें आवे। सो जगत्की कोई भी नामरूपात्मक प्रागवस्था वेदान्तसिद्धान्तमें स्वतन्त्र है नहीं। किन्तु इस जगत्की प्रागवस्थारूप मायाको हम परमेश्वरके अधीन मानते हैं स्वतन्त्र नहीं।

शंका। परमेश्वरसे ही जगत्की रचना बन जावेगी, पुनः मायाकी क्या जरूरत है अर्थात् माया निरर्थक है ?

समाधान। माया अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। क्योंकि प्रागवस्थारूप मायाशक्तिके विना केवल निर्गुण निष्क्रिय पुरुषमें सृष्टि सिद्ध नहीं हो सकती है। शक्तिरहित निष्कल निष्क्रिय पुरुषरूप परमेश्वरकी प्रवृत्ति नहीं बन

सकती है। क्योंकि शक्तिरहित पुरुषकी प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती है। अतः अविद्याशक्ति सार्थक है।

अब "बन्धमोक्षकी व्यवस्थाके लिये भी बीजशक्तिरूप अविद्याको अवश्य मानना चाहिये" इस अर्थको दिखाते हैं- तहां—

शंका। यदि ब्रह्ममें स्थित जो अविद्या है तिस करके जगत् उत्पन्न होता है ऐसा कहोगे तो मुक्त पुरुषोंकी पुनः उत्पत्तिका प्रसङ्ग होगा। क्योंकि बद्धमुक्त साधारण सत्य प्रधानकी तरह परमेश्वरकी शक्तिरूप अविद्या सदा विद्यमान ही रहेगी। और यदि अविद्याका विद्या करके नाश मानोगे तो मूलाविद्याका नाश होनेसे समस्त संसारका उच्छेद हो जावेगा इति।

समाधान। मुक्त पुरुषोंके बन्धकी पुनः उत्पत्ति नहीं बन सकती है। क्योंकि विद्या करके बीजशक्तिरूप अविद्या नष्ट हो गई है इति। यहां यह अभिप्राय है कि—हम प्रधानकी तरह सर्व जीवोंमें एक ही अविद्या नहीं मानते हैं। किन्तु जीव जीवके प्रति अविद्याका भेद मानते हैं। अतः जिस २ जीवमें विद्या उत्पन्न होती है; तिस २ जीवकी अविद्या निवृत्त हो जाती है; जीवान्तरकी नहीं। क्योंकि व्यधिकरण विद्या तथा अविद्याका परस्पर विरोध नहीं है। यदि हम एक ही अविद्या मानें तो सम्पूर्ण संसारके उच्छेदका प्रसङ्गरूप दोष होवे। और यह दोष प्रधानवादीके मतमें तो अवश्य प्राप्त होता है। क्योंकि प्रधानवादी प्रधानको एक मानता है; जब एक प्रधानका नाश होगा तब सर्व संसारका उच्छेद हो जावेगा। यदि विद्यासे प्रधानका नाश नहीं मानोगे तो प्रधानको विद्यमान होनेसे तुम्हारे मतमें अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा। अर्थात् किसीका भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। और यदि तुम ऐसा कहो कि—प्रधानको एक हुये भी अविवेक ख्यातिरूप अविद्याके सत्त्व हुये जीवको बन्ध है। तथा विवेक ख्यातिरूप विद्या करके अविवेक ख्यातिरूप अविद्याकी निवृत्ति होनेसे मोक्ष है। तो अविद्याके सत्त्व तथा असत्त्व करके ही बन्धमोक्षकी उपपत्ति हो गई। पुनः प्रधानका स्वीकार करना व्यर्थ है इति। और यहां ऐसा जानना चाहिये कि- यद्यपि अविद्या नाना है, तथापि अविद्यात्वरूप करके 'अविद्या एक है' ऐसा व्यवहार होता है। अतः 'अव्यक्तम्' 'अव्याकृतम्' 'तरन्त्यविद्याम्' 'मायां तु' इत्यादिक श्रुतिमें एक वचन कहा है।

शंका। पूर्वोक्त रीतिसे जब अविद्या ही जगत्का कारण है, तब ब्रह्मरूप ईश्वरका स्वीकार करना व्यर्थ है।

समाधान। अचेतन जो अविद्या है सो चेतनरूप अधिष्ठानसे विना प्रपञ्च विभ्रमरूप कार्य करनेको असमर्थ है। क्योंकि रज्जु आदिकी अविद्याको अधिष्ठानरूप रज्जु आदिके विना सर्पादि विभ्रमकी सामर्थ्य अप्रसिद्ध है। अतः अविद्याका अधिष्ठानरूप करके चेतनरूप ईश्वरका अङ्गीकार करना उचित है।

'परमेश्वराश्रया' इत्यादि भाष्यसे भाष्यकार भगवान्ने भी—"अव्यक्त शब्द करके निर्देश्य जो अविद्यारूप बीजशक्ति है सो परमेश्वरके आश्रित है तथा मायामयी है" इस अर्थको कहा है। अर्थात् जैसे लोकमें मायावी पुरुषके अधीन लौकिक माया होती है। तैसे ही परमेश्वरके अधीन यह अलौकिक माया है। और आधारतासम्बन्ध करके जीवके आश्रित जो अविद्यारूप माया है सो ब्रह्मको विषय करती है। अतः विषयता सम्बन्ध करके परमेश्वरके आश्रित कही जाती है। और ब्रह्मसे भिन्न करके तथा अभिन्न करके निरूपण करनेको अशक्य है। अतः इस प्रागवस्थारूप बीजशक्तिका नाम 'अव्यक्त' व 'अव्याकृत' है। तथा विद्या करके निवृत्त होनेसे 'अविद्या' व 'अज्ञान' कही जाती है। तथा विचित्र २ कार्योंकी माता होनेसे अथवा दुरुन्नीत होनेसे 'माया' कही जाती है। और कार्यकी अपेक्षा करके प्रधान होनेसे इसीका नाम 'प्रधान' है। मूल होनेसे 'प्रकृति' है। सृष्टिकी रचनादिकोंमें परमेश्वरकी सहकारी होनेसे 'शक्ति' है। तथाच इन अव्यक्तादिक शब्दोंका अर्थ एक ही है भिन्न भिन्न नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे बन्धमोक्षकी व्यवस्था भी उपपन्न हो चुकी इति।

और यही अविद्या मायामयी 'महासुषुप्ति' कही जाती है। क्योंकि इसी अविद्यामें स्वरूपके प्रतिबोधसे रहित हुये संसारी जीव अनादि कालसे सो रहे हैं। सो यही पूर्वोक्त अव्यक्त कहीं २ 'आकाश' शब्द करके निर्दिष्ट है—तहां श्रुतिः—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति। अर्थ—सम्पूर्ण जगत् तो आकाशमें ओत प्रोत है; आकाश किसमें ओत प्रोत है? इस गार्गीके प्रश्नके अनन्तर याज्ञवल्क्य कहते हैं—हे गार्गि! इस अक्षररूप परमात्मामें ही आकाश ओतप्रोत है। यहां भूताकाशका हेतु होनेसे अव्यक्तको आकाश कहा है इति।

और कहीं २ इसी अव्यक्तको 'अक्षर' शब्द करके कहा है—तहां श्रुतिः—'अक्षरात्परतः परः'। अर्थ—सो परमात्मा महत्‌से पर जो अक्षर है तिस अक्षरसे भी पर है। यहां, ज्ञानसे विना नाशको नहीं प्राप्त होनेसे अव्यक्तको अक्षर कहा है इति।

और किसी २ मन्त्रवर्णसे इसी अव्यक्तको माया शब्द करके सूचन किया है—तहां श्रुतिः—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'। श्वे०। अर्थ—अव्यक्तरूप मायाको यह मुमुक्षु प्रकृति जाने तथा मायावालेको महेश्वर जाने इति। वस्तुतः विचार करें तो 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें माया ही अव्यक्त शब्द करके कही है। क्योंकि सद्रूप करके अथवा असद्रूप करके अनिर्वाच्य होनेसे मायामें अव्यक्त शब्दकी योग्यता बन सकती है।

शंका। महत्‌से अव्यक्त पर कैसे है?

समाधान । महत्तत्त्वरूप बुद्धिको अव्यक्तका कार्य होनेसे महत्से अव्यक्त पर है। अतः 'महतः परमव्यक्तम्' यह कहा । और प्रसङ्गमें यदि महत् शब्द करके समष्टि बुद्धिका ग्रहण करें तो भी समष्टि बुद्धिका हेतु होनेसे अव्यक्तमें परत्व है। और यदि जीवका ग्रहण करें तो भी जैसे अमात्यादिकोंकी अपेक्षासे राजामें परत्व है। तैसे प्रतिबिम्बरूप जीवको भी अव्यक्तरूप उपाधिके अधीन होनेसे अव्यक्तमें जीवसे परत्व है। अतः 'महतः परमव्यक्तम्' यह कथन उचित ही है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अविद्या ही अव्यक्त है । और अविद्या करके ही जीवमें निरन्तर सर्व संसारव्यवहार वर्तता है ।

शंका । कारण शरीररूप अव्यक्तमें महत्से परत्वके हुये भी स्थूल शरीरमें परत्व किस प्रकार होगा ?

समाधान । अव्यक्तगत जो महत्से परत्व है तिसको ही अव्यक्त तथा शरीरके अभेदोपचारसे अव्यक्तके विकार शरीरमें कल्पना करते हैं। अतः स्थूल शरीरमें भी महत्से परत्व बन सकता है इति ।

शंका । इन्द्रियादिकोंमें भी अव्यक्तके साथ अभेद होनेसे अव्यक्तत्व तथा परत्व मानना चाहिये ।

समाधान । यद्यपि स्थूल शरीरकी तरह इन्द्रियादिकोंमें भी अव्यक्त-विकारत्वका अविशेष है। तथापि अभेदके उपचारसे शरीरका ही अव्यक्त शब्द करके ग्रहण करते हैं; इन्द्रियादिकोंका नहीं। क्योंकि 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि उत्तर श्रुतिमें इन्द्रियादिक शब्दों करके ही इन्द्रियादिक गृहीत हैं। और इस उत्तर श्रुतिमें केवल शरीरको ही परिशिष्ट होनेसे भी अव्यक्त शब्द करके शरीरका ही ग्रहण होता है ।

अब वृत्तिकारके मतसे पूर्वोक्त दो सूत्रोंके व्याख्यानको दिखाते हैं:— 'अन्ये तु वर्णयन्ति' इत्यादि भा०। अर्थात् शरीर दो प्रकारका है—एक जो यह देखनेमें आता है इसका नाम स्थूल शरीर है। और दूसरे सूक्ष्म शरीरको तृतीय अध्यायके प्रथम पादके 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' इस प्रथम सूत्रमें कहेंगे। और 'आत्मानं रथिनम्' इस पूर्व मन्त्रमें ये दोनों शरीर ही सामान्यतः रथरूपसे कथन किये हैं। और 'इन्द्रियेभ्यः पराः' इस उत्तर मन्त्रमें 'अव्यक्त' शब्द करके केवल सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि सूक्ष्म शरीर ही अव्यक्त शब्दके योग्य है।

शंका । महान् जो जीव है तिस जीवसे परत्व सूक्ष्म शरीरमें किस प्रकार बन सकता है ?

समाधान । 'तदधीनत्वादर्थवत्' इस सूत्रमें 'अर्थवत्' यह शब्द दृष्टान्तका वाचक है। जैसे इन्द्रियोंका व्यापार अर्थोंके अधीन है; अतः अर्थोंमें इन्द्रियोंसे

परत्व है। तैसे जीवमें बन्ध मोक्ष व्यवहार सूक्ष्म शरीरके अधीन है; अतः सूक्ष्म शरीरमें जीवसे परत्व है इति।

अब इस पूर्वोक्त वृत्तिकारके व्याख्यानको सिद्धान्ती दूषित करते हैं:— 'तैस्त्वेतत्' इत्यादि भा०। अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस पूर्व मन्त्रमें अविशेषरूप करके शरीरद्वयको रथरूपक कल्पनामें कथित होनेसे दोनों शरीरोंमें ही प्रकृतत्व तथा परिशिष्टत्व समान है। जब दोनों शरीरमें प्रकृतत्व तथा परिशिष्टत्व समान हुवा तब किस कारणसे अव्यक्त शब्द करके सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करते हो स्थूल शरीरका नहीं—सो कारण तुम्हारेको कहना चाहिये।

शंका। हम आम्नातके अर्थको जाननेके लिये समर्थ हैं, परन्तु आम्नातके अर्थमें पर्यनुयोग (किन्तु) करनेको समर्थ नहीं हैं। अर्थात् प्रसङ्गमें आम्नात कहिये कथित जो उत्तर मन्त्रमें 'अव्यक्त' पद है सो सूक्ष्म वस्तुको ही प्रतिपादन कर सकता है; सूक्ष्म शरीरसे भिन्न स्थूल शरीरको नहीं। क्योंकि स्थूल शरीर व्यक्त है। अतः हम 'अव्यक्त' शब्द करके सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करते हैं स्थूल शरीरका नहीं।

समाधान। यह कहना असङ्गत है। क्योंकि वाक्यार्थ विषयक जो ज्ञान होता है सो एकवाक्यताके अधीन होता है। और **'आत्मानं रथिनं विद्धि'** यह पूर्व पठित वाक्य, तथा **'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'** यह उत्तर पठित वाक्य, एकार्थप्रतिपादकत्वरूप एकवाक्यतासे विना किसी अर्थको प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं। यदि करेंगे तो 'शरीर' शब्दसे रूढिवृत्ति करके प्रकृत जो स्थूल शरीर है तिसका त्याग होगा। और अप्रकृत जो सूक्ष्म भूत हैं तिनका अव्यक्त पद करके ग्रहण होगा। इस प्रकृतहानि तथा अप्रकृतप्रक्रियाका प्रसङ्गरूप दोषकी निवृत्तिके लिये इनकी अवश्य एकवाक्यता माननी पड़ेगी।

और आकाङ्क्षासे विना एकवाक्यताकी सिद्धि नहीं बन सकती है। अतः "प्रकृत 'शरीरं रथमेव तु' इस शरीरद्वयका ग्रहण 'इन्द्रियेभ्यः पराः' इस मन्त्रमें किस पद करके है? और अव्यक्त शब्द करके क्या ग्राह्य है?" इस प्रकारकी आकाङ्क्षाद्वय करके पूर्व उत्तर वाक्योंमें एकवाक्यताके सम्भव हुये शरीर शब्द करके प्रकृत दोनों ही शरीर ग्राह्यरूप करके आकाङ्क्षाके विषय समान हैं। तहां यदि आकाङ्क्षाके अनुसार अन्वय स्वीकार नहीं करोगे, किन्तु 'अव्यक्त' शब्द करके केवल सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करोगे स्थूल शरीरका नहीं, तो एकवाक्यता ही बाधित होती है। एकवाक्यताका बाध होनेसे अव्यक्त शब्द करके आम्नात अर्थका बोध कहांसे होगा? अर्थात् नहीं होगा।

और जब 'शरीरं रथमेव तु' इस वाक्यमें शरीर शब्द करके एक स्थूल शरीरका ही ग्रहण करते हैं तथा अव्यक्त शब्द करके भी प्रकृत स्थूल शरीरका ही

ग्रहण करते हैं सूक्ष्म शरीरका नहीं। तब एकवाक्यताके सम्भव हुये अव्यक्त शब्द करके प्रकृत स्थूल शरीरका बोध हो सकता है इति।

शंका। सूक्ष्म शरीरमें अनात्मत्वनिश्चयरूप शुद्धिके लिये **'शरीरं रथमेव तु'** इस श्रुतिमें सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण है। और सूक्ष्म शरीर ही आकाङ्क्षाका विषय है, स्थूल शरीर नहीं। क्योंकि सूक्ष्म शरीर आत्माके अत्यन्त सन्निकृष्ट है; और आत्मासे अत्यन्त अभिन्न प्रतीत होता है। अतः दुःशोध है। अर्थात् आत्मासे पृथक् निश्चय करनेको अशक्य है। अतः अव्यक्त शब्द करके भी सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करना चाहिये, स्थूल शरीरका नहीं। क्योंकि स्थूल शरीर नाना २ दोषों करके दूषित प्रत्यक्ष सिद्ध है। अत्यन्त घृणाका विषय है। अर्थात् लशुनादिकोंकी तरह मल मूत्रादिकों करके अत्यन्त दुर्गन्धित होनेसे वैराग्यका विषय है। अतः स्थूल शरीरका आत्मासे पृथग् निश्चयरूप शोधन अत्यन्त सुलभ है।

समाधान। इस प्रकारसे वृत्तिकारोंको मानना योग्य नहीं है। इस अर्थको दिखाते हैं—**'यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद्विवक्ष्यते'** इत्यादि भा०। अर्थ—प्रसङ्गमें यहां किसीका शोधन विवक्षित नहीं है। क्योंकि 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि मन्त्रमें शोधनका विधायि कोई विधिपद नहीं है। 'सो विष्णुका परम पद क्या है' इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिये अनन्तर निर्दिष्ट विष्णुका परम पद ही यहां विवक्षित है इति। क्योंकि इन्द्रियोंसे अर्थ पर हैं, तथा अर्थोंसे मन पर है, इस प्रकार कहते हुये अव्यक्तसे अनन्तर—**'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः'** इस वचन करके विष्णुके परम पदको ही परत्वकी अवधि व परा गतिरूप करके श्रुति कहती है। अतः परम पदके दर्शनके लिये प्रकृत स्थूल शरीर ही अव्यक्त पद करके ग्राह्य है।

वस्तुतः 'तदन्तरप्रतिपत्तौ' इस सूत्रमें जिन करके सम्परिष्वक्त हुवा यह साभास लिङ्ग शरीररूप जीव परलोकके लिये रंहण करता है। जिनका परिणाम भावी स्थूल देह है। तिन हविरादिकी सूक्ष्म अवस्थारूप व धर्माधर्मरूप पञ्चीकृत पञ्चभूतोंके सूक्ष्म अवयवोंका नाम ही सूक्ष्मशरीर है। यह सूक्ष्मशरीर लिङ्गशरीरके अन्तर्गत हो है। इस सूक्ष्म शरीरका इन्द्रियादिकोंके ग्रहणसे ही ग्रहण हो चुका है। अतः यह सूक्ष्म शरीर अव्यक्त पद तथा शरीरपद करके पृथग् ग्रहण करनेके योग्य नहीं है। किन्तु परिशेषसे अविद्यारूप कारण शरीर और स्थूल शरीर ही—**'शरीरं रथमेव तु'** इस श्रुतिमें शरीर पदसे, और—**'महतः परमव्यक्तम्'** इस श्रुतिमें अव्यक्त पदसे ग्रहण करनेके योग्य हैं।

शंका। जैसे अविद्यारूप कारण शरीरको और स्थूल शरीरको परिशेषके बलसे अव्यक्त पद करके ग्रहण करते हो तैसे ही पञ्च प्राण भी परिशिष्ट हैं, और चिदात्मा भी परिशिष्ट है। अतः प्राण और चिदात्माका भी अव्यक्त पदसे ग्रहण होना चाहिये।

समाधान। 'यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः' (छा० ८।१२।३) अर्थ—जैसे रथके आकर्षणके लिये अश्व नियुक्त होता है। तैसे ही रथ स्थानीय इस शरीरमें अश्वस्थानीय प्राण नियुक्त है इति। इस श्रुतिके बलसे इन्द्रिय पद प्राणोंका भी उपलक्षण है। अतः अश्व स्थानीय ही प्राण है। अथवा एक ही अन्तःकरण ज्ञानशक्तिके प्रधान होनेसे—'बुद्धि' कहा जाता है। और क्रियाशक्तिके प्रधान होनेसे—'प्राण' कहा जाता है। अतः बुद्धि पद प्राणका भी उपलक्षण है। अर्थात् उभयशक्तिविशिष्ट अन्तःकरण सारथि है। और प्राप्य जो विष्णुका परम पदरूप पुरुष है जिससे परे कुछ नहीं है जो परत्वकी अवधि है। और जो परा गति है। सो ही चिदात्मा है। अतः परिशेषसे कारण शरीर और स्थूल शरीरका ही अव्यक्त शब्द करके ग्रहण योग्य है।

अब वृत्तिकारके मतको अङ्गीकार करके भी भाष्यकार भगवान् कहते हैं—'सर्वथापि' इत्यादि भा०। अर्थात् सिद्धान्तमें-"शरीर पदसे और अव्यक्त पदसे परिशिष्ट कारण शरीर और स्थूल शरीरका ही ग्रहण योग्य है" यह अर्थ कहा। और यदि वृत्तिकारकी रीतिसे सूक्ष्म शरीरका शोधन ही प्रकृतमें विवक्षित होवे तो रहो; तो भी-"अव्यक्त शब्द करके सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण है" इस मतको स्वीकार कर लेनेसे भी सिद्धान्तमें हमारी किञ्चित् मात्र भी हानि नहीं है। क्योंकि वृत्तिकारकी रीतिसे भी हमारेको अभीष्ट जो आनुमानिक प्रधानका खण्डन है तिसकी उपपत्ति बन सकती है। अर्थात् अव्यक्त शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं कर सकते हैं इति ॥ ३ ॥

अब "वैदिक अव्यक्त शब्द प्रधानका वाचक नहीं है" इस अर्थमें सूत्रकार अन्य हेतुको दिखाते हैं:—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

अर्थ—ज्ञेयत्वावचनात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। सांख्य शास्त्रमें प्रधानसे भिन्न पुरुषको जाननेके लिये और विभूतिके लिये प्रधानको ज्ञेय व उपास्य माना है। और वेदमें—'प्रधानको जानना चाहिये' अथवा 'प्रधानकी उपासना करनी चाहिये' ऐसा वचन है नहीं। अतः प्रधान वैदिक अव्यक्त शब्दका अर्थ नहीं बन सकता है इति।

अब 'ज्ञेयत्वेन' इत्यादि भाष्यके अनुसार इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—

शंका। 'गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यम्।' "सत्त्वादिक गुणरूप प्रधानसे पुरुषका 'अन्तर' कहिये जो भेद है तिस भेदके ज्ञानसे मोक्ष होता है" अर्थात् सांख्यमतमें 'त्रिगुणात्मक प्रधानसे मैं भिन्न हूं' इस प्रकारका जो प्रधान प्रतियोगिक भेदवाले आत्माका ज्ञान है इसी ज्ञान करके मोक्ष होता है। और सांख्यवादी इसी ज्ञानको संसारदुःखका निवर्तक मानते हैं। और सत्त्वादिक गुण स्वरूप प्रधानके ज्ञानसे विना प्रधानसे भिन्न आत्माका ज्ञान नहीं हो सकता है।

क्योंकि भेदज्ञानमें प्रतियोगीका ज्ञान कारण होता है। इस रीतिसे कहनेवाले सांख्य लोग कहीं २ प्रधानको ज्ञेय मानते हैं। और स्मृतियोंमें उल्लेख करते हैं।

और केवल भेद्का प्रतियोगित्वरूप करके ही प्रधानको ज्ञेय नहीं मानते हैं। किन्तु प्रधानकी उपासना करके अणिमादिक ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये उपास्यत्वरूप करके भी प्रधानको कहीं २ ज्ञेय मानते हैं। क्योंकि अज्ञातकी उपासना नहीं बन सकती है।

और 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुति करके भी अव्यक्त पद्जन्य ज्ञान-विषयत्वरूप ज्ञेयत्व प्रधानमें विद्यमान ही है। अतः **'ज्ञेयत्वावचनाच्च'** यह सूत्र असङ्गत है।

समाधान। **'न चेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते'** इति भाष्यम्। अर्थात् 'महतः परमव्यक्तम्' इस मन्त्रमें अव्यक्तको ज्ञेयरूप करके नहीं कहा है, किन्तु अव्यक्त शब्दमात्रको कहा है। और 'अव्यक्तं ज्ञातव्यम्' अथवा 'उपासितव्यम्' इस प्रकारका ज्ञेयत्व तथा उपास्यत्वका विधायक कोई विधिवाक्य भी यहां नहीं है। अतः सूत्रको असङ्गत कहना असङ्गत है।

शंका। विधिके अभाव हुये भी अव्यक्त पद्जन्य ज्ञानगम्यत्वरूप ज्ञेयत्व प्रधानमें बन सकता है। क्योंकि ज्ञानविषयताशून्यमें शब्दप्रयोग ही नहीं बन सकता है।

समाधान। उपदेशसे विना जो पदाथका ज्ञान है सो सफल नहीं होता है। अतः अव्यक्त पद्जन्य ज्ञानको अनुपदिष्ट होनेसे सफलता नहीं बन सकती है। अर्थात् शब्द्का जिस अर्थमें तात्पर्य होता है तिसका ही शब्दज्ञान सफल होता है। प्रकृतमें सर्वसे परे विष्णुका परम पदरूप पुरुष ही तात्पर्यका विषय है। अतः 'प्रधानका ज्ञान पुरुषार्थ है' इस अर्थका प्रतिपादन कोई नहीं कर सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रधानमें तात्पर्यगम्यत्वरूप ज्ञेयत्वका अभाव होनेसे अव्यक्त शब्द् करके प्रधानको श्रुति बोधन नहीं करती है।

शंका। प्रधानकी तरह शरीरमें भी तात्पर्यविषयत्वरूप ज्ञेयत्वको न होनेसे श्रुति बोधन नहीं कर सकती है। अतः अव्यक्त शब्द् करके शरीरका ग्रहण किस प्रकार होगा?

समाधान। हमारे मतमें तो जो एक वैष्णव पद् ज्ञेय है तिस परम पद्को दिखानेके लिये रथरूपककी कल्पनामें उपयोगी जो शरीरादिक हैं तिनोंका अनुसरण करके अव्यक्त शब्द्से शरीरका कथन किया है इसमें कोई दोष नहीं इति ॥ ४ ॥

प्रधानमें ज्ञेयत्वका जो अवचन है सो असिद्ध है? इस प्रकारकी शंकापूर्वक परिहारको सूत्रकार दिखाते हैं—

वदतीतिचेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्॥ ५॥

अर्थ—१ वदति, २ इति, ३ चेत्, ४ न, ५ प्राज्ञः, ६ हि, ७ प्रकरणात्। इस सूत्रमें सात पद हैं। प्रश्न—प्रधानमें 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादि श्रुति ज्ञेयताको कहती है। अतः प्रधान ज्ञेय नहीं है यह कहना असङ्गत है। उत्तर—यह प्रश्न नहीं बन सकता है। क्योंकि उक्त श्रुति भी प्रकरणके बलसे परमेश्वरको ही कहती है इति।

अब उक्त प्रश्नोत्तरको स्पष्ट करके दिखाते हैं:-सांख्यवादी कहता है कि-प्रधानमें ज्ञेयत्वका अवचन कहिये वचनका अभाव असिद्ध है। क्योंकि 'महतः परमव्यक्त-मव्यक्तात्पुरुषः परः' इस श्रुतिके उत्तर वाक्यशेषमें यहां अव्यक्त शब्द करके कथित जो प्रधान है, तिसमें ज्ञेयत्वका बोधक वचन विद्यमान है। तहां वाक्यशेष श्रुतिः-'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥' (क० २।३।१५) अर्थ—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादि करके रहित नित्य निर्विकार आदि अन्तसे रहित महत्तत्त्वसे पर निश्चल जो तत्त्व है, तिस तत्त्वको 'निचाय्य' कहिये साक्षात्कार करके जन्ममरणसंसाररूप मृत्युमुखसे मुक्त होता है इति। सांख्य स्मृतिमें शब्दादि गुणों करके रहित महत्से पर प्रधानका जैसा स्वरूप निरूपण किया है। तैसा ही शब्दादि हीन तत्त्वका इस मन्त्रमें 'निचाय्य' रूप करके निर्देश किया है। अतः इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य प्रधान ही है। तथा सो ही प्रधान 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें अव्यक्त शब्द करके निर्दिष्ट है ऐसा प्रतीत होता है।

अब पूर्वोक्त सांख्यवादीके कथनको सिद्धान्ती खण्डन करता है—'अत्र ब्रूमः' इत्यादि भा०। अर्थात् 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादि मन्त्रमें ज्ञेयरूप करके प्रधान निर्दिष्ट नहीं है। किन्तु प्राज्ञरूप परमात्मा ही ज्ञेयरूप करके निर्दिष्ट है। ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि 'प्रकरणात्' प्राज्ञरूप परमात्माका ही यहां महां प्रकरण चला आता है। तहां श्रुतिः—'पुरुषान्न परम् किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' (क०) यहां परमात्माका ही निर्देश किया है। तथा 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' (क०) 'परमात्माका ज्ञान दुःसाध्य है' इस अर्थका बोधक इस मन्त्र करके भी परमात्मामें ही ज्ञेयत्वकी आकाङ्क्षा होती है। तथा 'यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञः' (क०) इस मन्त्र करके भी परमात्माके ज्ञानके लिये ही वागादिक इन्द्रियोंके संयमको विधान किया है। और परमात्माके ज्ञानसे ही मृत्युमुखसे मोक्षफलका श्रवण होता है।

और प्रधानमात्रके ज्ञानसे मृत्युमुखसे मोक्ष सांख्यवादी भी नहीं मानते हैं। किन्तु "चेतनरूप आत्माके ज्ञानसे ही मृत्युमुखसे मोक्ष होता है" यह सांख्योंका सिद्धान्त है। और सम्पूर्ण वेदान्तमें प्राज्ञरूप परमात्मा विषे ही

अशब्दादिक धर्मोंका कथन किया है । अतः पूर्वोक्त रीतिसे "प्रधानमें ज्ञेयत्व तथा 'अव्यक्त' शब्द करके निर्दिष्टत्व नहीं बन सकता है" यह सिद्ध हुवा इति ॥५॥

किञ्च "इस कठवल्लीमें प्रधानविषयक प्रश्न तथा उत्तरका अभाव होनेसे भी अव्यक्त शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है" इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

अर्थ—१ त्रयाणाम्, २ एव, ३ च, ४ एवम्, ५ उपन्यासः, ६ प्रश्नः, ७ च। इस सूत्रमें सात पद हैं। इस कठवल्लीमें नचिकेताने धर्मराजसे तीन वर मांगे हैं। प्रथम वरसे पिताकी प्रसन्नता माँगी है। द्वितीय वरसे अग्निविद्या माँगी है। और तृतीय वरसे आत्मविद्या माँगी है। और धर्मराजने तीन ही वर दिये हैं। इन तीन वरोंके ही प्रश्न और उत्तर इस ग्रन्थकी समाप्ति पर्यन्त देखनेमें आते हैं। और प्रधानविषयक न तो इस ग्रन्थमें प्रश्न है, न उत्तर है। अतः इस कठवल्लीमें प्रधानका प्रतिपादन नहीं बन सकता है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको 'इतश्च' इत्यादि भाष्यसे भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—जिस कारणसे इस कठवल्ली ग्रन्थमें प्रायः अग्नि, जीव, परमात्मा, इन तीन पदार्थोंका ही वरप्रदानके सामर्थ्यसे वक्तव्यरूप करके उपन्यास देखनेमें आता है। अर्थात् तीन पदार्थविषयक ही प्रश्न तथा प्रतिवचन देखनेमें आते हैं अन्य विषयक नहीं। अत इस ग्रन्थमें न प्रधान ज्ञेय है। और न 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें स्थित 'अव्यक्त' शब्दका वाच्य है।

अब तीनों प्रश्नोंको 'तत्र तावत्' इत्यादि भाष्यसे क्रम करके दिखाते हैं—तहां प्रथम प्रश्नको कहते हैं—'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्'। अर्थ—नचिकेता कहता है—हे मृत्यो ! वरको देनेवाले जो आप हो सो स्वर्गका हेतुरूप जिस अग्निको 'अध्येषि' कहिये स्मरण करते हो तिस अग्निविद्याको श्रद्धालु जो मैं हूं तिस मेरे प्रति आप कथन करें इति। यह अग्निविषयक प्रश्न है।

और—'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'। अर्थ—मनुष्यके मृत हुये ऐसा संदेह होता है कि "देहादिक संघातसे आत्मा भिन्न है अथवा नहीं है"। क्योंकि आस्तिक जो वैदिक पुरुष हैं सो "देहादिक संघातसे व्यतिरिक्त देहान्तर सम्बन्धी आत्मा है" इस प्रकार कहते हैं। तथा नास्तिक जो पुरुष हैं सो "देहादिक संघातसे भिन्न आत्मा नहीं है" इस प्रकार कहते हैं। आप गुरु करके उपदिष्ट हुवा मैं जिस प्रकार इस संदिग्ध आत्मतत्त्वको जानसकुं तिस प्रकार आप कहें। वरोंके मध्यमें यह जो आत्मज्ञानरूप वर है सो अन्तिम है इति। यह प्रश्न जीवविषयक है।

तथा—'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र

भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' अर्थ—धर्मादिकोंसे विलक्षण परिच्छेदशून्य जिस वस्तुको आप जानते हो तिस वस्तुको मेरे लिये कथन करें इति। यह परमेश्वर-विषयक प्रश्न है।

अब क्रमसे उत्तरोंको दिखाते हैं—'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा' इति। अर्थ—पृथिवी आदिक लोकोंका हेतु जो विराट् है तिस विराट् रूप करके उपास्य होनेसे अग्निका नाम लोकादि है। तिस लोकादि स्वरूप अग्निको यमराज नचिकेताके प्रति कहते भये। तथा कुण्डमें जिस स्वरूपवाली और जितनी संख्यावाली इष्टका उपयोगी होती हैं तथा जिस प्रकारसे अग्निका स्थापनादिक होता है तिस सर्व प्रकारको धर्मराज कहते भये इति। यह अग्निविषयक प्रश्नका उत्तर है।

'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥' अर्थ—धर्मराज कहते हैं-हे नचिकेतः! अब इस गोप्य तथा सनातनरूप ब्रह्मको मैं तुम्हारे प्रति कथन करता हूं। और 'येयं प्रेते' इस वचन करके जो आत्मविषयक संदेहको कहा था तिस संदेहको दूर करनेके लिये धर्मराज कहते हैं-हे नचिकेतः! आत्मा जो देही है सो मरणको प्राप्त होकरके जिस प्रकार संसरणको प्राप्त होता है तिसको तू श्रवण कर-कोईक देहाभिमानी जो अज्ञानी जीव हैं सो मरणको प्राप्त होकर अन्य शरीरको ग्रहण करनेके लिये शुक्ररूप करके स्त्रीकी योनिमें प्रवेश करते हैं। तथा दूसरे जो अत्यन्त पापिष्ठ जीव हैं सो मरणसे अनन्तर वृक्षादिकरूप स्थाणुभावको प्राप्त होते हैं। अर्थात् इस जन्ममें जैसा २ विहित तथा प्रतिषिद्ध कर्मको किया है। तथा जैसी २ विहित व प्रतिषिद्ध उपासना करी है। तिस २ कर्म तथा उपासनाके अनुसार योनिको प्राप्त होते हैं इति। यह 'व्यवहित' अविद्या करके आच्छादित जीवविषयक प्रश्नका उत्तर है।

और—'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'। अर्थ—'विपश्चित्' कहिये विद्वान् नित्य चैतन्यरूप आत्मा न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। यहां उत्पत्ति तथा नाशरूप विकारोंके निषेधसे मध्यके चारों विकारोंका भी निषेध जानना इति। इत्यादिक मन्त्रों करके बहुत विस्तारसे परमेश्वरविषयक प्रश्नका उत्तर है। इस पूर्वोक्त रीतिसे विवेचन करनेपर इस कठोपनिषत्में अग्निविद्यादिविषयक तीन ही प्रश्न हैं। प्रधानविषयक प्रश्न है नहीं। अत इस ग्रन्थमें प्रधानविषयक प्रश्नके न होनेसे; उत्तरमें भी प्रधान उपन्यासके योग्य नहीं है।

शंका। येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीति' इस वचन करके जो यह आत्मविषयक प्रश्न किया है क्या तिस प्रश्नका ही यह 'अन्यत्र धर्मात्' इस वचन करके पुनः आकर्षण करते हो? अथवा पूर्वोक्त प्रश्नसे अपूर्व अन्य ही इस प्रश्नको उत्थापन करते हो? यदि ऐसा कहो कि— इससे क्या होवेगा?

तहां 'येयं प्रेते' इस मन्त्रमें जो प्रश्न किया है तिस प्रश्नका ही 'अन्यत्र

धर्मात्' इस मन्त्रमें भी यदि आकर्षण करोगे तो दोनों प्रश्नोंको एक आत्मविषयक होनेसे अग्निविषयक तथा आत्मविषयक दो प्रश्न ही सिद्ध होवेंगे। अतः 'सूत्रमें तीन प्रश्न हैं' यह कहना असङ्गत होगा। यदि ऐसा कहो कि—'येयं प्रेते' इस मन्त्रमें जो जीवविषयक प्रश्न है तिस प्रश्नसे भिन्न अपूर्व प्रश्नको हम 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि मन्त्रमें कहते हैं तो जैसे वरप्रदानके विना अपूर्व प्रश्नकी कल्पना करनेमें तुम्हारेको कोई दोष नहीं है। तैसे प्रश्नके विना ही प्रधानके उपन्यासकी कल्पनामें भी कोई दोष नहीं होवेगा इति।

समाधान। '**नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कञ्चित्कल्पयामः**' इत्यादि भा०। अर्थात् वाक्यके उपक्रमकी सामर्थ्यसे वरप्रदानके विना हम किसी प्रश्नकी कल्पना नहीं करते हैं। जिस कल्पना करके प्रधानकी सिद्धि होवे। क्योंकि वरप्रदानको उपक्रम करके मृत्यु और नचिकेताका संवादरूप जो वाक्योंकी प्रवृत्ति है सो ही कठवल्ली उपनिषत्की समाप्ति पर्यन्त देखनेमें आती है। अर्थात् 'येयं प्रेते' और 'अन्यत्र धर्मात्' इन दोनों मन्त्रोंमें आत्मविषयक एक ही प्रश्न है।

शंका। यदि इन दोनों मन्त्रोंमें एक ही प्रश्न है तो इस ग्रन्थमें दो ही प्रश्न हुये?

समाधान। दो प्रश्न नहीं होते हैं किन्तु तीन ही प्रश्न हैं। क्योंकि यमराजके पास पिता करके भेजा हुवा जब नचिकेता पहुंचा है तब तिसके प्रति मृत्युने तीन वर दिये हैं। और नचिकेताने तीनों वरोंके मध्यमें प्रथम वर करके पिताकी प्रसन्नता मांगी है। तथा द्वितीय वर करके अग्निविद्या मांगी है। और तृतीय वर करके आत्मविद्या मांगी है।

शंका। द्वितीय वर करके जीवविद्या, तृतीय वर करके ब्रह्मविद्या, इस प्रकार प्रश्नका भेद क्यों न होवे?

समाधान। 'येयं प्रेते' इस उपक्रम करके '**वराणामेष वरस्तृतीयः**' यहां आत्मविद्यामें तृतीयत्वकी उक्तिरूप लिङ्गसे आत्मविद्या ही तृतीय वर है। ब्रह्मविद्या पृथक् नहीं है।

इस प्रकार उपक्रमवाक्यको विद्यमान होनेसे–प्रश्नान्तर अर्थात् चतुर्थ प्रश्न युक्त नहीं है; इस अर्थको अब कहते हैं—'तत्र' इत्यादि भा०। यदि 'अन्यत्र धर्मात्' इस मन्त्रमें जीव प्रश्नसे भिन्न अपूर्व प्रश्नके उत्थापनको कहें तो वरप्रदानसे विना ही प्रश्नकी कल्पना होनेसे उपक्रमवाक्यका बाध होवेगा। अर्थात् उपक्रम-वाक्यमें तीन प्रश्न हैं, अब चार होवेंगे।

शंका। जीव व परमेश्वररूप प्रष्टव्यके भेदसे 'अन्यत्र धर्मात्' यह प्रश्न अपूर्व ही होनेको योग्य है। अतः प्रश्नका भेद अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि 'येयं प्रेते' इस मन्त्रमें देहादिक संघातसे भिन्न करके आत्मामें अस्तित्व तथा

नास्तित्वके संशयको दिखाया है। अतः यह जीवविषयक ही प्रश्न है। और जीव जो है सो धर्मादिकोंका आश्रय है। अतः 'अन्यत्र धर्मात्' इस मन्त्रमें जीवविषयक प्रश्न नहीं बन सकता है। किन्तु धर्मादिकों करके रहित होनेसे परमात्मारूप प्राज्ञविषयक ही यह प्रश्न है। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रश्नका भेद बन सकता है।

किञ्च केवल प्रष्टव्यके भेदसे ही प्रश्नका भेद नहीं है। किन्तु प्रश्नवाक्योंमें सादृश्यका अभाव होनेसे भी प्रश्नका भेद है। इस अर्थको अब भाष्यसे दिखाते हैं—**'प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते'** इत्यादि भा०। अर्थ—प्रश्नोंका सादृश्य भी दोनों मन्त्रों विषे नहीं देखनेमें आता है। क्योंकि 'येयं प्रेते' यह पूर्व मन्त्र जो है सो अस्तित्व तथा नास्तित्वविषयक है। और 'अन्यत्र धर्मात्' यह उत्तर मन्त्र जो है सो धर्मादिकों करके रहित वस्तुविषयक है। अतः पूर्व मन्त्र करके प्रतिपाद्य अर्थकी उत्तर मन्त्रमें प्रत्यभिज्ञा न होनेसे प्रश्नका भेद सिद्ध होता है। अतः 'येयं प्रेते' इस पूर्व प्रश्नका 'अन्यत्र धर्मात्' इस उत्तर मन्त्रमें अनुकर्षण नहीं है इति।

समाधान। प्रष्टव्यके भेदसे वादीने जो प्रश्नका भेद कहा है सो असङ्गत है। क्योंकि प्रसङ्गमें प्रष्टव्यका भेद नहीं है। वादी जो ऐसा कहे कि—"विरुद्धधर्माक्रान्त होनेसे पूर्व मन्त्रके अर्थका उत्तर मन्त्रमें अनुकर्षण नहीं हो सकता है, इस अर्थको समीपमें ही कह आये हैं, अतः प्रष्टव्यका भेद अवश्य है" सो वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि जीव तथा प्राज्ञरूप परमात्माको हम एक ही मानते हैं। और प्रष्टव्यके भेदसे प्रश्नका भेद तब हो सकता है जब प्राज्ञसे भिन्न जीव होवे। परन्तु प्राज्ञसे भिन्न जीव है नहीं। क्योंकि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ' इत्यादिक अन्य श्रुति अभेदको ही कहती हैं। किञ्च ब्रह्मप्रश्नके उत्तरमें जन्मादिकोंका निषेध करके जीवके स्वरूपको कथन करते हुये यमराज-"इस कठ श्रुतिमें भी जीव परमात्माके अभेदको ही सूचन करते हैं" इस अर्थको अब भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं-'इह' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् इस कठोपनिषत्में भी—**'अन्यत्र धर्मात्'** इस ब्रह्मविषयक प्रश्नका **'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'** यह जो जन्ममरणादिकोंका निषेध करके उपपादित जीवविषयक प्रतिवचन है सो भी जीव ब्रह्मके अभेदको ही दिखाता है।

शंका। जन्ममरणादिकोंके निषेध करनेवाले—'न जायते' इत्यादिक वाक्य जीवके बोधक पदोंको न होनेसे जीव व ब्रह्मके अभेदको प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

समाधान। जन्मादिकोंके प्राप्त हुये ही निषेध युक्त होता है। और जन्ममरणका शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे शारीर जो जीव है तिसमें ही अविद्या करके जन्ममरणादिकोंकी प्राप्ति है परमेश्वरमें नहीं। अतः जन्ममरणादिकोंका

निषेध करके जीवके स्वरूपको ब्रह्मसे अभिन्न करके प्रतिपादन करनेवाले जो 'न जायते' इत्यादि उत्तर वाक्य हैं सो जीव परमात्माके अभेदके ही बोधक हैं।

किञ्च **'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥'** (क० २।४।४)। अर्थ—स्वप्न अवस्थाको तथा जाग्रत् अवस्थाको जिस साक्षीरूप चैतन्य करके प्रमाता देखता है तिस महान् तथा विभुरूप आत्माको मनन करके धीर जो पुरुष है सो शोकको नहीं प्राप्त होता है इति। यह मन्त्र स्वप्न तथा जाग्रत्को देखनेवाला महान् विभु जो जीव है तिस जीवके स्वरूपको मनन करके, अर्थात् 'मैं महान् विभु आत्मा स्वरूप हूं' इस प्रकारके साक्षात्कारसे शोकके विच्छेदको दिखाता हुवा "प्राज्ञसे जीव अन्य नहीं है" इस अर्थको दिखाता है। क्योंकि "प्राज्ञके साक्षात्कारसे ही शोकका विच्छेद होता है" यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

किञ्च अभेदको कहकर आगे जो भेदकी निन्दा इस कठश्रुतिमें करी है इससे भी 'अभेद ही सत्य है, यह निश्चय होता है। इस अर्थको **'तथाग्रे'** इत्यादि भाष्यसे भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥** (क० २।४।१०)। अर्थ—जो चैतन्य इस देहमें है सोई चैतन्य सूर्य्यादिकोंमें है। सूर्य्यादिकोंमें जो चैतन्य है सोई इस देहमें है। और अखण्ड एकरस अद्वितीय इस ब्रह्ममें जो पुरुष नानाकी तरह देखता है सो पुरुष मरणसे मरणको प्राप्त होता है। अर्थात् पुनः २ जन्म मरणरूप संसारभयसे मुक्त नहीं होता है इति। यह मन्त्र जीव तथा प्राज्ञकी भेददृष्टिको अपवाद करता है।

किञ्च नचिकेताके जीवविषयक अस्तित्व तथा नास्तित्व प्रश्नसे अनन्तर यमराजने **'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व'** 'हे नचिकेतः! आत्मविद्यासे अन्य पुत्रादिकरूप वरको तू मांग' इससे आरम्भ करके सौ सौ वर्षकी आयुवाले पुत्र-पौत्रादि नाना विषय भोग्यरूप कामों करके नचिकेताको लोभायमान किया भी; परन्तु नचिकेता विषयभोगको तुच्छ समझ करके आत्मविद्यासे जब चलायमान न हुवा अर्थात् अन्य वरको स्वीकार नहीं किया। तब यमराजने प्रसन्न होकर नचिकेताके प्रति अभ्युदय (स्वर्ग) व निःश्रेयस (मोक्ष) के विभागको दिखा करके तथा मोक्षकी हेतु तत्त्वधीरूप विद्या तथा स्वर्गादिकोंकी हेतु कर्मरूप अविद्याके विभागको दिखा करके कहा कि—"हे नचिकेतः! मैं तुम्हारेको विद्याकी इच्छा-वाला मानता हूं। क्योंकि तुमको सौ २ वर्षकी आयुवाले पुत्रपौत्रादिक और दिव्य अप्सरादिक और साम्राज्य व चिरजीवनादिक बहुतसे विषय भी लोलुप नहीं कर सके" इस प्रकार नचिकेताकी प्रशंसाको करते हुये और नचिकेताके प्रश्नकी भी प्रशंसाको करते हुये पुनः धर्मराज कहते भये:—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधि-

गमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ अर्थ—हे नचिकेतः! जिस आत्माको तू जाननेकी इच्छा करता है, तिस प्रकाशरूप आत्माको, आत्मामें चित्तका समाधानरूप जो अध्यात्मयोग (निदिध्यासन) है,तिस करके 'मत्वा' कहिये साक्षात्कार करके धीर व बुद्धिमान् पुरुष हर्षशोकको त्याग करता है अर्थात् हर्षशोक करके रहित होता है। यह देवरूप आत्मा कैसा है-'दुर्दर्शम्' कहिये असंयत चित्तवाले पुरुषों करके साक्षात्कार करनेको अशक्य है। तथा 'गूढम्' कहिये माया व मायाकार्य करके आवृत्त है। तथा 'अनुप्रविष्टम्' कहिये कार्यसमूहको उत्पन्न करके पश्चात् तिस कार्यमें स्वयं प्रविष्ट है। तथा 'गुहाहितम्' कहिये बुद्धिमें उपलभ्यमान होनेसे बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है। तथा 'गह्वरेष्ठम्' कहिये रागद्वेषरूप अनर्थों करके आयासका जनक जो कार्यकरणका संघात है इसमें स्थित है। तथा 'पुराणम्' कहिये सनातन है इति। यह मन्त्र जो धर्मराजने कहा है इस करके भी जीव तथा प्राज्ञरूप परमात्माका 'अभेद ही विवक्षित है' ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि यदि जीवसे परमेश्वर भिन्न होता तो जीवगोचर प्रश्नका परमेश्वरगोचर यह उत्तर किस प्रकार संगत होवेगा।

किञ्च प्रशंसाकी अनुपपत्ति भी, 'येयं प्रेते' व 'अन्यत्र धर्मात्' इन दोनों प्रश्नोंकी, और प्रष्टव्य जीव व ब्रह्मकी, एकताको ही बोधन करती है। इस अर्थको अब भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'यत्प्रश्ननिमित्तां च'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् जिस प्रश्नके निमित्त नचिकेता मृत्युसे महती प्रशंसाको प्राप्त हुवा है। यदि तिस आत्मविद्याविषयक प्रश्नको त्याग करके प्रशंसाके अनन्तर अन्य ही प्रश्नका उपक्षेप करेगा तो सो सर्व प्रशंसाका प्रसारण अयुक्त हो जावेगा। अतः प्रष्टव्यके भेदका अभाव होनेसे 'येयं प्रेते' इस प्रश्नका ही 'अन्यत्र धर्मात्' इस मन्त्रमें अनुकर्षण जानना।

और वादीने जो पूर्व कहा था कि—दोनों मन्त्रोंमें सादृश्यका अभाव होनेसे प्रश्नका भेद है? सो दूषण भी नहीं बन सकता है। क्योंकि 'येयं प्रेते' इस पूर्व मन्त्रमें पूछे हुये आत्मतत्त्वके विशेषको ही पुनः 'अन्यत्र धर्मात्' इस उत्तर मन्त्रमें नचिकेताने पूछा है। पूर्व मन्त्रमें देहादिकोंसे भिन्न आत्माके अस्तित्वको पूछा है। और उत्तर मन्त्रमें तिसी आत्माके असंसारी स्वरूपको पूछा है।

शंका। धर्मादिकोंका आश्रय जो जीव है सो ब्रह्म किस प्रकार हो सकता है?

समाधान। यद्यपि जीव व ब्रह्मका सदा ही अभेद है, तथापि यावत् काल पर्यन्त अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती है तावत् काल पर्यन्त जीवमें धर्मादिकोंका आश्रयत्व तथा जीवत्व निवृत्त नहीं होता है। और जब तत्त्वसाक्षात्कार करके धर्मादिकोंका आश्रयत्व तथा जीवत्व निवृत्त हो जाता है तब 'प्राज्ञरूप ब्रह्म ही जीव है' इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति बोधन करती हैं।

शंका। अविद्याके नाशसे अनन्तर जीवमें ब्रह्मत्वको यदि मानोगे तो जीवमें ब्रह्मत्व आगन्तुक होगा, तथा विनाशी होगा।

समाधान। अविद्याकालमें और अविद्याके अभावकालमें वस्तुमें कुछ विशेषता नहीं होती है। जैसे अन्धकारमें पड़ी हुई रज्जुको सर्प माननेवाला जो पुरुष है सो भ्रमज्ञानके विषय सर्पसे भयभीत हुवा तथा कम्पायमान हुवा भागता है। तिस पुरुषको जब दूसरा कोई पुरुष कहे कि "तुम भयको मत प्राप्त होवो, यह सर्प नहीं है किन्तु रज्जु है" तब इस वचनको सुनकर सो पुरुष सर्पकृत भयको तथा कम्पको तथा पलायनको त्याग करता है। यहां अहिबुद्धि-कालमें तथा अहिबुद्धिके अपगमकालमें रज्जुका स्वरूप ज्योंका त्यों ही है। रज्जुमें कुछ विशेषता नहीं होती है।

तैसे अविद्याकालमें तथा अविद्याकी निवृत्तिकालमें आत्मा विषे कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् सदा एकरस जन्ममरणादि रहित स्वस्वरूप ब्रह्ममें भ्रान्तिसे जन्ममरणादि मानता हुवा यह जीव दुःखी होता है। गुरुके उपदेशसे जन्ममरणादि रहित आत्माको ब्रह्मरूपसे निश्चय करके जीवत्वादिक दुःखसे रहित होता है। अतः आत्मनिष्ठ ब्रह्मत्वमें आगन्तुकत्व तथा विनाशित्व रूप दोष नहीं हो सकता है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे जीवमें स्वाभाविक ब्रह्मत्वके सिद्ध हुये "ब्रह्म प्रश्नका जो उत्तर है सोई जीव प्रश्नका उत्तर भी बन सकता है" इस अर्थको अब दिखाते हैं—जीव व ब्रह्मका अभेद होनेसे **'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'** इत्यादिक जो 'अन्यत्र धर्मात्' इस ब्रह्मविषयक प्रश्नका उत्तर है सो भी जीवविषयक अस्तित्व प्रश्नका उत्तर बन सकता है।

शंका। जीवब्रह्मको एक मानोगे तो 'त्रयाणाम्' इस सूत्रकी उपपत्ति किस प्रकार होगी?

समाधान। वस्तुतः जीव व ब्रह्मको एक होनेपर भी अविद्या करके कल्पित जो जीव तथा प्राज्ञका भेद है तिस भेदकी अपेक्षा करके सूत्रकी योजना कर सकते हैं। क्योंकि आत्मविषयक प्रश्नको एक हुये भी 'येयं प्रेते' इस मन्त्रमें "प्रयाणअवस्थाविशिष्ट देहसे आत्मा भिन्न है वा नहीं" इस प्रकार आत्मा विषे केवल अस्तित्वका संशय होनेसे, और 'येयं प्रेते' इस प्रश्नका उत्तररूप **'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः'** इत्यादि मन्त्र करके मरणके अनन्तर अस्तित्वका निर्धारण होने पर भी आत्मामें कर्तृत्वादिक संसार स्वभावकी निवृत्ति न होनेसे; 'येयं प्रेते' "यह पूर्व प्रश्न जीवविषयक है" ऐसी उत्प्रेक्षा होती है। और 'अन्यत्र धर्मात्' इस उत्तर मन्त्रमें धर्मादि परिच्छेदशून्य तत्त्वका संकीर्तन होनेसे 'अन्यत्र धर्मात्' 'यह उत्तर पर्यायरूप प्रश्न परमेश्वरविषयक है' ऐसी उत्प्रेक्षा होती है। अतः सूत्रके व्याख्यानमें जो अग्नि तथा जीव तथा परमात्माकी कल्पना करी है सो भी युक्त ही है।

शंका। परमेश्वरविषयक प्रश्नकी तरह प्रधानविषयक प्रश्नादिककी भी कल्पना क्यों न की जाय ?

समाधान। जीव व ब्रह्मका वस्तुत अभेद होनेसे परमेश्वरविषयक प्रश्नका तृतीय वरमें अन्तर्भाव बन सकता है। और प्रधानकी कल्पनामें तो वरप्रदान तथा प्रश्न व प्रतिवचन कुछ भी नहीं है। क्योंकि प्रधानको अनात्मरूप होनेसे तृतीय वरके अन्तर्गत नहीं कर सकते हैं। अतः परमेश्वरविषयक प्रश्नका दृष्टान्त विषम है इति ॥ ६ ॥

"श्रौताव्यक्तशब्दः, न सांख्यासाधारणतत्त्वगोचरः, वैदिकशब्दत्वात्, महच्छब्दवत्।"

अर्थ—जैसे 'बुद्धेरात्मा महान् परः' यहां 'महत्' शब्दरूप दृष्टान्तमें वैदिक शब्दत्वरूप हेतु है; और सांख्यवादीके मतमें जो असाधारण तत्त्व प्रधान है तिस प्रधानगोचरत्वका अभावरूप साध्य भी है। तैसे श्रौत अव्यक्त शब्दरूप पक्षमें वैदिक शब्दत्वरूप हेतु है; अतः असाधारण प्रधान गोचरत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमानको अब सूत्रकार दिखाते हैं:—

महद्वच्च ॥ ७ ॥

अर्थ—१ महद्वत्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'महद्वत्' कहिये 'महत् शब्दवत्' यह दृष्टान्त है। और चकार करके पक्षादिकोंका ग्रहण करना इति। अर्थात् सांख्यवादी लोग सत्त्वप्रधान प्रकृतिका प्रथम परिणाम सत्ता* मात्ररूप बुद्धिमें ही केवल 'महत्' शब्दका प्रयोग करते हैं। परन्तु वैदिक 'महत्' शब्दका प्रयोग केवल बुद्धिमें ही नहीं है। क्योंकि **'बुद्धेरात्मा महान् परः'** इत्यादिक श्रुतियोंमें महत् शब्दके समानाधिकरण आत्मशब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। और 'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' इत्यादिक श्रुतियोंमें महत्तत्त्वके ज्ञानसे शोक-नाशरूप मोक्षफलका कथन किया है। और **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य-वर्णं तमसः परस्तात्'** इत्यादिक श्रुतियोंमें प्रकृति शब्द वाच्य तमसे पर महत्तत्त्वका श्रवण होता है। इत्यादिक हेतुवोंसे जैसे महत् शब्द जो वैदिक है सो सांख्योंकी अभिमत बुद्धिको व प्रधानको अभिधान नहीं करता है, किन्तु आत्माका अभिधान करता है। तैसे ही वैदिक जो अव्यक्त शब्द है सो भी प्रधानका अभिधान नहीं करता है, किन्तु स्थूल शरीरके कारण सूक्ष्म भूतोंका अथवा अविद्याका अभिधान करता है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे आनुमानिक जो प्रधान है तिस प्रधानमें वैदिक शब्दप्रतिपाद्यत्वका अभाव होनेसे जगत्कारणत्वका अभाव भी सिद्ध

*टि०—यहां पर भावप्रत्यय स्वरूपमात्रार्थक है। अर्थात् 'सत्ता' शब्दका अर्थ "सत्" ही है।

हो चुका। और यहां पूर्वपक्षमें प्रधानको भी वैदिक शब्द करके प्रतिपाद्य होनेसे वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें ही समन्वयके नियमकी असिद्धि फल है। और सिद्धान्तमें नियमकी सिद्धि फल है इति ॥ ७ ॥

इत्यानुमानिकाधिकरणम् ॥

कारणका वाचक अव्यक्त शब्द करके शरीररूप कार्य लक्ष्य है ऐसा पूर्व कह आये हैं। अब "धर्मके वाचक रोहितादिक पदों करके तेज, जल, पृथिवी, यह तीनों धर्मी लक्ष्य हैं" ऐसा अङ्गीकार करके सूत्रकार कहते हैं:—

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

अर्थ—१ चमसवत्, २ अविशेषात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। जैसे 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इस मन्त्रमें नियम करके ऐसा निरूपण नहीं कर सकते हैं कि—जिसका नीचे बिल होवे, तथा ऊपरसे गोलाई होवे, ऐसा चमस नामवाला यज्ञपात्र ही होता है। क्योंकि यथाकथञ्चित् गिरिगुहादिकोंमें भी अर्वाग्बिलत्वादिकोंकी उपपत्ति बन सकती है। तैसे 'अजामेकाम्' इस मन्त्रमें भी 'अजा' पद करके नियमसे प्रधानका ही ग्रहण नहीं कर सकते हैं। क्योंकि विशेष निश्चयरूप अवधारणके कारणका अभाव होनेसे अजा पद करके मायादिकोंका भी ग्रहण बन सकता है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—तहां—'अजामेकां रोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृज्यमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' (श्वे० ४।५) यह मन्त्र इस सूत्रका विषयवाक्य है।

अजा शब्दका गौणीवृत्ति करके प्रधानमें, तथा तेज, अप्, अन्नमें तथा मायामें, योग होनेसे; अजा शब्द प्रधान पर है। अथवा तेज, अप्, अन्नरूप अवान्तर प्रकृति पर है। अथवा मायारूप परम प्रकृतिपर है। इस प्रकारका यहां संशय होता है।

अथ पूर्वपक्षः। 'पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धमित्याह' इति भा०। अर्थ—प्रधानवादी पुनः कहता है—प्रधानमें वैदिक शब्द करके अप्रतिपाद्यत्व असिद्ध है इति।

शंका। प्रधानमें अशाब्दत्वको पूर्व सिद्ध कर आये हैं; पुनः प्रधानमें जो अशाब्दत्वका खण्डन करना है सो अयुक्त है।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'अजामेकाम्' यह मन्त्रवर्णरूप प्रमाण प्रधाननिष्ठ वैदिकत्वमें विद्यमान है। यद्यपि—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इस मन्त्रमें 'अव्यक्त' शब्दमात्र करके प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा

स्पष्ट नहीं बन सकती है। तथापि अजामन्त्रमें त्रिगुणत्वरूप करके प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा बन सकती है। अतः 'अजामेकाम्' इस मन्त्रमें प्रधानपरत्व ही है।

शंका। प्रधानको रूपादिकों करके रहित होनेसे अजामन्त्र करके प्रतिपाद्यत्व नहीं बन सकता है?

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। इस अर्थको दिखाते हैं– **'अत्र हि'** इत्यादि भा०। अर्थात् 'अजाम्' इस मन्त्रमें रोहित शुक्ल कृष्ण शब्द करके तीनों गुणोंका ग्रहण होता है। क्योंकि रञ्जनात्मक होनेसे रोहित नाम रजोगुणका है। तथा प्रकाशात्मक होनेसे शुक्ल नाम सत्त्वगुणका है। तथा आवरणात्मक होनेसे कृष्ण नाम तमोगुणका है।

शंका। अनात्मामें स्थित रोहितादिके वाचक शब्दों करके रज सत्त्व आदिक गुणोंके लाभ हुये भी प्रधानका लाभ किस प्रकार होगा?

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रधानके जो रज आदिक अवयव हैं; तिनोंके धर्म जो रञ्जकत्वादिक हैं; तिन रञ्जकत्वादिक निमित्तों करके रोहितादिक शब्द प्रधानको ही कहते हैं। अर्थात् गुणरूप अवयवोंके साथ अभेद होनेसे प्रधानका भी लाभ बन सकता है। अतः 'अजा' मन्त्रमें स्वतन्त्र प्रधानरूप प्रकृतिका नाम ही लोहितशुक्लकृष्णा है। अब प्रधानमें अजा शब्दको घटाते हैं—**'न जायत इति अजा स्यात्'** इत्यादि भा०। अर्थ—जो उत्पन्न न होवे तिसका नाम अजा है। क्योंकि "मूल प्रकृति जो है सो विकृति नहीं है" यह शास्त्रका सिद्धान्त है। अतः प्रधानका नाम अजा है।

शंका। **'रूढिर्योगमपहरति'** 'रूढ़िवृत्ति जो है सो योगवृत्तिको हरण करती है' इस न्याय करके; अजा शब्द करके योगवृत्तिसे प्रधानका लाभ नहीं हो सकता है। क्योंकि अजा शब्द छागामें रूढ़ है।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना यद्यपि सत्य है। तथापि यहां आत्मविद्याके प्रकरणमें रूढ़िवृत्तिका असम्भव होनेसे योगवृत्तिका ही आश्रयण करना योग्य है। अत अजा शब्दका अर्थ प्रकृति ही है।

और **'सा*च बह्वीः' प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति'** इत्यादि भा०। अर्थात् अजारूप जो त्रिगुणात्मक प्रकृति है सो त्रैगुण्यविशिष्ट स्वसदृश ही सुखदुःखमोहा-

*टि०—अब 'अजाम्' इत्यादि मन्त्रमें, अजा शब्द करके प्रकृतिरूप अर्थका प्रतिपादन होनेसे; और पुरुषभेदरूप लिङ्गसे; प्रधानकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है। 'बह्वीः प्रजाः' इत्यादि वाक्यशेषके बलसे भी अजामन्त्र प्रधानपरक ही है। इस अर्थको 'सा च' इत्यादि भाष्यसे पूर्ववादी दिखाता है।

त्मक देव मनुष्य पशु पक्षी आदिक नाना प्रकारकी सम्पूर्ण प्रजावोंको उत्पन्न करती है। मूलप्रकृतिको सुखदुःखमोहरूप त्रिगुणात्मक होनेसे प्रकृतिका सम्पूर्ण कार्य भी सुखदुःखमोहरूप त्रिगुणात्मक ही हैं।

अर्थात् मैत्र नामक पुरुषकी स्त्रियोंके मध्यमें नर्मदा नामकी जो स्त्री है तिसमें मैत्रको सुख होता है। क्योंकि मैत्रके प्रति नर्मदाका सत्त्वरूपसे प्रादुर्भाव हुवा है। और सपत्नियोंको दुःख होता है। क्योंकि सपत्नियोंके प्रति नर्मदाका रजरूपसे प्रादुर्भाव हुवा है। नर्मदा स्त्रीकी कामनावाले चैत्रको तिसकी अप्राप्तिसे मोहरूप विषाद होता है। क्योंकि 'चैत्रके प्रति नर्मदाका तमरूपसे उद्भव हुवा है। इस नर्मदाने सर्व पदार्थोंका व्याख्यान कर दिया है। इस रीतिसे महदादिरूप सम्पूर्ण प्रजा सुखदुःखमोहरूप त्रिगुणात्मक ही है।

और एक 'अज' पुरुष इस प्रकृतिका सेवन करता हुवा व प्रेम करता हुवा 'अनुशेते' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकृतिको अविवेकसे अहंता, ममता, वा परता करके आश्रयण करता हुवा 'मैं सुखी हूं' "मैं दुःखी हूं" तथा "मैं मूढ़ हूं" 'यह मेरा है' और 'यह पराया हैं' इस प्रकार अविवेकज्ञान करके जन्ममरणरूप संसारको प्राप्त होता है।

और उत्पन्नविवेकज्ञानवाला जो दूसरा विरक्त 'अज' पुरुष है सो 'भुक्तभोगाम्' कहिये किया है शब्दादिक विषयविषयक ज्ञानरूप भोग और गुण-पुरुषकी अन्यताविषयक ख्यातिरूप अपवर्ग जिसने, ऐसी जो यह प्रकृति है तिसको त्याग करता है। अर्थात् मुक्त होता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सांख्यके मतमें जो प्रधानादिकोंकी कल्पना है सो श्रुतिमूलक ही है यह सिद्ध हुवा इति।

अथ **सिद्धान्तपक्षः**। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये भाष्यकार भगवान् कहते हैं—**'नानेन मन्त्रेण'** इत्यादि भा०। अर्थात् 'अजामेकाम्' इस मन्त्र करके सांख्यवादमें श्रुतिमूलकत्व आश्रयण करनेको अशक्य है। अर्थात् यह मन्त्र स्वतन्त्ररूपसे किसी भी वादको समर्थन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि सर्वत्र यथाकथञ्चित् कल्पना करके अजात्वके सम्पादनकी उपपत्ति बन सकती है। और प्रसङ्गमें विशेष करके निश्चयके कारणका अभाव होनेसे 'अजा' मन्त्र करके 'सांख्यवाद ही अभिप्रेत है' ऐसा नहीं कह सकते हैं। जैसे 'अर्वाग्बिलश्चमसः' इस मन्त्रमें "नीचे जिसके बिल हो, ऊपर गोल हो, सो चमस नामवाला यागका पात्र ही है" ऐसा स्वतन्त्ररूपसे निरूपण नहीं कर सकते हैं। क्योंकि अन्य पदार्थोंमें भी यथाकथञ्चिद् ऐसी कल्पनाकी उपपत्ति बन सकती है। तैसे अजामन्त्रमें भी विनिगमकके विना विशेषका निर्धारण नहीं कर सकते हैं। अतः यहां इस मन्त्रमें भी 'प्रधान ही अजा शब्द करके अभिप्रेत है' ऐसा नियम नहीं कर सकते हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रधानमें वैदिक शब्द करके प्रतिपाद्यत्वका अभाव सिद्ध हुवा इति॥ ८॥

शंका। बृहदारण्यकके द्वितीय अध्यायमें—**'यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद।'** इस मन्त्रसे प्राणकी शिशुरूप करके उपासना कही है। इस प्राणरूप शिशुका 'आधान' अर्थात् आधाररूपसे शरीरको कहा है। और 'प्रत्याधान' अर्थात् विशेष करके स्थितिका स्थानरूपसे शिरको कहा है। और 'स्थूणा' अर्थात् खूंटा कील बन्धनस्थानरूपसे अन्नपान जनित शक्तिको वर्णन किया है। और 'दाम' अर्थात् रस्सी; वत्सकी तरह प्राणशिशुके बन्धनका साधनरूपसे अन्नको वर्णन किया है। और इस उपासनाका—**'सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि'** यह इन्द्रियविजयफल कहा है।

और इसके अनन्तर प्राणकी सप्त उपासनारूप उपनिषत् बतलाई हैं। अर्थात् १ चक्षुगत लोहित रेखावोंके द्वारा प्राणमें रुद्र अनुगत है। २ और अक्षिगत जलके द्वारा पर्जन्य देवता अनुगत है। ३ और दृक् शक्तिके द्वारा इस प्राणमें आदित्य अनुगत है। ४ और चक्षुगत कृष्णरूपके द्वारा अग्नि देवता अनुगत है। ५ और चक्षुगत शुक्लरूपके द्वारा इन्द्र देवता अनुगत है। ६ और चक्षुके नीचेके पटलके द्वारा पृथिवी अनुगत है। ७ और उत्तर पटलके द्वारा इस प्राणमें स्वर्ग अनुगत है। ऐसी चिन्तारूप उपासनाका **'नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद'** यह अक्षय अन्नकी प्राप्तिरूप फल वर्णन किया है।

पुन अनन्तरमें ही **'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः'** इस मन्त्रसे चमसका वर्णन किया है। इस मन्त्रमें 'यह चमस क्या है' ऐसी आकाङ्क्षाके हुये-तहां जैसे अर्वाग्बिल मन्त्रके वाक्यशेषरूप **'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमसः'** इत्यादि मन्त्रके बलसे "प्रकृतमें प्राणका प्रत्याधानरूप शिरका नाम चमस है" ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि सोमके रखनेका जो यज्ञपात्र है तिसका नाम चमस है। तिसके सदृश ही शिर है। तथा च यहां वाक्यशेषके बलसे 'चमस' शब्द शिरका बोधक है। तैसे यहां 'अजामेकाम्' इस मन्त्रमें 'अजा' शब्द करके क्या निश्चय करनेको योग्य है? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार **समाधान** कहते हैं:-

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ६ ॥

अर्थ—१ ज्योतिरुपक्रमा, २ तु, ३ तथा, ४ हि, ५ अधीयते, ६ एके। इस सूत्रमें छ पद हैं। 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि मन्त्र करके प्रतिपाद्य और परमेश्वरसे उत्पन्न 'ज्योतिरुपक्रमा' कहिये ज्योतिः प्रमुखा अर्थात् जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्जरूप चतुर्विध भूतग्रामकी प्रकृतिरूप जो तेजोऽबन्नरूप भूतत्रयी है। यही प्रकृतमें अजा शब्द करके जाननेको योग्य है। और इस सूत्रमें 'तु' शब्द अवधारणार्थक है। इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं-भूतत्रयी स्वरूप ही यह अजा जाननेको योग्य है। सत्त्वादिक गुणत्रय स्वरूप प्रधान नहीं। क्योंकि छान्दोग्य शाखावाले भूतत्रयीको ही लोहित शुक्ल कृष्णरूपसे अध्ययन

करते हैं। अत अजा शब्द लोहितादि विशिष्ट भूतत्रयी स्वरूप भौतिक प्रकृतिको ही कहता है इति।

शंका। सांख्य स्मृति करके उक्त गुणत्रय स्वरूप जो स्वतन्त्र प्रधान है सो ही अजा शब्द करके ग्राह्य क्यों न हो।

समाधान। छान्दोग्य शाखावाले कोईक तेज, अप, अन्नकी परमेश्वरसे उत्पत्तिको कहकरके तिन तेज आदिकोंकी ही रोहितादिक स्वरूपताको कथन करते हैं—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥' 'यदादित्यस्य' 'यच्चन्द्रमसः' इत्यादि। अर्थ—स्थूल भौतिक अग्निमें जो लाल रूप है, सो सूक्ष्म भूतात्मक तेजका रूप है। और जो शुक्ल रूप है, सो जलका है। और जो कृष्णरूप है, सो पृथिवीका है। तथा च ऐसे निश्चयसे अग्निमेंसे अग्नित्व निवृत्त हो गया। क्योंकि अग्निरूप विकार वाग्विलास स्वरूप नाममात्र ही है। केवल सूक्ष्म भूतत्रयी स्वरूप व लोहितशुक्लकृष्ण स्वरूप तीन रूप ही सत्य हैं। इसी प्रकार आदित्य और चन्द्रमा और विद्युतादिक निखिल प्रपञ्चमें केवल तीन रूप ही सत्य हैं। आदित्यादिक निखिल जगत् वाग्विलास स्वरूप नाममात्र ही है अर्थात् भ्रममात्र ही है इति। इस श्रुतिमें स्थित रोहितादिक शब्दों करके कही हुई जो सूक्ष्म भूतत्रयी है और जो लोहितशुक्लकृष्णात्मक निखिल विकारकी प्रकृति है। और विकारकी अपेक्षासे जो सत्य कही जाती है। सो यही प्रकृति अजामन्त्रमें 'रोहितशुक्लकृष्णाम्' इस पद-श्रुति करके प्रत्यभिज्ञाकी विषय होती है प्रधान नहीं। क्योंकि 'अजामेकाम्' इत्यादि मन्त्रमें जैसे स्थावरजङ्गमकी प्रकृतिरूप अजामें लोहितशुक्लकृष्णरूपता सुनी गई है। तैसे ही 'यदग्ने रोहितम्' इस मन्त्रमें स्थावरजङ्गमकी प्रकृतिरूप सूक्ष्म भूतत्रयी व रूपत्रयीमें भी रो(लो)हित शुक्लकृष्णरूपता सुनी गई है इति। अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—

शंका। रोहितादिक शब्दोंका प्रधानमें समन्वयको हम प्रथम कह आये हैं?

समाधान। 'रोहितादीनाञ्च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वात्' इत्यादि भा०। अर्थ—लोहित शुक्ल कृष्णात्मक भूतत्रयी व रूपत्रयीमें मुख्य होनेसे रोहितादिक शब्द तेज आदिकोंको ही बोधन करते हैं। और सत्त्वादिक गुणोंमें गौण होनेसे गुणात्मक प्रधानको बोधन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि मुख्य अर्थके सम्भव हुये रञ्जनादिक गुणयोगसे रोहितादिक शब्दोंका प्रधानमें उपचार नहीं बन सकता है इति।

शंका। छान्दोग्यरूप शाखान्तरमें स्थित 'यदग्ने रोहितं रूपं' इत्यादिक मन्त्र करके श्वेताश्वतर शाखान्तरमें स्थित अजामन्त्रका निर्णय किस प्रकार होगा?

समाधान। 'असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते'। अर्थ—असंदिग्ध है अर्थ जिसका ऐसा जो मन्त्र है तिस मन्त्र करके, संदिग्ध है अर्थ जिसका

ऐसा जो मन्त्र है तिस मन्त्रका, निगमन कहिये योजना न्याय्य है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं इति। प्रसङ्गमें असंदिग्धार्थक 'यदग्ने रोहितं रूपं' इत्यादिक जो मन्त्र हैं तिन मन्त्रों करके संदिग्धार्थक जो 'रोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादिक मन्त्र है तिसकी योजना करनी। क्योंकि "सर्व शाखावोंमें एक ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है" यह शास्त्रका सिद्धान्त है। इस पूर्वोक्त रीतिसे रोहित शुक्ल कृष्ण शब्दका अर्थ तेज, अप्, अन्न रूप भूतत्रयी ही सिद्ध होता है इति।

और जैसे 'यदग्ने रोहितं रूपं' इस शाखान्तरीय वाक्यके बलसे अजा मन्त्रमें प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है। तैसे ही श्वेताश्वतर उपनिषत्में भी पूर्वापरकी पर्यालोचना करनेसे अजामन्त्रमें स्वतन्त्र प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषत्में—'ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं कारणं ब्रह्म' इत्यादि उपक्रम करके विचार किया है कि— क्या केवल शुद्ध ब्रह्म जगत्का कारण है? अथवा शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न जगत्का कारण है? अथवा उपकरण-विशिष्ट ब्रह्म जगत्का कारण है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि निर्विकार शुद्ध ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति नहीं बन सकती है। तथा द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न केवल जड़ पदार्थसे जगत्की उत्पत्ति नहीं बन सकती है। शेष तृतीय पक्ष अङ्गीकार करनेको योग्य है। क्योंकि इस प्रकार ब्रह्मवादी पुरुष विचार करके पुनः 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'। अर्थ—सो ब्रह्मवादी पुरुष ध्यानयोग करके परमात्मामें अनुप्रविष्ट होकर सत्त्वादिक स्वगुणों करके विशिष्ट तथा ब्रह्ममें अभेदरूप करके अध्यस्त जो परतन्त्र शक्तिरूप माया है तिस मायाको उपकरण (सहाय) रूप करके देखते भये इति। इस श्वेताश्वतरके वाक्योपक्रममें समस्त जगत्की विधान करने-वाली परमेश्वराधीन शक्तिका ही निश्चय होता है।

तथा 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इस वाक्यशेषमें भी परमेश्वरकी मायारूप प्रकृतिको ही जगत्की कारण कहा है।

तथा—'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः'। अर्थ—जो योनि योनिके प्रति एक अधिष्ठानरूप करके स्थित है सो ही परमात्मा है इति।

शंका। जगत्की योनिरूप मायाशक्तिको एक होनेसे 'योनिं योनिम्' यह वीप्सा नहीं बन सकती है?

समाधान। यहां मायाको एक हुये भी जीवकी उपाधि अविद्याशक्तिरूप जो मायाके अंश हैं सो नाना हैं। ये ही सूक्ष्म स्थूल संघातकी योनि हैं। अतः 'योनिं योनिम्' यह बहुत्व निर्देशरूप वीप्सा भी बन सकती है।

इस मन्त्र करके भी परमेश्वरके आश्रित तिस परतन्त्र मायाका ही निश्चय

होता है। अतः "अजामन्त्र करके स्वतन्त्र कोई प्रधानरूप प्रकृतिको कथन किया है" ऐसा नहीं कह सकते हैं।

और प्रकरणसे भी यही निश्चय होता है कि-अव्याकृत नामरूपवाली तथा नामरूपकी प्रागवस्था जो मायारूप दैवी शक्ति है तिसको ही यह पूर्वोक्त अजामन्त्र कहता है इति। यहां भाष्यमें स्थित-'अव्याकृतनामरूपा' यह जो पद है सो-'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इत्यादि श्रुत्यन्तरकी प्रसिद्धिको कहता है।

शंका। मायामें रोहितादिकरूपवत्त्वकी उपपत्ति किस प्रकार होगी?

समाधान। मायाके विकाररूप जो तेज अप् पृथिवी हैं; सो लोहित शुक्ल कृष्ण हैं। इसलिये मायाको भी लोहित शुक्ल कृष्णा कहते हैं। अर्थात् मायाको विश्वरूप होनेसे लोहित शुक्ल कृष्णरूप कह सकते हैं॥ ९॥

यहां—"छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार तेज, अप्, अन्नरूप अवान्तर प्रकृति अजामन्त्रका अर्थ है। अथवा श्वेताश्वतरोपनिषित्को पूर्वापर पर्यालोचन करनेसे प्रकरणके अनुसार अजामन्त्र परमेश्वर करके अधिष्ठित परम प्रकृतिरूप मायाशक्तिको ही कहता है" इस अर्थको पूर्व सूत्रमें कह आये हैं।

तहां सांख्यवादी पुनः शंका करता है कि—तेज, अप्, अन्नको प्रसिद्ध अजासे विलक्षण होनेसे त्रैरूप्यकी समता मात्रसे अजा शब्द करके किस प्रकार जाननेके लिये समर्थ हो सकते हैं। किन्तु नहीं हो सकते हैं। अर्थात् क्या तेज, अप्, अन्नमें अजा शब्द रूढ़ है? अथवा यौगिक है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि तेज आदिकोंमें अजात्व जातिके न होनेसे अजा शब्दकी प्रसिद्धि नहीं है। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि यौगिक पक्षमें अजाशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त जन्माभाव है। और तेज, अप्, अन्नकी उत्पत्तिका श्रवण होता है। अतः तेज आदिकोंमें जन्माभाव निमित्तक जो अजा शब्दका प्रयोग है सो नहीं बन सकता है। अतः अजा शब्दका प्रयोग भूतत्रयीमें विरुद्ध है इति? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार उत्तरको कहते हैं:—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः॥ १०॥

अर्थ—१ कल्पनोपदेशात्, २ च, ३ मध्वादिवत्, ४ अविरोधः। इस सूत्रमें चार पद हैं। जैसे मधु प्रिय है, तैसे ही आदित्य भी प्रिय है; अतः मधुरूपककी क्लृप्ति करके आदित्यको देवमधु जैसे श्रुतिमें कहा है। अर्थात् मधुके प्रियत्वरूपसादृश्यकी कल्पना करके आदित्यमें मधु शब्दका प्रयोग जैसे होता है। तैसे ही प्रसङ्गमें भी अजारूपककी क्लृप्ति है। अर्थात् लोक प्रसिद्ध अजाके सादृश्यकी कल्पना करके तेज, अप्, अन्नमें भी गौणीवृत्ति करके अजा शब्दका प्रयोग बन सकता है। अतः कोई विरोध नहीं है इति।

अब भाष्यकार भगवान् इस सूत्रके अभिप्रायको—'**नायम्**' इत्यादि भाष्यसे दिखाते हैं—अर्थात् अजामन्त्रमें स्थित जो 'अजा' शब्द है, सो अजात्व जाति

निमित्तक नहीं है। अर्थात् भूतत्रयीमें रूढ नहीं है। तथा—'न जायत इति अजा' इस रीतिसे यौगिक भी नहीं है।

शंका। यदि अजा शब्द रूढ तथा यौगिक नहीं है, तो तेज, अप्, अन्नरूप अवान्तर प्रकृतिमें किस प्रकार वर्तता है?

समाधान। तेज आदिकोंमें रूपककल्पना करके अजा शब्दका उपदेश है। अर्थात् चराचरके कारणरूप जो तेज आदिक हैं तिनोंकी अजारूपकक्लृप्तिके उपदेशको यह अजामन्त्र करता है। अब इस रूपकक्लृप्तिके उपदेशको दृष्टान्त करके स्पष्ट करते हैं-जैसे लोकमें कोई यदृच्छा करके जो कदाचित् रोहित शुक्ल कृष्ण वर्णवाली 'अजा' बकरी होवे और अपने सदृश बहुतसी बकरीरूप प्रजावोंको उत्पन्न करनेवाली होवे। तिस अजाको एक अज बकरा सेवन करता हुवा वा प्रेम करता हुवा भोगता है। और दूसरा अज भोग करके तिस अजाको त्याग करता है। तैसे ही सूक्ष्म तेज, अप्, अन्नरूप जो स्थूल भूतोंकी यह प्रकृति है सो भी तीन वर्णवाली है और स्वसदृश बहुत चराचररूप विकार समूहको उत्पन्न करती है। तथा सो प्रकृति अविवेकी पुरुषों करके भोगी जाती है। तथा विवेकी पुरुष करके त्याग करी जाती है। अतः सूक्ष्म भूतत्रयी प्रसिद्ध 'अजा' बकरीके सदृश कही है।

शंका। "एक क्षेत्रज्ञ अजाका सेवन करता है, दूसरा क्षेत्रज्ञ त्याग करता है" इस वचन करके सिद्धान्तीको भी जीवोंका परस्पर भेद ही पारमार्थिक इष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है।

समाधान। सो वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि—**'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः'** यह श्रुति जीवोंके पारमार्थिक भेदको प्रतिपादन करनेकी इच्छासे नहीं प्रवृत्त हुई है। किन्तु बन्धमोक्षकी व्यवस्थाको प्रतिपादन करनेकी इच्छासे प्रवृत्त हुई है। अर्थात् लोकमें प्रसिद्ध जो जीवोंका परस्पर भेद है; तिस भेदका अनुवाद करके "भोगसे बन्ध, और त्यागसे मोक्ष होता है" इस प्रकार बन्ध मोक्षकी व्यवस्थाको प्रतिपादन करती है। क्योंकि भेद जो है सो मिथ्या अज्ञानरूप उपाधि करके कल्पित है। अतः भेद पारमार्थिक नहीं हो सकता है। तहां श्रुतिः—**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'** अर्थ—एक जो प्रकाशरूप देव है सो ही सर्वभूतोंमें आवृत्त हो रहा है, और सर्व व्यापक है, तथा सर्वभूतोंका अन्तर आत्मारूप है इति। **'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन'** अर्थ—'आत्मा सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य है' और 'इस आत्मामें नाना कुछ भी नहीं है' इत्यादि इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे भेदको कल्पित होनेसे अजामन्त्रमें प्रधानवादकी प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकती है।

अब 'मध्वादिवत्' इस दृष्टान्तको स्पष्ट करके दिखाते हैं–जैसे मधुसे भिन्न जो आदित्य है; तिसमें मधुत्वकी कल्पना श्रुतिमें करी है। तथा धेनुसे भिन्न जो वाणी है; तिसमें धेनुत्वकी कल्पना श्रुतिमें करी है। तथा अग्निसे भिन्न जो द्युलोकादिक हैं; तिनोंमें अग्नित्वकी कल्पना करी है। और रथादिकसे भिन्न जो शरीरादिक हैं; तिनमें रथादिकी कल्पना श्रुतिमें करी है। तैसे ही अजासे भिन्न जो तेज, अप् अन्नरूप भूतत्रयी है; तिसमें अजात्वकी कल्पना 'अजामेकाम्' इत्यादिक श्रुतिमें करी है। अतः तेज आदिकोंमें भी जो अजाशब्दका प्रयोग है सो विरुद्ध नहीं है इति। यहां पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें समन्वयकी असिद्धि फल है। और सिद्धान्तमें ब्रह्ममें समन्वयकी सिद्धि फल है इति॥ १०॥

इति चमसाधिकरणं समाप्तम्।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

अर्थ—१ न, २ संख्योपसंग्रहात्, ३ अपि, ४ नानाभावात, ५ अतिरेकात्, ६ च। इस सूत्रमें छ पद हैं। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यादि मन्त्रमें पञ्चविंशति संख्याका उपसंग्रह होनेसे भी प्रधानादिकोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि यहां ये पञ्चविंशति तत्त्व नाना हैं। अर्थात् यहां प्रत्येक पञ्चकमें साधारण इतर पञ्चकोंसे व्यावृत अनुगमक कोई धर्म है नहीं। और आत्माका व आकाशका आधिक्य भी इस मन्त्रमें श्रवण होता है इति।

'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥' (बृ० ४।४।१७) अर्थ—जिसमें पञ्च पञ्चजन और आकाश स्थित है; तिस ही अमृत स्वरूपको मैं आत्मा मानता हूं। इसलिये अमृत ब्रह्म स्वरूपको जाननेवाला मैं अमृत अविनाशीरूप हूं इति। यह मन्त्र इस सूत्रका विषय है।

"यह मन्त्र सांख्यस्मृति प्रतिपाद्य—२५ तत्त्वोंका प्रतिपादक है; अथवा अन्य अर्थका प्रतिपादक है" यह यहां सन्देह है।

यहां पर पूर्वोक्त प्रकारसे अजा मन्त्र करके सांख्यवादीके अभिमत तत्त्वोंकी सिद्धि नहीं भी हुई तो भी इस मन्त्र करके सांख्यवादी पुनः पूर्वपक्ष करता है।

अथ पूर्वपक्ष। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें 'पञ्च पञ्चजनाः' यह पञ्च संख्याविषयक दूसरी पञ्च संख्या सुनी जाती है। क्योंकि दो वार पञ्च शब्दका प्रयोग देखा गया है। सो ये पञ्च पञ्चक मिलकर पच्चीस हुये। पञ्चविंशति संख्या करके जितने संख्येयोंकी आकाङ्क्षा होती है। उतने ही तत्त्वोंका सांख्य स्मृतिमें वर्णन किया है।

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' (सांख्य का० ३)। अर्थ-- मूल प्रकृति प्रधानका नाम है, यह किसीकी विकृति (कार्य) नहीं है; किन्तु सर्वकी प्रकृति (कारण) ही है। और महद्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्रा, ये सात प्रकृति भी हैं विकृति भी हैं। क्योंकि महत्तत्त्व मूल प्रकृतिकी विकृति है; और अहङ्कार आदिकी प्रकृति है। और अहङ्कार महत्तत्त्वकी विकृति है; और सो ही अहङ्कार तमःप्रधान हुवा पञ्च तन्मात्रावों (सूक्ष्म भूत) की प्रकृति है। और सत्त्व प्रधान हुवा एकादश इन्द्रियोंकी प्रकृति है। और तन्मात्रा अहङ्कारकी विकृति हैं; पञ्च स्थूल भूतोंकी प्रकृति हैं। पञ्च स्थूल भूत, और एकादश इन्द्रिय, यह १६ विकार ही हैं, प्रकृति किसीकी नहीं हैं। यद्यपि पृथिवी आदिकोंमें देह घटादिकी कारणता है; तथापि देह घटादिक पृथिवी आदिकसे तत्त्वान्तर नहीं हैं इसलिये पृथिवी आदिक प्रकृति नहीं हैं। 'तत्त्वान्तरोपादानत्वं प्रकृतित्वं' 'तत्त्वान्तरके उपादानका नाम प्रकृति है'। यह प्रकृतिका लक्षण यहां विवक्षित है। केवल उपादान मात्रको प्रकृति नहीं माना है। पुरुष कूटस्थ नित्य अपरिणामी है; न किसीकी प्रकृति है न विकृति है इति। इसलिये सांख्य-प्रसिद्ध इन पञ्चविंशति तत्त्वोंका श्रुतिप्रसिद्ध पञ्चविंशति संख्या करके उपसंग्रह होनेसेः सांख्यवादमें श्रुतिकी प्रमाणता सिद्ध होगई।

शंका। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें सांख्यशास्त्रप्रसिद्ध तत्त्वोंका ग्रहण नहीं है। क्योंकि यहां यदि सांख्यप्रसिद्ध २५ तत्त्वोंका ग्रहण होता तो इस मन्त्रमें 'यस्मिन्' पदसे आत्माको तत्त्वोंके आधाररूपसे कहा है; और 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' यह आकाशकी आधारता आत्मामें जुदी कही है। इस-लिये पञ्चविंशति तत्त्वोंमेंसे आत्मा और आकाशको अलग निकल जानेसे त्रयोविंशतिजनाः' ऐसा पाठ होना चाहिये था, 'पञ्च पञ्चजनाः' ऐसा पाठ असङ्गत हो जायगा।

समाधान। आकाश और आत्माके पृथग् होनेपर भी प्रकृतिके सत्त्व, रज, और तम तीन भाग समझकर "पञ्च पञ्चजनाः" यह पाठ बन सकता है।

शंका। ऐसा माननेसे आत्मा और आकाशको मिलाकर २७ तत्त्व हो गये "पञ्चविंशति तत्त्व हैं" इस सिद्धान्तका व्याकोप होगा।

समाधान। सत्त्व, रज, तमको मूल प्रकृति मात्र होनेसे सिद्धान्तकी हानि नहीं होती है। यदि तीन गुणोंकी पृथग् विवक्षा हो तो २७ तत्त्व कह देनेमें भी कोई विरोध होता नहीं। इसलिये श्रुतिमूलक सांख्य स्मृति अप्रमाण नहीं है।

अथ **सिद्धान्तपक्ष**। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें पञ्चविंशति संख्याका उपसंग्रह (ग्रहण) होनेसे भी प्रधानादिकोंमें श्रुति प्रमाणताकी आशा नहीं करनी। क्योंकि **'नानाभावात्'** अर्थात् ये पञ्चविंशति तत्त्व नाना हैं; अर्थात् इन पच्चीस तत्त्वोंके प्रत्येक पञ्चकमें रहनेवाला इतर पञ्चकसे व्यावृत्त कोई साधारण

धर्म नहीं है, जिससे पञ्चविंशति संख्याके अवान्तर अन्य पञ्च पञ्च संख्याका निवेश हो सके। क्योंकि पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तथा मनमें कोई एक अनुगत धर्म, क्रिया, अथवा जाति व गुण व सम्बन्ध नहीं है; जो इतरसे व्यावृत्त हो। इसी तरह अन्य पञ्चकोंमें भी जानना। यद्यपि पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंमें असाधारण धर्म ज्ञानेन्द्रियत्व है। और पञ्च कर्मेन्द्रियोंमें कर्मेन्द्रियत्व है। और पञ्च तन्मात्रावोंमें स्थूलप्रकृतित्व है। तथापि 'यस्मिन्' पदसे आत्माको पञ्चविंशति तत्त्वोंका आधाररूपसे पृथग् वर्णन किया है। और आकाशको भी पञ्चजनोंसे पृथग् कहा है। अतः पञ्चविंशतिसंख्यापूर्तिके लिये सत्त्व, रज, तम, महत्तत्त्व, और अहङ्कारको एक पञ्चक कहना होगा। और मनको अन्य चार वायुआदिक तत्त्वोंमें मिलाकर अन्य पञ्चक कहना होगा। तथा च इन दोनों पञ्चकोंमें इतर पञ्चक व्यावृत्त कोई धर्म अनुगमक है नहीं। एक अनुगत अवच्छेदकरूप धर्मके विना नाना पदार्थोंमें द्वित्वादिक संख्याका निवेश नहीं देखा गया है।

शंका। 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः'। अर्थ—१२ वर्ष पर्यन्त इन्द्रने वर्षा नहीं करी इति। यहां पर जैसे वर्षाकालके ज्ञाता पुरुष अवान्तर संख्यासे बारह वर्षकी अनावृष्टिका कथन करते हैं। तैसे ही 'पञ्च पञ्च' इस अवान्तर संख्या करके पञ्चविंशति संख्याका बोध हो जावेगा।

समाधान। सो भी नहीं बन सकता है। क्योंकि इस पक्षमें लक्षणापत्तिरूप दोष होगा। दो वार उच्चारित पञ्च शब्दकी पांच पञ्चकोंमें लक्षणा माननी पड़ेगी; तब पञ्चविंशति संख्याका लाभ होगा। नहीं तो 'पञ्च सप्त वर्षाणि' यहांपर जैसे बारह वर्षका बोध हुवा है। तैसे ही दश संख्याविशिष्ट जनोंका ही बोध होगा।

वस्तुतः 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' यहांपर, पर 'पञ्च' शब्द 'जन' शब्दके साथ समस्त है—'पारिभाषिकेण स्वरेणैकपदत्वनिश्चयात्'। यह भाष्य है। अर्थ—ब्राह्मणभव स्वरसे समासका निश्चय होनेसे पञ्चजन शब्द समस्त है। अर्थात् यहां 'जन' शब्द अन्त उदात्त है; यह स्वर 'समासस्य' इस सूत्र करके समासमें ही होता है। 'भाषा' शब्दकी ब्राह्मण भागमें, 'प्रवचन' शब्दकी मन्त्र भागमें वैदिकोंकी रूढ़ि है इति। 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १।६।२।२)। ऐसा तैत्तरीय श्रुतिमें प्रयोग देखा गया है। इसलिये 'पञ्चजनाः' यहां एक पद (समास), एक स्वर, व एक विभक्तिका ही निर्णय होता है।

शंका। समास मान लेनेसे क्या हो जायगा?

समाधान। समास होनेसे पञ्च पञ्च यह वीप्सा नहीं बन सकती है। और 'पञ्च पञ्च' इस प्रकार पञ्चक द्वयका भी यहां ग्रहण नहीं बन सकता

है। अन्यथा पञ्चक द्वयको मिलाकर दश जनोंका ही लाभ होगा। और पर पञ्च संख्याकी पूर्व पञ्च संख्या विशेषण भी नहीं बन सकती है; जिससे पञ्च पञ्चकका लाभ होवे। क्योंकि विशेषणको प्रधानके साथ सम्बन्धकी आकाङ्क्षा होनेसे उपसर्जनके साथ सम्बन्ध (अन्वय) इष्ट नहीं है।

शंका। जैसे 'पञ्च पञ्चपूल्यः' यहांपर पञ्चविंशति पूलीका भान होता हैं। तैसे ही पञ्च संख्या विशिष्ट जनोंका पुनः पञ्च संख्या विशेषण होनेसे पञ्च-विंशतिका लाभ हो जावेगा।

समाधान। 'पञ्चपूली' शब्दमें पञ्च संख्या समुदायि पञ्च पूलियोंकी अवच्छेदक (व्यावर्तक) है। समास गम्य समुदायकी अवच्छेदक नहीं है। अतः 'कितने समुदाय हैं' ऐसी आकाङ्क्षा होती है। तिसकी निवृत्तिके लिये 'पञ्चपूल्यः' का विशेषण पुनः 'पञ्च' कहना उचित है। पञ्च पूलियोंका समाहार (समुदाय) यह 'पञ्चपूल्यः' शब्दका अर्थ है। पञ्चजन शब्दमें 'सप्तर्षिः' 'दक्षिणाग्निः' शब्दकी तरह कर्मधारय समास है। 'पञ्चपूल्यः' की तरह समाहार नहीं है। पञ्चजन घटक पञ्च संख्या जनोंकी व्यावर्तक है। पञ्च संख्यासे ही जनोंका भेद भास गया है। समुदायका समाससे भान है नहीं। अतः 'कितने समुदाय हैं' यह आकङ्क्षा नहीं होनेसे; 'पञ्च पञ्चजनाः' इस पञ्च संख्याको पञ्चजनका विशेषण करके पञ्चविंशति संख्याका लाभ नहीं हो सकता है।

शंका। पञ्चसंख्याविशिष्ट जनोंका विशेषण पञ्च संख्या मत रहो; परन्तु पञ्चजन घटक पञ्च संख्याका विशेषण पञ्च क्यों न होजाय। क्योंकि जैसे 'जन' पञ्च संख्या करके अवच्छिन्न हैं, तैसे जनका विशेषण पञ्च संख्या किसी करके अवच्छिन्न है नहीं ?

समाधान। अनवच्छिन्न होनेसे यदि यह पञ्च संख्या विशेषण होगी तो पञ्च-संख्याकी ही होगी। इस पक्षमें दोष कह आये हैं-'**उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात्**'। अर्थ—उपसर्जनका विशेषणके साथ अन्वय नहीं होता है इति। अतः '**पञ्च पञ्चजनाः**' यहांपर पञ्चविंशति तत्त्व अभिप्रेत नहीं हैं।

और आत्मा व आकाशका निर्देश अधिक होनेसे भी, '**यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः**' इस मन्त्रका पञ्चविंशति तत्त्वोंके प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं है। अर्थात् पञ्च संख्या पञ्चसंख्याकी विशेषण होनेपर भी 'यस्मिन् पञ्च' यह मन्त्र सांख्यप्रतिपाद्य पञ्चविंशति तत्त्वोंका प्रतिपादक नहीं बन सकता है। क्योंकि आत्मा और आकाशसे पञ्चविंशति संख्यावाले तत्त्वोंका मन्त्रमें पृथग् ग्रहण किया है। और आत्माको तत्त्वोंकी प्रतिष्ठाके प्रति आधाररूपसे निर्देश किया है।

शंका। 'यस्मिन् पञ्च' इस मन्त्रमें "तत्त्वोंका आधाररूपसे आत्मा निर्दिष्ट है" यह निश्चय कैसे हो सकता है।

समाधान। 'यस्मिन् पञ्च' इस मन्त्रमें आधाररूपसे आत्मा ही निर्दिष्ट है। क्योंकि 'यस्मिन्' इस सप्तमी विभक्ति करके निर्दिष्ट जो पञ्च पञ्चजनका व आकाशका आधार है; तिसका ही 'तमेव मन्य आत्मानम्' इस मन्त्रभाग करके आत्मरूपसे अनुकर्षण किया है।

और यदि 'यस्मिन् पञ्च' यह मन्त्र सांख्यप्रतिपाद्य तत्त्वोंका प्रतिपादक होवे तो आत्मा चेतन पुरुष है; सो भी सांख्य मतमें पञ्चविंशति तत्त्वोंके अन्तर्गत ही है। इसलिये एक ही आत्मामें आधेयपना और आधारपना कहना युक्त नहीं होवेगा।

यदि मूल प्रकृतिसे सत्त्वरजतमकी विवक्षा करके आत्मा और आकाशको तत्वोंके अन्तर्गत नहीं मानोगे तो सिद्धान्तका व्याकोप होगा। यदि आत्मा और आकाशको भी तत्त्व स्वरूप मानोगे तो सिद्धान्तसे विरुद्ध तत्त्वोंकी संख्याका आधिक्य होवेगा। अर्थात् २७ सप्तविंशति तत्त्वोंकी प्रसक्ति होवेगी।

यदि प्रकृतिके अवान्तर भेद सत्त्व रज तमको तत्त्वान्तर न मानोगे तो पञ्चविंशति तत्त्वोंके अन्तर्गत आत्माको सर्व तत्त्वोंका आधाररूपसे कह कर शेष चौवीस तत्त्वोंका ही आधेयरूपसे वर्णन करना उचित होगा। पञ्चविंशति तत्त्वोंकी और छव्वीसवां आकाशकी पृथग् पृथग् आधेयता वर्णन करनी अनुचित होगी। तैसे ही 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इस वाक्यसे पञ्चविंशति तत्त्वोंके अन्तर्गत आकाशका भी पृथक् ग्रहण न्याय्य नहीं है। और यदि आकाशको पञ्चविंशति तत्त्वोंसे पृथग् मानोगे तो; इस पक्षमें तत्त्वोंकी संख्याका आधिक्यप्रसङ्गरूप दूषण† कह आये हैं। और 'यस्मिन् पञ्च' इस मन्त्रमें केवल पञ्चविंशति संख्यामात्रके श्रवणसे अश्रुत सांख्यप्रतिपाद्य तत्त्वोंके

---

† **शंका।** सत्त्व रज तमकी पृथग् गणनासे तत्त्वोंकी २७ सप्तविंशति संख्या इष्ट ही है। अतः यह अतिप्रसङ्ग दूषण नहीं है।

समाधान। तत्त्वोंके आधिक्यको इष्ट करने पर भी तत्त्वोंसे आकाशकी पृथग् उक्ति व्यर्थ होगी। और-'यस्मिन्' यह आत्मामें तत्त्वोंकी आधारताका वर्णन भी विरुद्ध होगा। क्योंकि सांख्यमतमें महत्तत्त्वादिक तत्त्वोंका आधार स्वतन्त्र प्रधान ही है। और असङ्ग पुरुष तत्त्वोंका आधार है नहीं। और सांख्यमतमें जगत्को सत्य होनेसे जगत्में मिथ्यात्वके बोधक--'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्यशेषका विरोध होगा। अतः 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रसे सांख्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

उपसंग्रहकी प्रतीति भी कैसे हो सकती है। अर्थात् किसी प्रकारसे भी नहीं बन सकती हैं। और जन शब्दकी तत्त्वोंमें रूढ़ि भी नहीं है। अन्य अर्थके ग्रहण करनेसे भी संख्याकी उपपत्ति हो सकती है।

शंका। तो फिर 'पञ्च पञ्चजनाः' यहां पर क्या अर्थ है?

समाधान। 'दिक् संख्ये संज्ञायाम्' इस विशेष सूत्रसे संज्ञामें ही पञ्च शब्दका जन शब्दके साथ समास है। तथा च 'पञ्चजन' यह शब्द रूढ है। रूढिके अभिप्रायसे ही यहां पर कोईक प्रसिद्ध पञ्चजन विवक्षित हैं; सांख्य तत्त्वोंके अभिप्रायसे नहीं। 'सो पञ्चजन कितने हैं' ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर पुनः पञ्च कहा है। अर्थात् 'जो कोई पञ्चजन हैं सो पांच ही हैं' यह 'पञ्च पञ्चजनाः' इस शब्दका अर्थ है। जैसे 'सप्त सप्तर्षयः' शब्दका 'सप्त ऋषि सात ही हैं' यह अर्थ है इति ॥११॥

पुनः कौन सो पञ्चजन हैं? इसका उत्तर सूत्रकार स्वयं कहते हैं:—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

अर्थ—१ प्राणादयः, २ वाक्यशेषात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि वाक्यशेषके बलसे पञ्चजन शब्द करके प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न, और मनका ग्रहण करना इति।

अर्थात् **'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः'** इस मन्त्रसे उत्तर मन्त्रमें ब्रह्म स्वरूपके निरूपणके लिये प्राण आदिक पांचोंका निर्देश किया है—**'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः'** इति माध्यन्दिन० श्रु०। अर्थ—प्राणका प्राण, नेत्रका नेत्र, श्रोत्रका श्रोत्र, अन्नका अन्न, मनका मन, ब्रह्मका स्वरूप जो जानते हैं सो सनातन सर्व श्रेष्ठ ब्रह्मको जानते हैं। अर्थात् प्राण आदिका जीवन हेतु सत्य स्वरूप ब्रह्म है इति। सो ये ही सन्निधानके बलसे वाक्यशेषगत प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न, और मन; 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें पञ्चजन शब्द करके विवक्षित हैं।

शंका। 'जायन्त इति जनाः' इस व्युत्पत्ति करके कार्य मात्रका वाचक जन शब्द है। अथवा जन शब्द मनुष्योंमें प्रसिद्ध है। प्राण आदिक पञ्च पञ्चजन शब्दके अर्थ कैसे हो सकते हैं?

समाधान। तत्त्वोंमें जन शब्द (पञ्चजन शब्द) का प्रयोग कैसे हुवा? यह भी प्रश्न हो सकता है। प्रसिद्धिका अतिक्रम (त्याग) उभय पक्षमें समान ही है। इसलिये वाक्यशेषके बलसे पञ्चजन शब्द करके प्राण आदिकोंका ही ग्रहण उचित है। और जनसम्बन्धसे भी प्राण आदिकोंमें जन शब्दका प्रयोग बन सकता है।

'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३।१३।६)। अर्थ – हृदय पुर वासी ब्रह्मके द्वारपाल होनेसे सो ये प्राणादिक पञ्च ब्रह्मपुरुष कहे जाते हैं। क्योंकि हृदयरूप पुरके पांच द्वार हैं। पूर्व छिद्ररूप द्वार प्राण करके अधिष्ठित है। और दक्षिण छिद्र व्यान करके अधिष्ठित है। और पश्चिम द्वार अपान करके अधिष्ठित है। और उत्तर द्वार समान करके अधिष्ठित है। और ऊर्ध्व द्वार उदान करके अधिष्ठित है इति। इस छान्दोग्य श्रुतिमें जन वाचक पुरुष शब्दका प्रयोग भी प्राणादिकोंमें प्रसिद्ध है।

'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' (छा० ७।१५।१)। इत्यादि ब्राह्मणमें जन वाचक पितादि शब्दका प्रयोग भी प्राणमें प्रसिद्ध है। और समासके बलसे भी पञ्चजन शब्दको प्राणादिकोंमें रूढ माननेमें कोई विरोध नहीं है।

शंका। जो रूढ शब्द होता है सो लोकमें प्रसिद्ध होता है। पञ्चजन शब्दकी प्राणादिकोंमें लौकिक प्रसिद्धि है नहीं। इसलिये पञ्चजन शब्दकी प्राणादिकमें रूढिका आश्रयण कैसे कर सकते हैं अर्थात् नहीं कर सकते हैं ?

समाधान। उद्भिदादि शब्दकी तरह पञ्चजन शब्दकी भी रूढि आश्रयण कर सकते हैं। क्योंकि "प्रसिद्ध अर्थवाचक शब्दके समीपमें अप्रसिद्ध अर्थवाचक शब्दका जहां प्रयोग होता है। तहां प्रसिद्ध अर्थवाचक शब्दका जो अर्थ होता है, सो ही अर्थ समीप उच्चरित अप्रसिद्ध अर्थवाचक शब्दका भी होता है"यह नियम है।

जैसे **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** यहां पर "उद्भिद् पद कर्मनाम है; व विधेय गुण समर्पक है" यह **संशय** है। उद्भिद् शब्द खनित्र (फडुवा) आदिमें प्रसिद्ध होनेसे; और याग वाचक 'यजेत' शब्दके प्रयोगसे ही कर्मका लाभ हो जानेसे, ज्योतिष्टोममें गुणविधि है। यह यहां **पूर्वपक्ष** है। ज्योतिष्टोम अप्रकृत है, अतः गुणविधि नहीं हो सकती है। किन्तु सन्निहित 'यजेत' के प्रयोगबलसे 'उद्भिद्' यागका नाम है। यह **सिद्धान्त** है। और 'यूपं च्छिनत्ति' यहांपर 'च्छिनत्ति' शब्दके योगसे यूप शब्द करके दारुविशेष प्रतीत होता है। और **'वेदिं करोति'** यहांपर 'करोति' शब्दके योगसे 'वेदि' शब्दका अर्थ संस्कार-योग्य स्थण्डिलविशेष स्वीकार किया है।

तैसे ही यह 'पञ्चजन' शब्द भी 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इस सूत्र करके समस्त होनेसे किसीकी संज्ञा प्रतीत होता है। संज्ञीकी आकाङ्क्षा होनेपर सन्निहित वाक्यशेषके बलसे "पञ्चजन शब्द प्राण आदिकोंमें रूढ है" यह निश्चय होता है।

और देव, पितर, गन्धर्व, असुर, राक्षस, पञ्चजन शब्दका अर्थ है। ऐसा एक मत है।

चार वर्ण पांचवा निषाद* पञ्चजन शब्दका अर्थ है। ऐसा अन्य किसीने वर्णन किया है।

---

*टि०–शूद्रामें ब्राह्मणसे पैदा हुवा निषाद कहा जाता है।

कहीं पर प्रजामें पञ्चजन शब्दका प्रयोग देखा गया है—**'यत्पाञ्चजन्यया विशा'** (ऋ० सं० ८।५३।७) इस मन्त्रमें पाञ्चजन्य शब्दका अर्थ मनुष्यरूप प्रजा किया है। इस श्रुतिके अनुसार पञ्चजन शब्द करके प्रजामात्रका अथवा देव पितर आदिका ग्रहण करनेमें भी कोई विरोध नहीं है।

और वस्तुतः पञ्च प्राण, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च भूत, अविद्या स्मिता राग द्वेषाभिनिवेशरूप पञ्च क्लेश, इन पच्चीसोंका यहां 'पञ्च पञ्चजन' शब्द करके ग्रहण करना उचित है। 'जायन्त इति जनाः' इस योग-वृत्तिका भी इस पक्षमें सम्भव हो सकता है। क्योंकि कर्मेन्द्रिय आदिक सर्व उत्पत्तिवाले ही हैं। **'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'**! यह योगसूत्र है। अर्थ—अनित्यमें नित्यबुद्धि, अशुचिमें शुचिबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि, अनात्मामें आत्मबुद्धि, अविद्या है इति। यह कार्याविद्या भी बुद्धिरूप होनेसे कार्यरूप ही है। इस पक्षमें आकाश शब्द करके मूलाविद्याका ग्रहण उचित है। क्योंकि कारणरूप अविद्या ही आधेय कुक्षिमें शेष रह गई है **'आकाशे तदोतश्च प्रोतञ्चेति'** (बृ० ३।८।४)। इस श्रुति विषे मूलाविद्यामें भी आकाश शब्दका प्रयोग देखा गया है। मूलाविद्याको आत्मामें प्रतिष्ठित होनेसे अविद्यामें स्थित पञ्चविंशति संख्यक प्राणादिक भी आत्मामें ही वस्तुतः प्रतिष्ठित हैं। और जन शब्द वाच्यसे अजन्य मूलाविद्याका पृथग् करना भी इस पक्षमें सङ्गत होता है। इस पक्षमें **'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः'** इत्यादि श्रुतिका "कार्य कारणका आधार ब्रह्म आत्मा ही है" यह अर्थ सिद्धान्तानुसारी सिद्ध होता है। **'तत्परिग्रहेऽपि न कश्चिद्विरोधः'** इति भाष्यम्। अर्थ—पञ्च पञ्चजन शब्द करके पञ्चविंशति संख्यक प्राणादि कार्यवर्गके ग्रहण करनेमें भी कोई विरोध नहीं है इति।

शंका। यदि पञ्चजन शब्द करके देवादिकोंके ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं है तो आचार्यने पञ्चजन शब्दसे प्राणादिका ग्रहण क्यों किया है?

समाधान। सांख्य अभिमत पञ्चविंशति तत्त्वोंका ग्रहण **'पञ्च पञ्चजनाः'** इस श्रुति करके नहीं होसकता है। क्योंकि सांख्यमतमें प्रधान स्वतन्त्र है; बुद्धि आदिक अन्य तत्त्व प्रधानके आश्रित हैं। पुरुष असङ्ग है। प्रधानादिकोंको पुरुषके आश्रित माननेसे पुरुषमें असङ्गताकी, प्रधानमें स्वतन्त्रताकी हानि होगी। इस अभिप्रायसे आचार्यने **'प्राणादयो वाक्यशेषात्'** इस सूत्र करके प्राण आदिकोंको पञ्चजन शब्दका अर्थ कहा है इति॥ १२॥

शंका। माध्यन्दिन शाखामें अन्नको प्राण आदिकोंमें ग्रहण किया है। इसलिये माध्यन्दिन शाखावालोंके मतमें प्राण आदिक पञ्चजन शब्दके अर्थ हो सकते हैं। परन्तु काण्व शाखावालोंके मतमें प्राणादिक पञ्चजन शब्दके अर्थ

कैसे हो सकते हैं; क्योंकि काण्व शाखामें अन्नको प्राणादिप्रतिपादक 'प्राणस्य प्राणमुत' इत्यादि मन्त्रमें ग्रहण किया नहीं ?

अतः सूत्रकार इस शंकाके **समाधान**को स्वयं कहते हैं:—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

अर्थ—१ ज्योतिषा, २ एकेषाम्, ३ असति, ४ अन्ने। इस सूत्रमें चार पद हैं। काण्व शाखावालोंके मतसे 'प्राणस्य प्राणमुत' इस मन्त्रमें अन्नका ग्रहण न होनेपर भी ज्योति करके पञ्च संख्याकी पूर्ति हो जावेगी। क्योंकि काण्वशाखावाले भी 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रके पूर्वमन्त्रमें ब्रह्म स्वरूप निरूपणके वास्ते ही ज्योतिको पढ़ते हैं–'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति।

शंका। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रसे पूर्वमन्त्रमें माध्यन्दिन शाखा व काण्वशाखा दोनोंमें ही ज्योतिका पाठ तुल्य है। अतः दोनोंके मतसे ही उत्तर मन्त्रमें ज्योतिका ग्रहण होना चाहिये। काण्वशाखावालोंके मतमें ही समान मन्त्रगत पञ्च संख्या करके ज्योतिका ग्रहण क्यों होता है ?

समाधान। 'अपेक्षाभेदात्' इति भाष्यम्। अर्थात् माध्यन्दिन शाखावालोंके मतमें 'प्राणस्य प्राणम्' इस मन्त्रमें अन्नका ग्रहण होनेसे पञ्चजनका लाभ हो जाता है; इसलिये पूर्व मन्त्र पठित इस ज्योतिकी अपेक्षा नहीं होती है। और काण्वशाखावालोंके मतमें अन्नका ग्रहण उक्त मन्त्रमें है नहीं। अतः पञ्चजनका लाभ न होनेसे "प्राणादिक पञ्चजनोंमें पांचवां कौन है" ऐसी अपेक्षा होती है। इसलिये अपेक्षाभेदसे एक ही मन्त्रमें सूर्यादिरूप ज्योतिका ग्रहण और अग्रहण है। जैसे एक ही अतिरात्रमें वचनभेदसे शोडषीपात्रका ग्रहण व अग्रहण होता है; तैसे ही प्रकृतमें जानना। सो इस प्रकारसे सांख्य अभिमत प्रधानमें कोई श्रुति प्रमाण नहीं है। स्मृति और युक्ति करके भी "सांख्य अभिमत तत्त्वोंकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है" इस वार्ताको आगे प्रतिपादन करेंगे। यहां भी पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें समन्वयकी असिद्धि फल है। और सिद्धान्तमें समन्वयकी सिद्धि फल है ॥ १३ ॥

इति संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

अर्थ—१ कारणत्वेन, २ च, ३ आकाशादिषु, ४ यथाव्यपदिष्टोक्तेः। इस सूत्रमें चार पद हैं। कार्यविषयक क्रमाक्रमका विगान होनेपर भी कारणविषयक श्रुतियोंमें कोई विगान (विरोध) नहीं है। क्योंकि सत्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति एक अद्वितीय ब्रह्मका जैसे एक वेदान्तमें कारणरूपसे निर्देश किया है ऐसे ही सर्व वेदान्तोंमें समान ही कारणका निरूपण किया है इति।

सम्पूर्ण जगत्कारण बोधक वाक्य इस सूत्रके विषय हैं।

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्र करके 'जगज्जन्मादिकारणत्व' ब्रह्मका लक्षण कहा। 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादि सूत्र करके सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंकी गतिसामान्यका विषय ब्रह्मको प्रतिपादन किया। 'आनुमानिकमपि' इत्यादि सूत्र करके प्रधानमें वेद करके अप्रतिपाद्यपनाको सिद्ध किया।

तहां वादियोंका विवाद होनेसे "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि जगत्कारणवादिवाक्य "ब्रह्ममें प्रमाण हैं वा नहीं" यह 'सन्देह' होता है।

तहां पूर्ववादी यह पूर्वपक्ष करता है—

अथ पूर्वपक्ष। सिद्धान्तीने जो—'जगत्के जन्मादिका कारणत्व' ब्रह्मका लक्षण कहा है सो नहीं बन सकता है। और सर्व वेदान्तवाक्योंकी ब्रह्मविषयक गति (तात्पर्य) सामान्यका भी निश्चय नहीं कर सकते हैं। क्योंकि कार्य व कारणवादि वाक्योंका परस्पर विरोध देखा गया है। प्रत्येक उपनिषदोंमें कहीं किसी क्रमसे कहीं किसी क्रमसे, कहीं क्रमके विना ही, सृष्टिका प्रतिपादन किया है।

अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं-कहीं पर 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) 'आत्मासे आकाश पैदा हुवा' इत्यादि वाक्योंमें आत्मासे प्रथम आकाशकी उत्पत्ति कह करके आकाशकी उत्पत्तिके क्रमसे सृष्टिका कथन किया है।

और कहीं पर—'तत्तेजो असृजत' (छा० ६।२।३)। 'सो सद्रूप ब्रह्म तेजको रचता भया' इत्यादि वाक्योंमें सद्रूप ब्रह्मसे तेजकी उत्पत्तिको प्रथम कह करके तेजकी उत्पत्तिक्रमसे सृष्टिका कथन किया है।

और कहीं पर—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६।४)। अर्थ—सो षोडशकल पुरुष प्राणको प्रथम रचता भया, प्राणसे श्रद्धाको रचता भया इति। इत्यादि वाक्य करके प्राण आदिक विलक्षण क्रमसे सृष्टिका कथन किया है।

और कहीं पर—'स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः॥' (ऐ० उ० १।१।२)। अर्थ—सो आत्मा इन लोकोंको रचता भया; लोकोंका विभाग करके वेद स्वयं दिखाता है—अम्भ-स्वर्गादि सत्यलोक पर्यन्त, मरीची-अन्तरिक्ष, मरम्-पृथिवी, आपः-बाकी बचे हुये पाताल पर्यन्त सप्तलोक इति। इत्यादि वाक्य करके विना क्रमसे सृष्टिको कहकर पुनः लोकोंके क्रमका अभिधान किया है।

और कहीं पर असत्से सृष्टिकी उत्पत्ति कही है। जैसे—'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' (तै० २।७)। अर्थ—यह जगत् उत्पत्तिके पहिले असत् स्वरूप ही था। तिस असत्से सत् स्वरूप जगत् पैदा हुवा है इति।

और—'असदेवेद*मग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' (छा० ३।१६।१)। अर्थ—यह जगत् उत्पत्तिके पहिले असद् ही था, पुनः सो सद्रूप होता भया इत्यादि इति।

और कहीं पर असद्वादका निराकरण करके सत्से सृष्टिउत्पत्तिकी प्रतिज्ञा करी है--जैसे-'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्। अर्थ--यह जगत् उत्पत्तिके पहिले असत् ही था ऐसा कोई कहते हैं इति। इस प्रकार उपक्रम करके आगे कहा है-'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।२)। अर्थ—हे प्रिय! यह असत्से सृष्टिका विधान कैसे बन सकता है? असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसलिये एक अद्वितीय सत् ही उत्पत्तिके पहिले था यह सिद्धान्त है इति।

और कहीं पर स्वतः ही जगत्की उत्पत्ति कही है--जैसे-- 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृ० १।४।७)। अर्थ—उत्पत्तिके पहिले यह जगत् अव्याकृत था। सो अनभिव्यक्त नामरूपवाला जगत् ही नाम रूप करके सृष्टि दशामें व्याकृत (अभिव्यक्त) हुवा है इति।

इस प्रकारसे कार्य व कारणके प्रतिपादक वेदवाक्योंमें अनेक विवाद हैं। वस्तुप्रतिपादनमें विकल्पका भी असम्भव है। अतः वेदान्तवाक्यों करके ब्रह्ममें जगत्की कारणताका निश्चय नहीं हो सकता है। किन्तु स्मृति और युक्तिके बलसे ही कारणान्तर प्रधानादिका स्वीकार करना न्याय्य है इति।

यहां पर—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि कारणविषयक वाक्योंका—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि कारणविषयक वाक्योंके साथ विरोध है। और 'तद्धेदं तर्हि' इत्यादि स्वयंकर्तृक सृष्टिवाक्योंका—और अन्य-कर्तृक सृष्टिवाक्योंका भी परस्पर विरोध है। और सृष्टिके क्रम अक्रम विक्रम बोधक वाक्योंका विरोध भी स्पष्ट ही है। और सृष्टिरूप कार्यसे कारणरूप ब्रह्मका निश्चय करना है। सृष्टिविषयक विवादसे 'सृष्टिकारणत्व' रूप ब्रह्मके लक्षणमें भी विवाद होता है। लक्षणमें विवादसे लक्ष्य ब्रह्ममें भी विवाद सिद्ध होता है। अतः ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंका समन्वय सिद्ध नहीं हो सकता है। और गतिसामान्यकी विषयता भी ब्रह्ममें सिद्ध नहीं हो सकती है। इसलिये कर्मके अङ्ग देवता वा कर्ताके प्रतिपादक होनेसे सम्पूर्ण वेदान्त गौण हैं। वा अविवक्षित अर्थवाले हैं। वा जपमात्रके उपयोगी हैं। यह अर्थ पूर्वपक्षीके मतसे सिद्ध हुवा।

अब इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती समाधान करते हैं—

---

*यह जगत् उत्पत्तिके पहिले असत् ही था। प्रश्न—क्या शून्यरूप ही था? उत्तर—नहीं, किन्तु सद्रूप ब्रह्म ही होता भया सो ब्रह्म ही जगत् रूपसे प्रतीत हुवा है इति।

अथ सिद्धान्तपक्ष। 'न स्रष्टरि किञ्चिद् विगानमस्ति' इत्यादि भा०। अर्थ-हर एक वेदान्तमें आकाशादि कार्यगत क्रम अक्रम आदिका विरोध होनेपर भी स्रष्टामें कुछ भी विगान नहीं है इति। क्योंकि-'यथा व्यपदिष्टोक्तेः' अर्थात् जिस प्रकारसे एक वेदान्तमें सर्वज्ञ, सर्वशक्ति,सर्वेश्वर, सर्वात्मा, एक अद्वितीय परमेश्वरको जगत्का कारण कहा है। तैसे ही अन्य वेदान्तोंमें भी जगत्के कारणको कहा है। अब इसी विषयको श्रुतिके उदाहरणोंको देकर स्पष्ट करते हैं:—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) यहां पर ज्ञानशब्द करके; और आगे इसी प्रकरणमें कारणविषयक 'सोऽकामयत' इस वचन करके; जगत्कारण ब्रह्मरूप आत्माको चेतनरूपसे निरूपण किया है। "ब्रह्मको किसी करके प्रयोज्य न होनेसे कारण ब्रह्म स्वतन्त्र ईश्वर है" इस अर्थको श्रुतिने कहा है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' अर्थ—तिस 'सत्यं ज्ञानं' इत्यादि मन्त्रप्रतिपाद्य इस अपरोक्ष आत्मासे आकाश उत्पन्न हुवा इति। और आगे तिसी कारणविषयक आत्मशब्दके प्रयोगसे "ब्रह्म ही अन्नमय आदिक कोशपरम्पराके अन्तःप्रविष्ट होनेसे सर्वका अन्तर्यामी प्रत्यागात्मा है" इस अर्थका निर्धारण किया है। 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६)। अर्थ—प्रजारूप करके मैं ही बहुत होवों इति। यहां पर 'बहु स्यां' इस आत्मविषयक बहुभवनके कथनसे प्रजारूप कार्यका व कारणका अभेद कहा है। और अर्थसे ईश्वर 'सर्वात्मक है' यह सूचन किया है। तैसे ही 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' अर्थ—जो कुछ कार्य है इस सर्वको आत्मा रचता भया इति। यहां पर समस्त जगत्की सृष्टिका निर्देश करनेसे सृष्टिके पहिले स्रष्टाको अद्वितीय कहा है।

जिस प्रकारसे यहां तैत्तिरीय श्रुतिमें सत्य ज्ञानादि लक्षणवाले ब्रह्मको जगत्का कारणरूपसे निश्चय किया है। इसी प्रकारसे अन्यत्र भी सत्य ज्ञानादि लक्षणवाला ब्रह्म ही कारणरूपसे निश्चित होता है:—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत॥' (छा० ६।२।३)। अर्थ—'हे प्रिय! यह संसार उत्पत्तिके पहिले सत्य एक अद्वितीयरूप ही था' 'सो ईक्षण करता भया' 'मैं प्रजारूपसे बहुत होऊं' 'सो तेजको रचता भया' इति। इस श्रुतिसे भी कारणमें सत्यपना, एक अद्वितीयपना, चेतनपना, कार्य व कारणका अभेद ही सिद्ध होता है।

तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० उ० १।१।१)। अर्थ—यह जगत् उत्पत्तिके पहिले एक अद्वितीय आत्मरूप ही होता भया; आत्मासे अन्य कुछ भी नहीं था। सो आत्मा ही 'मैं लोकोंकी रचना करूं' ऐसा संकल्प करता भया इति। इस श्रुतिमें भी कारणमें आत्मपना, अद्वितीयपना, चेतनपना, सर्वलोककर्तृपना स्पष्ट है। इसी प्रकारसे

कारण निरूपण करनेवाले सम्पूर्ण वाक्योंका प्रत्येक वेदान्तमें कोई विरोध नहीं है। अतः 'ब्रह्म ही जगत्का कारण है' यह निश्चय है।

केवल कार्यविषयक विरोध अवश्य देखा गया है—कहीं पर आकाशकी प्रथम सृष्टि कही है; कहीं पर तेजकी प्रथम सृष्टि कही है इत्यादि। परन्तु इस कार्यविषयक विरोध करके "अविरुद्ध सर्ववेदान्तोंमें भासमान कारण ब्रह्मकी अविवक्षा होनेको योग्य है" ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि कार्यविषयक विरोधसे कारणकी असिद्धि नहीं हो सकती है। अन्यथा पुत्रके मरणसे पिताका भी मरण होना चाहिये।

शंका। जैसे पुत्रकी सम्पत्तिसे पिता भी सम्पत्तिवाला कहा जाता है। तैसे ही कार्यविषयक विरुद्ध वाक्योंसे कार्यकी असिद्धिकी तरह कारण ब्रह्मकी भी असिद्धि हो जावेगी।

समाधान। वस्तुतः ब्रह्म केवल कारणत्वेन ही वेदान्तप्रतिपाद्य नहीं है। किन्तु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि रूपसे ब्रह्मका प्रतिपादन है। सत्य ज्ञान अनन्तताको उपपादन करनेके लिये ही जगत्कारणताका अध्यारोप किया है।

अकल्पित वस्तुकी प्रतिपत्तिके लिये कल्पित वस्तुमें विगानदोष कहीं भी नहीं होता है। जैसे तात्त्विक अरुधन्तीकी प्रतिपत्तिके लिये तत्तत्पुरुषों करके अरुधन्तीके समीपवर्ति पूर्वोत्तर नक्षत्रोंमें जो कल्पित स्थूल अरुधन्तीविषयक विगान है सो दोष नहीं होता है। और जैसे रेखागवयन्यायसे नित्य शब्दकी प्रतिपत्तिके लिये नाना व्याकरणोंका जो परस्पर भिन्न २ कल्पित प्रकृति प्रत्ययादि विषयक विगान हैं सो दोष नहीं होता है। तैसे ही ब्रह्मकी प्रतिपत्तिके लिये कल्पित सृष्टि विषयक विगान भी दोष नहीं है।

वस्तुतः सृष्टिक्रममें भी विगान नहीं है; किसी भी श्रुतिका कुछ भी विरोध नहीं है। इस अर्थका अब उपपादन करते हैं—जैसे अनेक शिल्पक्रियामें कुशल जो देवदत्त है सो प्रथम चक्रको बनाता है। पुनः चक्रसे कुम्भको बनाता है। पश्चात् कुम्भसे जलको लाता है। उदकसे आटा गूंदकर पिण्ड बनाता है। पश्चात् पिण्ड करके घृतपूर्ण पक्वान्नको सिद्ध करता है। यहां पर देवदत्तको चक्रादि सर्व कार्यके प्रति कारण होनेसे; 'देवदत्तसे चक्रादिक हुये' यह भी कह सकते हैं। "देवदत्तसे चक्र, चक्रसे कुम्भ, कुम्भसे जलाहरण हुवा" यह भी कह सकते हैं। और "देवदत्तसे जलाहरण जलाहरणसे पिण्ड हुवा" यह भी कह सकते हैं। यहां क्रम अक्रम विक्रम कहनेमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि देवदत्त सर्व कार्यमें कर्तृत्वेन अनुस्यूत है।

तैसे ही प्रकृतमें भी यद्यपि आकाशादि क्रमसे ही सृष्टि है; तो भी आकाश, वायु, अनल, आदिकोंके प्रति साक्षात् परमेश्वरको ही कर्ता होनेसे "परमेश्वरसे आकाशकी उत्पत्ति हुई, आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई" इत्यादि भी कह सकते

हैं। "परमेश्वरसे तेज हुवा, तेजसे आप हुये" यह भी कह सकते हैं। परमेश्वरसे ये सर्व लोक हुये इत्यादि भी कह सकते हैं। यहां क्रम अक्रम व विरुद्ध क्रम कहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है।

यदि परमेश्वरसे तेज, तेजसे वायु, वायुसे आकाशकी उत्पत्तिको कहीं पर वेद कहता; तो विरोध होता। ऐसा वेदमें कहीं कहा नहीं; अतः किसी श्रुतिका विवाद नहीं हैं। अत एव आचार्य कार्यविषयक श्रुतिविवादका भी समाधान 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१) इत्यादि ग्रन्थसे स्वयं करेंगे॥ सृष्टि वाक्योंका सृष्टिमें तात्पर्यको स्वीकार करके कार्यमें विगानकी समाधि कही। "वस्तुतः सृष्टिवाक्योंका भी सृष्टिमें तात्पर्य है नहीं" अब इस अर्थको दिखाते हैं— **'भवेदपि कार्यस्य विगानमप्रतिपाद्यत्वात्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ–सृष्टिविषयक विगान होना योग्य भी है; क्योंकि सृष्टि वेद करके प्रतिपाद्य है नहीं। किन्तु अद्वितीय ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है इति।

शंका। फिर सृष्टिको अन्यथा २ जो श्रुति कहती हैं इसका क्या प्रयोजन है?

समाधान। सृष्टिका वेदोंमें जो अन्यथा २ कथन है सो—"स्वप्न सृष्टिमें जैसे उत्पत्तिके क्रमका नियम नहीं है। तैसे ही इस जाग्रत प्रपञ्चमें भी उत्पत्तिके क्रमका नियम नहीं है। किन्तु स्वप्न प्रपञ्चकी तरह निखिल प्रपञ्च भ्रममात्र है। इस सृष्ट्यादि प्रपञ्चके प्रतिपादनमें वेदका तात्पर्य है नहीं। किन्तु अद्वितोय असङ्ग ब्रह्मके प्रतिपादनमें ही वेदका तात्पर्य है" इस अर्थका ज्ञापक है।

आत्माके प्रतिपादनके लिये ही सृष्टिका प्रतिपादन है। स्वतन्त्र सृष्टि आदि प्रपञ्चका प्रतिपादन इष्ट नहीं है। क्योंकि सृष्टि आदिके विज्ञानसे कोई पुरुषार्थ देखा सुना नहीं गया है। और सृष्टिविज्ञानसे पुरुषार्थकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। क्योंकि तहां २ उपक्रमउपसंहारादिक लिङ्गों करके सर्व उपनिषदोंमें; ब्रह्मविषयक वाक्योंके साथ ही सृष्टिवाक्योंकी एकवाक्यता देखी गई है।

और अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। (छा० ६।८।४)। अर्थ— हे प्रिय! अन्न (पृथिवी) रूप कार्य करके जलरूप कारणका अन्वेषण कर, जलसे तेजरूप कारणका निश्चय कर। तेजसे सत्‌रूप कारणका निश्चय कर इति। इस श्रुति करके समस्त भूविकारोंका भूमिमें, भूमिका जलमें, जलका तेजमें, तेजका सत् आत्मामें लय बतला कर; सृष्टि आदि प्रपञ्चको ब्रह्मज्ञानमें साधनपना दिखलाया है।

और मृत्तिका आदिक दृष्टान्तों करके, कार्य व कारणका अभेद कहनेके लिये; सृष्टिकी उत्पत्ति आदिक प्रपञ्चका श्रवण कराया है। सृष्टिके प्रतिपादनमें वेदका तात्पर्य नहीं है। यह निश्चय होता है। तथाच गौड़पादकारिका—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा । उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥ अर्थ—मृत्तिका, लोह, विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों करके जो अन्यथा २ सृष्टिका वर्णन वेदमें किया है; सो ब्रह्मज्ञानके अवतारका उपायमात्र है; भेद कुछ भी नहीं है । अर्थात् सृष्टिप्रतिपादनमें वेदका तात्पर्य नहीं है इति। यह सम्प्रदायवेत्ता-वोंका वचन है ।

और **फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्** । अर्थ—फलवाले वाक्यादिकोंकी सन्नि-धिमें फलशून्य वाक्यादिक फलवाले वाक्यादिकोंके अङ्ग होते हैं इति । इस न्यायसे सृष्टिका विज्ञान, कारणब्रह्मविज्ञानका अङ्ग है । क्योंकि सृष्टिके विज्ञानसे कुछ भी फल सुना नहीं गया है । और ब्रह्मविज्ञानका फल सुना गया है—**'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** (तै० २।१)। अर्थ—ब्रह्मवित् परम पुरुषार्थको प्राप्त होता है इति। **'तरति शोकमात्मवित्'** (छा० ७।१।३) । अर्थ—आत्मवित् पुरुष दुःखरूप संसारको तर जाता है इति। **'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति'** (श्वे० ३।८)। अर्थ—तिस जगदधिष्टान ब्रह्मको अपने आत्मरूपसे जान करके ही यह पुरुष मृत्युको उलङ्घन करता है। अर्थात् मरणादिरहित हो जाता है इति। इत्यादिक अनेक श्रुतियोंमें ब्रह्मविज्ञानसे परम पुरुषार्थ कहा है। और ब्रह्मविज्ञानसे विद्वान्को परमानन्दकी प्राप्ति, शोककी निवृत्ति, व मृत्युका अतिक्रमणरूप फल प्रत्यक्षसे भी सिद्ध है। क्योंकि जिस समय—'तत्त्वमसि' वाक्यार्थके विचारसे असंसारी आत्माका अपरोक्ष अनुभव होता है, उसी समय संसारकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १४ ॥

शंका । कार्यविषयक विगानका समाधान आपने किया है। और जो कारणविषयक विगान—**'असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत ।'** इत्यादि दिखलाया है। तिसका क्या परिहार है तिसका परिहार करना चाहिये ?

समाधान । इस शंकाका परिहार सूत्रकारने स्वयं किया है:—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें 'समाकर्षात्' यह एक ही पद है । 'समाकर्ष' नाम अनुकर्षण अर्थात् अनुवृत्तिका है । अनुकर्षण यहां अर्थका विवक्षित है । तथा च सत्यरूप ब्रह्मकी ही 'असद्वा' इस मन्त्रमें अनुवृत्ति होनेसे स्वरूपशून्य 'असत्' पदका अर्थ नहीं है इति ।

'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस तैत्तिरीय श्रुतिमें स्वरूप रहित असत्को कारणरूपसे श्रवण नहीं कराया है। क्योंकि—**असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः ।** अर्थ - जो ब्रह्मको असत् जानता है सो असत् ही होता है। जो ब्रह्मको सत् जानता है इसको ज्ञानी होनेसे विद्वान् लोग सन्त जानते हैं इति। इस मन्त्र करके तैत्तिरीयमें असद्वादका निराकरण किया है।

और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्र करके ब्रह्मको सत्य स्वरूप कहकर इसी ब्रह्मरूप आत्मासे आकाशादि क्रम करके ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति कही है।

और इस सत्य स्वरूप ब्रह्मको ही अन्नमयादि कोशपरम्परा करके पुच्छ प्रतिष्ठा सर्वान्तर्यामी व प्रत्यगात्मा स्वरूप करके निर्धारण किया है। पुनः 'सोऽकामयत' इस वाक्यसे तिस ही प्रकृत ब्रह्मआत्माका समाकर्षण (अनुवर्तन) करके यावत् सृष्टिकी तिस ब्रह्मसे ही उत्पत्तिका श्रवण कराया है। और सृष्टिमें पुनः ब्रह्मका ही अनुप्रवेश कहा है।

इसके अनन्तर 'तत्सत्यमित्याचक्षते' अर्थ—'सो ब्रह्म सत्य है' ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं इति। इस वाक्यसे सत्यरूपसे ब्रह्मका ही उपसंहार किया है। पुनः 'तदप्येष श्लोको भवति' अर्थ—तिस प्रकृत ब्रह्ममें यह मन्त्र भी प्रमाण है इति। इस वाक्यसे तिस ही प्रकृत ब्रह्मविषयक मन्त्रको कहनेकी प्रतिज्ञा करके 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस मन्त्रको पढ़ा है। यदि निरात्मक असत्की ही इस मन्त्रमें विवक्षा होती तो अन्यका समाकर्षण व अन्यविषयक प्रतिज्ञा करके अन्यका उदाहरण करनेसे वाक्य असम्बद्ध हो जावेगा।

शंका। फिर सिद्धान्तमतसे असत् शब्दका क्या अर्थ है?

समाधान। घटः सन् उदकं सत्, इत्यादि स्थलमें नामरूप व्याकृत वस्तुविषयक प्रायः सत् शब्द प्रसिद्ध है। उत्पत्तिके पूर्व व्याकृत वस्तु है नहीं, अतः व्याकरणके अभावकी अपेक्षा करके सत् ही ब्रह्म 'असत्की तरह था' इस प्रकार गुणवृत्तिसे असत् शब्द करके कहा है। अनभिव्यक्ति यहां पर गुण है।

अथवा—"यह जगत् उत्पत्तिसे पूर्व असत् कहिये अनभिव्यक्त था, 'ततः' कहिये तिस प्रकृत सत् ब्रह्मकी सत्ता स्फूर्तिसे ही सत् (अभिव्यक्त) होता भया" यह 'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' इस मन्त्रका अर्थ है। इस पक्षमें मन्त्रगत 'ततः' शब्दसे ब्रह्मका समाकर्षण होनेसे असद्वादकी शंका ही नहीं हो सकती है।

अत एव 'असद्वा' इस मन्त्रमें स्थित अनभिव्यक्त नामरूपवाले ब्रह्मका ही 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इस वाक्यघटक 'तत्' शब्दसे समाकर्षण करके 'रसो वै सः' इस उत्तर वाक्यसे रस (सार) रूप कहकर 'एष ह्येवानन्दयाति' अर्थ—यह रस आनन्दरूप ब्रह्म ही अपने आनन्दलेश करके जगत्को आनन्दवाला करता है इति। इस वाक्य करके प्रकृत ब्रह्ममें ही जगदानन्दहेतुता कही है।

अत एव 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्' इत्यादि मन्त्रसे दृश्यशून्य निराधार प्रकृत आनन्द स्वरूप आत्मामें भेदरहित अभय प्रतिष्ठावालेको अभय; और जन्मान्तरीय उपास्यउपासकभावादिरूप भेददृष्टिसे वात, सूर्य, अग्नि, आदिकोंको भीषा (भय)

कहकर **'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा'** इत्यादि ग्रन्थसे "यावज्जीव राशिका आनन्द प्रकृत ब्रह्मानन्दका लेशमात्र है" इस अर्थका उपपादन किया है। इसी प्रकारसे **'स यश्चायं पुरुषे ।। यश्चासावादित्ये ।। स एकः ।।'** अर्थ—इस पुरुषमें और चकारसे अधोलोकवर्ति यावज्जीवराशिमें; तथा आदित्यमण्डलमें; और 'च'से ऊर्ध्वलोकवर्ति यावज्जीवराशिमें अन्तरात्मा एक ही है इति। इस मन्त्र करके प्रकृत ब्रह्ममें सर्वान्तर्यामिताका प्रतिपादन असत् कारणवादमें अत्यन्त असंगत होगा। अतः असत्कारणवाद अत्यन्त असत् है। तथाच समस्त तैत्तिरीयोपनिषत्का "सत्य ज्ञानादि स्वरूप ब्रह्म ही जगत्का कारण है, असत् नहीं है" इस अर्थके प्रतिपादनमें ही पर्य्यवसान है यह सिद्ध हुवा।

और यही योजना **'असदेवेदमग्र आसीत्'** (३।१९।१) इस छान्दोग्यमें भी है। क्योंकि छान्दोग्यमें भी **'तत्सदासीत्'** इस वाक्यशेषघटक 'तत्' शब्द करके पूर्व वाक्यगत असत् ब्रह्मका समाकर्षण किया। और **'असदेव'** इस पूर्व मन्त्रमें अत्यन्त असत् स्वरूप अत्यन्ताभावको यदि 'असत्' शब्दसे कहें तो **'तत्सदासीत्'** यहां पर किसका समाकर्षण होगा? क्योंकि अत्यन्त असत्का समाकर्षण बने नहीं। और कथञ्चित् समाकर्षण मानने पर भी असत्को **'सदासीत्'** यह सत् कहना भी असंगत होगा।

तद्धैक आहु रसदेवेदमग्र आसीत् (छा० ६।२।१) अर्थ—'यह जगत् उत्पत्तिसे पहिले असत् ही था' ऐसा कोई कहते हैं इति। यहां पर श्रुत्यन्तरके अभिप्रायसे यह एकीय मतका उपन्यास नहीं है। अर्थात् 'तद्धैक आहुः' इस मन्त्रका "किसी शाखावाले कारणको असत् कहते हैं" यह अर्थ नहीं है किन्तु "वेदबाह्य लोग कारणको असत् कहते हैं" यह अर्थ है। क्योंकि क्रियामें विकल्प होता है सिद्ध वस्तुमें विकल्प नहीं होता है। क्रियामें भी स्वरूपमें विकल्प नहीं होता है, किन्तु प्रकारमें विकल्प होता है। अतः श्रुतिसिद्ध सत्पक्षकी दृढ़ताके वास्ते यह मंदमति परिकल्पित असत्पक्षका उपन्यास करके खण्डन किया है। यह निश्चय कर्तव्य है।

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (१।४।७) इस बृहदारण्यक श्रुतिमें भी निरध्यक्ष अर्थात् असाक्षिक जगत्का व्याकरण नहीं कहा है। क्योंकि—**'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः'** अर्थ—इस शरीरमें शिरसे लेकर नखाग्र पर्य्यन्त सो यह आत्मा प्रविष्ट है इति। इस उत्तर ग्रन्थमें व्याकृत कार्यमें अनुप्रवेशशील अध्यक्ष आत्माका समाकर्षण किया है। और अध्यक्षशून्य जगत्का व्याकरण माननेमें 'स एष इह प्रविष्टः' इस अनन्तर ग्रन्थवर्त्ती प्रकृत अर्थका वाचक 'स' इस सर्वनाम करके कार्यानुप्रवेशित्वेन किसका समाकर्षण होगा?

और कार्यानुप्रविष्टमें चेतनत्वके श्रवणसे भी चेतन आत्माका ही यह शरीरमें प्रवेश युक्त है—'पश्यँश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनः'। अर्थ—रूपदर्शन निमित्तसे शरीरमें प्रविष्ट आत्माका नाम 'चक्षुः' अर्थात् द्रष्टा है। और श्रवणरूप निमित्तसे 'श्रोत्रं' अर्थात् श्रोता है। और मननरूप निमित्तसे इस आत्माका नाम 'मनः' अर्थात् मन्ता है इति। असत्का प्रवेश बने नहीं।

और जैसे इस समयमें भी नाम रूपसे व्याकृत (अभिव्यक्त) घटादिरूप जगत् कुलालादि अध्यक्षके विना पैदा नहीं होता है। इसी प्रकार आदि सर्गमें भी "अध्यक्षके विना नामरूपात्मक जगत्की उत्पत्ति नहीं बन सकती है" यह निश्चय होता है। क्योंकि दृष्टविपरीत कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है।

'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (६।३।२)। अर्थ—मैं इस जीवरूप आत्मा करके कार्यके अन्तरमें प्रविष्ट होकर नामरूपका व्याकरण करूँ। यह ईशका संकल्प है इति। इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिमें भी अध्यक्षके विना जगत्की व्याक्रिया नहीं दिखाई है।

'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' यहां पर कर्मकर्तामें लकार है। कर्ता परमेश्वरके रहनेपर भी सुकरताकी अपेक्षा करके कर्तृव्यापारकी अविवक्षा है। अथवा कर्ममें लकार है; कर्ताका अर्थसे आक्षेप है। दोनों ही पक्षमें लकार कर्ताका प्रतिक्षेपक नहीं है; किन्तु उपस्थापक है। क्योंकि 'लूयते केदारः स्वयमेव' वा 'लूयते केदारः' यहां पर लकारसे लविता देवदत्तादि कर्ताका प्रतिक्षेप नहीं होता है। किन्तु कर्ताकी उपस्थिति ही होती है।

अथवा 'व्याक्रियत' यह लकार कर्ममें ही है। अत एव यहां 'गम्यते ग्रामः' की तरह कर्ताका आक्षेप नियमसे होता है। और कर्मकर्तामें लकारसे कर्ताके आक्षेपका नियम नहीं है। क्योंकि 'भिद्यते कुसूलेन' यहां पर अजीर्ण कुसूलभेदनमें वातवृष्ट्यादि निमित्त होनेपर भी, चिरकालकृतजीर्ण कुसूलके गिरनेमें कोई दूसरा कर्ता नहीं है। यह अर्थ महाभाष्यमें लिखा है।

शंका। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इस श्रुतिसे "जगत्की उत्पत्तिके पूर्व अव्याकृत जो ईश्वर है तिसका ही सृष्टिदशामें परिणाम हुवा है" यह मालूम होता है। तथाच जगदाकार परिणममान ईश्वरसे अन्य कर्ताका अत्यन्ताभाव होनेसे कर्मकर्तामें ही लकार मानना उचित है। कर्ममें लकारको, नियमसे कर्ताका आक्षेपक होनेसे; कर्ममें लकार मानना असङ्गत है।

समाधान। जगद्बीज सूक्ष्मनामरूपात्मक मायाविशिष्ट चिद्रूप ईश्वर है। परिणामवादी मायाका परिणाम मानता है। वा चिदंशका परिणाम मानता है। अथवा विशेषण विशेष्य उभय अंशका परिणाम वादीको इष्ट है? अन्तिम और मध्यम पक्षमें चिद्रूपका परिणाम होनेसे दुग्धादिकी तरह चेतन

स्वरूप ईश्वरमें विनाशित्वकी प्राप्ति होगी। प्रथम पक्षमें विशेषणरूप मायाका परिणाम होनेपर भी, जगदाकार परिणममान मायाकी स्थिति व स्फूर्तिका साधक चिद्रूप परमेश्वरके विद्यमान होनेसे कर्ममें ही लकार मानना उचित है।

वस्तुतः कर्मकर्तामें ही लकार मानना समुचित है। क्योंकि सिद्धान्तमें विवर्तवादका स्वीकार है। चिदात्माका विवर्त ही निखिल अनात्म वस्तु है; अन्य कोई कर्ता है नहीं। कर्ममें लकार माननेसे कर्ताका आक्षेपरूप गौरव होगा। चिद्भिन्न कर्ताके असम्भवसे आक्षेपका भी असम्भव होगा। कर्ममें लकार— 'नियमसे कर्ताका उपस्थापक है' इस नियमका भङ्ग होगा। कर्मकर्ता स्थलमें कर्ताके आक्षेपका नियम न होनेसे कर्ताका आक्षेपरूप गौरव नहीं है।

शंका। 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' अर्थ— सो ब्रह्म ही नामरूप करके विवर्तरूप होता भया इति। इत्यादि स्थलमें 'व्याक्रियत' यह यदि कर्मकर्तामें लकार है; तो यहां विवर्तमान चिदात्मासे अन्य कर्ता अवश्य होना चाहिये। अन्य कर्ताके न होनेसे कर्मकर्तामें लकार मानना असङ्गत है। क्योंकि 'भिद्यते कुसूलेन' इत्यादि जीर्ण कुसूलादिरूप कमकर्तास्थलमें भी भेदनकर्ता कर्मसे अन्य अवश्य है। प्रत्यक्षादि प्रमाणसे उपलब्ध न होने पर भी ईश्वर ही कर्ता है। "ईश्वर इच्छा विना तृण भी नहीं हिल सकता है" यह वार्ता यक्षके सम्वादसे अथवा कार्यमात्रके प्रति ईश्वरको कारणता होनेसे वेदसिद्ध है।

समाधान। 'कर्म कर्ता स्थलमें कर्ता होना चाहिये' यह नियम है। कर्मसे भिन्न कर्ताका नियम सिद्धान्तमें नहीं है। क्योंकि "क्रिया कर्म कर्ता सर्वरूप ईश्वर ही है" यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अन्यथा कर्ममें लकार मानने पर भी यह दोष तुल्य है। यह समाकर्ष सूत्रका तात्पर्य्यार्थ है।

शंका। समन्वयाध्यायमें विरोधाविरोधकी चिन्ता करना असङ्गत है। इसी चिन्ताके वास्ते ही विरोधपरिहाराध्याय है। अत इस अधिकरणका इस प्रथमाध्यायमें निरूपण करना असङ्गत है।

समाधान। नाना शाखावर्ती अथवा एक ही शाखागत तत्तद्वाक्यविचारसे वाक्यार्थके अवगमका पर्यवसान होनेपर प्रत्यक्षादि मानान्तर विरोध होनेसे वाक्यार्थकी अवगतिमें अप्रामाण्यकी शंकाके अनन्तर अविरोधव्युत्पादनद्वारा प्रामाण्यका व्यवस्थापन करना विरोधपरिहाराध्यायका अर्थ है। श्रुतियोंका परस्पर विरोधपरिहार द्वितियाध्यायका अर्थ नहीं है।

शंका। यदि प्रत्यक्षादि मानान्तर विरोधपरिहार ही द्वितीयाध्यायका अर्थ है; तो द्वितीय अध्यायके तृतीय वियत्पादमें श्रुतियोंकी परस्पर विरोधपरिहार-चिन्ता असङ्गत होगी?

समाधान। यद्यपि श्रुतियोंका परस्पर विरोधपरिहार द्वितीयाध्यायका

अर्थ नहीं है। तथापि तहांपर सृष्टिविषयक वाक्योंका परस्पर विरोधपरिहारका जो प्रतिपादन किया है सो प्रासङ्गिक है। लक्षणार्थ (अध्यायार्थ) नहीं है। यह वार्ता भामतीमें प्रतिपादन करी है।

शंका। जैसे सांख्य वैशेषिकादि दर्शनोंका मानान्तरविरोधसे वा परस्पर विरोधसे बाध प्रतिपादन किया है। तैसे प्रत्यक्षादि मानान्तरविरोधसे तथा परस्पर विरोधसे व सृष्टिविषयक श्रुतियोंके विगानसे वेदान्तदर्शनका तत्प्रतिपाद्य प्रक्रिया व विषयका भी बाध होना चाहिये।

समाधान। यद्यपि मानान्तरविरोधसे और परस्पर विरोधसे सांख्यादि दर्शनोंका, और तत्प्रतिपाद्य प्रक्रियादि द्वैतका, बाध दृढ़ होनेपर प्रत्यक्षादि मानान्तर विरोधसे अथवा सृष्टिविषयक श्रुतिविगानसे वेदान्तशास्त्रका और तत्प्रतिपाद्य प्रक्रियाप्रपञ्चका बाध भी मुमुक्षुको इष्ट ही है। क्योंकि अनिर्वचनीय वादीकी कहीं भी ममता सिद्ध नहीं हो सकती है। सर्व प्रपञ्चबाधके अनन्तर बाधका अवधि निरावरण साक्षी स्वतः सिद्ध है। इस अर्थविषयक यह खण्डनका श्लोक है—'**बाधे दृढेऽन्यसाम्यात्किमन्यदपि बाध्यताम्। क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्॥**'

तथापि "वादी करके उद्भावित दोषका उद्धार पुनः २ सिद्धान्तीको कर्तव्य है" इस शिक्षाके वास्ते श्रुतियोंकी परस्पर विरोधपरिहारचिन्ता द्वितीयाध्यायमें करी है। अत एव कल्पतरुः—'**परैरुद्भावितो दोष उद्धर्तव्यः स्वदर्शने। इति शिक्षार्थमत्रत्यचिन्तां तत्राकरोन्मुनिः॥**'

'**श्रुत्यर्थविषयकव्यवसायात्मकज्ञाने सति मानान्तरप्रयुक्तविरोधपरिहारत्वम्; द्वितीयाध्यायस्य लक्षणम्**'। अर्थ—वेदार्थविषयक प्रमामें प्रत्यक्षादि मानान्तरप्राप्त विरोधका परिहारपना, द्वितीय अध्यायका लक्षण है इति। प्रथम अध्यायमें अतिव्याप्ति परिहारके लिये मानान्तरप्रयुक्तत्व विरोधका विशेषण है। तर्क ग्रन्थोंमें अतिव्याप्तिवारणके लिये सत्यन्त विशेषण है। पूर्वमीमांसा आदिक तर्कग्रन्थजन्य ज्ञान; वस्तुत बाधित अनात्मविषयक होनेसे व्यवसायात्मक नहीं है। अत एव गीता—'**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।**' अर्थ—कृष्णभगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक प्रमाका नाम व्यवसायात्मक बुद्धि है, सो केवल एक वेदसे ही होती है इति।

शंका। जब व्यवसायात्मक बुद्धि एक ही है तो श्रुत्यर्थविषयकत्व बुद्धिका विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि यदि नाना व्यवसायात्मक ज्ञान होते तो इतर व्यावर्तक होनेसे विशेषण सार्थक होता। जैसे घट नाना हैं इसलिये नील विशेषण सार्थक होता है।

समाधान। श्रुत्यर्थविषयकत्व विशेषण ज्ञानमें व्यवसायात्मकत्वका उपपादक है। लक्षणमें प्रविष्ट न होनेपर भी क्षति नहीं है। अर्थात् उपलक्षण है। "श्रुतियोंका परस्पर विरोधपरिहार" प्रथमाध्ययका स्वरूप है। अहमर्थ प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक प्रमाके साधनकलापका प्रतिपादक तीसरा अध्याय है। प्रमाके फलका प्रतिपादक चौथा अध्याय है। यह इस अधिकरणका तात्पर्य है॥१५॥

इति कारणत्वाधिकरणम्॥

जगद्वाचित्वात्॥ १६॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है। 'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्यमें स्थित 'एतत्' शब्दको जगद्वाचक होनेसे बालाकि व अजातशत्रुके सम्वादमें ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है इति। कौषीतकि ब्राह्मण गत बालाकि व अजातशत्रुके सम्वादमें श्रवण होता है—

'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः'

इत्यादि बालाकि व अजातशत्रुका सम्वादरूप वाक्यसन्दर्भ इस सूत्रका विषय है।

किसी कालमें एक गर्ग गोत्रका विद्याभारसे गर्वित बालाकि नामका ब्राह्मण अजातशत्रु नामक काशीराजके पास जाकर—'ब्रह्म ते ब्रवाणि' अर्थात् 'मैं तुमको ब्रह्मका उपदेश करता हूं' इस वाक्यको कहता भया।

राजा बोले हे ब्रह्मन्! 'जनक बड़ा दाता और श्रोता है' ऐसा समझकर प्रायः लोग जनकके पास ही जाया करते हैं। तुमने यह मेरेमें भी सम्भावना करी है। मेरे पास उपदेशके लिये आये। अतः १ सहस्र गौ आपको मैंने दिये; उपदेश कीजिये।

तिसके बाद बालाकिने आदित्याभिमानी देवताका तथा चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जलादि अभिमानी अनेक देवता पुरुषोंका उपदेश राजाको किया। परन्तु राजा सर्व देवतावोंके स्वरूपको और उपासनाके प्रकारको अच्छी तरह जानता था इसलिये राजाने कहा कि—"इन सर्व देवतावोंको व उपासनाप्रकार मैं अच्छी तरह जानता हूं; इससे अधिक यदि आप जानते हो तो उपदेश कीजिये"। गार्ग्य चुप हो गया।

राजा—क्यों इतना ही जानते हो? गार्ग्य—इतना ही जानता हूं।

राजा—इतने ज्ञानसे ब्रह्म विदित नहीं हो सकता है; तुमने मिथ्या ही मुझसे कहा 'ब्रह्म ते ब्रवाणि'। यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः' (कौषी० ४।१८) अर्थ—हे बालाके! जो इन पूर्वोक्त देवतावोंका कर्ता है जिसका यह जगत् कर्म है अर्थात् कार्य है सो जानने को योग्य है इति।

गार्ग्य—'उप त्वायानीति' अर्थात् मैं आपसे उपदेश लेना चाहता हूं।

राजा—यह प्रतिलोम (विपरीत) है। "जो ब्राह्मण गुरुस्थानीय होकर

क्षत्रियसे शिष्य बनकर उपदेश लेवे" तुम गुरु ही रहो, 'त्वा ज्ञपयिष्यामि' अर्थात् मैं तुमको ब्रह्म उपदेश करूंगा। तदनन्तर गार्ग्यका हाथ पकड़कर राजा उठे और सुप्त पुरुषके पास आये। सुप्त पुरुषको हे बृहत्! हे पाण्डरवास! इत्यादिक देवतावोंके नामसे पुकारने लगे। उत्थान न होनेके बाद हाथसे पीष २ कर उठाया तब सुप्त पुरुष उठा। और राजा गार्ग्यके प्रति कहने लगे—'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत् य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत एतदगादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः'। अर्थ—जिस कालमें यह पुरुष सुप्त था तिस समय कहां था? किस स्वरूपमें व स्वभावमें स्थित था? प्रबोधकालमें कहांसे यह आया है? गार्ग्य इन प्रश्नोंका उत्तर न दे सका इति।

तदनन्तर गार्ग्यको स्वयं राजाने सुप्त पुरुषका हृदयाकाशमें शयन बतलाया है। और तिस सुप्त पुरुषसे ही ऊर्णनाभिकी तरह और अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह सर्व सृष्टिकी उत्पत्तिका उपदेश किया है। यह सम्वाद् बृहदारण्यकमें और कौषीतकि ब्राह्मणमें लिखा है।

कौषीतकि ब्राह्मणवर्ती बालाकि अजातशत्रुके सम्वादमें—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः' (कौ० ४।१८) इस वाक्यमें "वेदितव्यत्वेन जीवका उपदेश है वा मुख्य प्राणका उपदेश है? अथवा परमात्माका उपदेश है?" यह यहां संशय है।

'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्यमें 'कर्म शब्द यौगिक है वा रूढ़ है' यह संशय; अथवा उक्त सम्वादमें अनेक धर्मोंकी प्रतीति; इस संशयमें कारण है। 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस उपक्रमसे ब्रह्मोपदेश मालूम पड़ता है। और सुप्त जीवसे सृष्टिकथनरूप उपसंहार करके जीवका उपदेश मालूम होता है। और—'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' (बृ० ३।४।६)। अर्थ—सो प्राण ब्रह्म है और 'त्यद्' परोक्ष व अमूर्तरूप है। इस प्रकार सम्प्रदायवेत्ता कहते हैं इति। इत्यादि स्थलमें ब्रह्म शब्दका प्रयोग प्राणमें होनेसे प्राणका उपदेश मालूम पड़ता है।

"वस्तुगतिसे यहां किसका उपदेश प्राप्त हुवा" ऐसी जिज्ञासाके हुये--

अथ पूर्वपक्ष। 'यस्य वैतत्कर्म' इस श्रवणसे प्राणका उपदेश यहां पर होनेको योग्य है, क्योंकि 'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्य करके प्रतिपाद्य जो चेष्टारूप कर्म है तिसका आश्रय प्राण ही है। और--'अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' अर्थ—जाग्रत् व स्वप्न जनक कर्मकी उपरतिके अनन्तर सुषुप्ति कालमें प्राणमें ही सर्व एकीभाव हो जाता है इति। इस वाक्यशेषमें भी प्राण शब्दका ही दर्शन है। और प्राण शब्द मुख्य प्राणमें ही प्रसिद्ध है।

शंका । इस सम्वादमें आदित्यादि देवतावोंका कर्ता वेदितव्येन उपदिष्ट है; और प्राणमें देवताकर्तृत्वका असम्भव है; अतः प्राणविषयक उपदेश नहीं बन सकता है।

समाधान । इस शंकाका भी अवसर नहीं है; क्योंकि बालाकिने जो प्रथम 'आदित्ये पुरुषः' 'चन्द्रमसि पुरुषः' इत्येवमादिक इन आदित्यादिक पुरुषोंका निर्देश किया है। प्राणकी अवस्थाविशेषरूप तिन सर्व देवतावोंका भी प्राण कर्ता हो सकता है। **'कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते'** इस श्रुतिमें 'एक देव कौन है' इस शाकल्यके प्रश्नका उत्तर याज्ञवल्क्यने 'प्राण इति' इस वाक्यसे प्राणको ही कहा है। इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें सर्व देवतावों-को प्राणकी अवस्थाविशेषपना प्रसिद्ध है।

अथवा जीव ही इस प्रकरणमें जाननेको योग्य है। जीवका ही उपदेशक यह सम्वाद है। धर्म अधर्मरूप कर्मका आश्रय जीव भी है। इसलिये "निर्व-चनाशक्य जगद्रचनाका हेतु धर्म अधर्मरूप कर्म जिसका है सो जीव जाननेको योग्य है" इस अर्थका बोधक—**'यस्य वैतत्कर्म'** इस वाक्यकी भी सङ्गति हो सकती है। और भोक्ता होनेसे भोगके साधन इन देवतावोंका कर्ता भी धर्माधर्मरूप अदृष्टद्वारा जीव बन सकता है।

और वाक्यशेषगत जीवके लिङ्गोंसे भी जीव ही द्रष्टव्य मालूम पड़ता है। क्योंकि वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट जो आदित्यादि देवतावोंका कर्ता है; तिसके दर्शनके निमित्त शिष्यभावसे प्राप्त बालाकिके प्रति बोधनकी इच्छावाला जो राजा अजातशत्रु है सो बालाकि सहित सुप्त पुरुषके पास आकर हे बृहत्! हे पाण्ड-रवास! इत्यादि शब्दोंसे सुप्त पुरुषको पुकारता भया; तदनन्तर इन शब्दोंको न सुन-नेसे प्राणादिकोंमें भोक्तृत्वाभावको ज्ञापन करके लकड़ीसे अथवा हाथसे सुप्त पुरुषको उठाकर "इस शरीरमें प्राणादिक संघातसे व्यतिरिक्त जीव ही भोक्ता है" इस अर्थको बोधन करता है।

शंका । बृहत् इत्यादि शब्दके अश्रवणसे प्राणादिक संघातसे व्यतिरिक्त भोक्ता है" यह कैसे मालूम पड़ सकता है?

समाधान । यदि प्राणादिक संघातसे व्यतिरिक्त कर्ता भोक्ता न होता तो प्राण जाग्रत् होनेसे सुप्तदशामें भी स्वविषय शब्दभोगको अवश्य ग्रहण करता। जैसे तृणादि भोग्य सम्बन्धी अग्नि तृणका अवश्य ग्रहण करता है। तैसे ही प्राण बृहत् इत्यादि शब्दोंको अवश्य श्रवण करता।

शंका । कदाचित् स्वनामके प्रयोगको देवदत्त भी श्रवण नहीं करता है; एतावता देवदत्त जैसे अभोक्ता नहीं हो सकता है। तद्वत् बृहत् आदिक शब्दके न सुननेसे प्राणको अभोक्ता नहीं कह सकते हैं।

समाधान। देवदत्त और प्राणमें सुप्तत्व असुप्तत्वका विशेष है। देवदत्त सुप्त है; प्राण असुप्त है। अतः प्राणको जाग्रत् होनेसे शब्दकी प्रतिपत्ति अवश्य होनी चाहिये।

शंका। कदाचित् अतिह्रस्व उच्चारणको व्यापारयुक्त जाग्रत् देवदत्त भी नहीं श्रवण कर सकता है। दीर्घ व प्लुत शब्दको कदाचित् व्यापाररहित सुप्त देवदत्त भी श्रवण कर लेता है। अत बृहत् आदिक शब्दके अश्रवणसे प्राण व्यतिरिक्त भोक्ता है यह निर्णय नहीं हो सकता है।

समाधान। यादृश साधारण शब्दप्रयोगको जाग्रत् व्यापार युक्त पुरुष श्रवण कर सकता है। और श्वास प्रश्वासरूप व्यापार करके सहित प्राणविशिष्ट संघातकी प्रत्यक्षता दशामें यादृश शब्दप्रयोगसे बालाकिको 'इस संघातमें भोक्ता सुप्त है' ऐसी बुद्धिकी उत्पत्ति हो सकती है। तादृश शब्दप्रयोगके अग्रहणसे प्राणादि संघातसे व्यतिरिक्त भोक्ताका निर्णय हो सकता है।

शंका। सुषुप्ति दशामें सम्पूर्ण करणोंके लय हो जानेसे जीवकी तरह प्राण भी शब्दादिका अभोक्ता बन सकता है। और जाग्रत्में करण द्वारा जीवकी तरह प्राण देवता भी भोक्त्री बन सकती हैं।

समाधान। सुखदुःखान्यतर साक्षात्करका नाम भोग है; सुख वा दुःखविषयक साभासवृत्तिरूप सो साक्षात्कार है। तादृश साभासवृत्तिका आश्रय भोक्ता है। अधिष्ठानत्व व प्रकाशकत्वरूप आश्रयत्व है। तथाच प्राणमें स्वयं अध्यस्तत्व जड़त्व व दृश्यत्व होनेसे अधिष्ठानत्वका बाध है। एवं प्रकाशकत्वका भी बाध है। चित्प्रकाशरूप जीवके विना प्राणादि प्रपञ्चकी सिद्धि भी नहीं हो सकती है।

और—**'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'** इति श्रुतिः। अर्थ—देह इन्द्रिय मन करके युक्त आत्माको मनीषी विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं इति। इत्यादि श्रुतिसे—**'कर्ता भोक्ता महेश्वरः'** इत्यादि स्मृतिसे और उक्त युक्तिसे प्राण भोक्ता नहीं हो सकता है।

इसी प्रकारसे आदित्यादिक देवता भी इस शरीरमें भोक्त्री नहीं है; क्योंकि देवतावोंको भी जाग्रत् और सर्वज्ञ होनेसे अवश्य अपने २ नामात्मक शब्द प्रयोगका श्रवण होना चाहिये। अतः प्राणादि देवतावोंसे अतिरिक्त विज्ञानमय जीवात्मा ही इस शरीरमें द्रष्टव्य है। इस अर्थको ही राजा बोधन करते हैं।

इसी प्रकार अग्रिम वाक्यशेषगत जीवलिङ्गसे भी जीवात्मा ही इस सम्वादमें वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट मालूम होता है-जैसे श्रेष्ठी प्रधान पुरुष स्वभोगोपकरण भृत्यादिकों करके भोगोंको भोक्ता है। और भृत्यादिक अपने स्वामी प्रधान पुरुषकी शरीर धनादि रक्षा सेवारूप पालनकर्मको करते हैं। इसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा जीव भी आदित्यादि देवतावों करके अनुगृहीत हुवा विषयोंको भोक्ता

है। आदित्यादिक देवता भी आलोकवृष्टिप्रदानादिद्वारा जीवात्माके भोगमें अनुग्राहक होते हैं। भोक्तृत्वविशिष्ट जीवविषयक इस दृष्टान्त दार्ष्टान्त करके भोक्तृत्वरूप अर्थप्रकाशन सामर्थ्य लिङ्गसे भी यहां जीवात्माका ही वेदितव्यत्वेन उपदेश सिद्ध होता है।

और वास्तवमें ब्रह्मसे अभेद समझकर जीवको ब्रह्म कहा है। प्राणधारक होनेसे प्राण शब्द करके जीवका व्यवहार किया है। इसलिये जीवात्मा ही इस सम्वादमें वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट है। अथवा प्राण वेदितव्य है। परन्तु परमेश्वर-बोधक लिङ्गोंके न होनेसे परमेश्वर वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट नहीं हो सकता है इति।

इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये अब भाष्यकार भगवान् सिद्धान्तको कहते हैं-

अथ **सिद्धान्तपक्षः**। जैसे कोई मणिज्ञानका अभिमानी काचको मणि बतलावे, तदनन्तर परपुरुष—**'काचोऽयं न मणिस्तल्लक्षणायोगात्'** अर्थात् "मणिके लक्षणका अभाव होनेसे यह मणि नहीं है किन्तु काच है" इस वाक्यको कहकर आत्मतत्त्वका लक्षण करने लगे तो सो आत्मतत्त्वका कथन असम्बद्ध होता है। क्योंकि अमणिमें मणि अभिधानकी तरह अनात्मामें आत्मत्वका कथन भी पूर्ववत् मिथ्या ही है। अतः उत्तरवादीको मणितत्त्वका ही स्वरूप व लक्षण कहना चाहिये। इसीसे उत्तरवादीकी विशेषता सिद्ध होगी।

इसी प्रकारसे दृप्त अब्रह्मवादी बालाकिकी अपेक्षा करके राजा अजातशत्रुकी विशेषता व सत्यवक्तृता ब्रह्मतत्त्वके कथनसे ही सिद्ध हो सकती है। यदि अजातशत्रु भी प्राणदेवता वा जीवके ही स्वरूपको बोधन करेंगे तो विशेषताकी सिद्धि नहीं होगी। अब्रह्मवादिता वा मिथ्यावादिता बालाकिके समान ही होगी। अतः उपक्रमसामर्थ्यसे आदित्यादि देवतावोंका कर्ता परमेश्वर ही राजाने वेदितव्य-रूपसे कहा है।

क्योंकि इस प्रकरणमें प्रथम **'ब्रह्म ते ब्रवाणि'** ऐसा उपक्रम प्रारम्भ करके बालाकि अजातशत्रुके साथ सम्वाद करने लगा। और ब्रह्मभिन्न आदि-त्यादिक कितनेक देवतावोंका उपदेश करके सो बालाकि तुष्णीं (मौन) हो गया। तदनन्तर **'मृषा वै खलु मा सम्वदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि'** अर्थ—'तिस बालाकि-के प्रति राजा अजातशत्रु बोले हे बालाके ! 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' यह बात हमसे मिथ्या ही तुमने कही इति। इस वाक्यसे मिथ्या ब्रह्मवादी बालाकिके कथनका खण्डन करके आदित्यादि देवतावोंसे भिन्न व तिनके कर्ताको वेदितव्यत्वेन राजाने उपदेश किया है। यदि राजा भी ब्रह्मतत्त्वका उपदेश न करें अर्थात् राजा करके उपदिष्ट देवतावोंका कर्ता भी ब्रह्म न होवे तो उपक्रमका बाध होगा। अतः राजाने जिस तत्त्वका उपदेश किया है सो यह परमेश्वर ही होनेको योग्य है। और आदित्यादिक देवतावोंका कर्ता भी परमेश्वरसे अन्य स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। क्योंकि किसी भी जीवको देवतावोंके रचनेकी सामर्थ्य है नहीं। और अदृष्ट

द्वारा भी स्वतन्त्र परमेश्वरके विना जीव कुछ नहीं कर सकता है। परिस्पन्दरूप अथवा धर्माधर्मरूप कर्मका निर्देश भी 'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्यमें नहीं है। क्योंकि परिस्पन्दरूप अथवा धर्माधर्मरूप कर्म प्रकृत नहीं है। धर्मत्वादिरूपसे शब्दप्रतिपाद्य भी नहीं है। और आदित्यादिक पुरुषोंका भी 'यस्य वैतत्कर्म' इस शब्दसे निर्देश नहीं बन सकता है। क्योंकि—'**एतेषां पुरुषाणां कर्ता**' इस वाक्यसे ही तिनका निर्देश हो चुका है, पुनर्निर्देशसे पुनरुक्ति दोष होगा।

शंका। प्रकृत और सन्निहित होनेसे आदित्यादिक पुरुषोंका ही '**यस्य वैतत्कर्म**' इस वाक्यमें परामर्श मानना चाहिये।

समाधान। पुरुषोंको बहुत होनेसे और पुलिङ्ग होनेसे 'यस्य वैतत्' इस वाक्यमें परामर्श नहीं हो सकता है। किन्तु 'एतत्कर्म' यहांपर एकत्वविशिष्ट नपुंसक वस्तुका यह निर्देश है।

शंका। पुरुषविषयक कृतिका अथवा उत्पत्तिरूप क्रियाफलका यह निर्देश होना चाहिये। "देवतापुरुषोंकी उत्पत्तिके अनुकूल प्रयत्नरूप अद्भुत कर्म जिसका है; सो वेदितव्य है" इस अर्थमें स्वारस्य भी है।

समाधान। 'पुरुषाणां कर्ता' इस वाक्यमें स्थित कर्तृ शब्दसे ही कृति और क्रियाफलका ग्रहण हो चुका है। क्योंकि भावनारूप कृतिके विना कर्ता नहीं हो सकता है। फलके विना कृति नहीं हो सकती है। और जगत्के एक देशरूप पुरुषनिरूपित कर्तृत्वके बोधनमें विशेष स्वारस्य भी नहीं है। पुनर्निर्देशमें पुनरुक्ति भी होगी।

अतः परिशेषसे और प्रकरणादिरूप संकोचकके न होनेसे 'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्यमें प्रत्यक्ष सन्निहित जगत्का सर्वनाम 'एतत्' शब्द करके निर्देश है। और कर्म शब्द भी—'**क्रियते इति कर्म**' इस योगवृत्तिसे जगत्रूप कार्यका वाचक है।

शंका। 'एतत्कर्म' इस शब्दसे सम्पूर्ण जगत्का भी ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि जगत् अप्रकृत है। और जगत्त्वेन कर्म शब्द करके अप्रतिपाद्य भी है।

समाधान। यद्यपि यह वार्ता सत्य है कि—जगत्में भी अप्रकृतत्व व असंशब्दितत्व तुल्य है। तथापि "विशेषका ग्रहण न होनेसे वा सन्निहित होनेसे 'एतत्' सर्ववाचक सर्वनाम करके यहां सर्व जगत्का ही यह निर्देश है" यह निश्चय होता है। और किसी विशेष पदार्थका निर्देश यह नहीं है। क्योंकि यहां जगत् एकदेशरूप विशेष पदार्थ कोई सन्निहित व प्रकृत है नहीं। और पूर्व—'**यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता**' इस वाक्यमें जगत्के एक देशविशेष देवतावोंको ब्रह्मका कार्य कह ही चुके हैं। इसलिये यहां "अविशेषित सम्पूर्ण जगत्का ही उपादान है"

यह निश्चय होता है। अर्थात्—'यस्य वैतत्कर्म' यहांपर यह अर्थ फलित होता है—"हे बालाके! जो तत्त्व जगत्के एक देशरूप इन आदित्यादि पुरुषोंका कर्ता है; और इस विशेषसे क्या? अर्थात् आदित्यादि पुरुषोंका ही नहीं, बल्कि जिसका अविशेषित सम्पूर्ण जगत् ही कार्य है; सो तत्त्व जाननेके योग्य है" इस अर्थमें स्वारस्य भी है। एकदेशमात्रनिरूपित कर्तृत्वभ्रान्तिकी व्यावृत्ति 'वा' शब्दका अर्थ है।

शंका। 'एतत्कर्म' इस शब्द करके यदि सम्पूर्ण जगत्का ग्रहण है तो ब्रह्मनिष्ठ आदित्यादि देवतानिरूपित कर्तृत्वका पृथग् ग्रहण करना व्यर्थ है। क्योंकि सम्पूर्ण जगत्के अन्तर्गत पुरुषोंका ग्रहण भी-'एतत्कर्म' इस शब्द करके हो ही जावेगा?

समाधान। बालाकिने ब्रह्मबुद्धिसे जिन पुरुषोंका कीर्तन किया है तिनमें ब्रह्मत्वाभावको बोधन करनेके लिये देवतानिरूपित कर्तृत्वरूप विशेषका पृथक् ग्रहण है। इस रीतिसे—'**ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय**' करके सामान्य विशेषरूप जगत्का जो कर्ता है सो ही वेदितव्य है यह अर्थ फलित हुवा।

ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय—'**ब्राह्मणा भोजयितव्याः परिव्राजकाश्च**' अर्थ—ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये। और संन्यासियोंको भी भोजन कराना चाहिये इति। इस वाक्यमें जैसे 'ब्राह्मण' शब्द परिव्राजकभिन्न ब्राह्मणविषयक है। तैसे ही प्रकृत 'कर्म' शब्द पुरुषभिन्न जगद् वाची है। अथवा ब्राह्मण कहनेसे परिव्राजकका ग्रहण होनेपर भी विशेष प्रतिपत्तिरूप प्रयोजनवश जैसे परिव्राजक शब्दका पृथग् ग्रहण है। तैसे ही कर्म शब्द करके पुरुषग्रहण होनेपर भी आदित्यादि पुरुषनिष्ठ अब्रह्मत्वख्यापनरूप प्रयोजनविशेषसे देवतानिरूपित कर्तृत्वका पृथग् ग्रहण श्रुतिमें किया है।

शंका। जगत्का कर्ता वेदितव्य रहो; इससे प्रकृतमें क्या आया?

समाधान। 'परमेश्वर ही सर्व जगत्का कर्ता है' यह वेदान्तकी मर्यादा है; अतः परमेश्वर ही इस सम्वादमें द्रष्टव्य है इति ॥ १६ ॥

पूर्व ग्रन्थसे 'इस सम्वादमें ब्रह्म ही वेदितव्य है' यह सिद्धान्त कहा। अब पूर्वपक्षके बीजको अनुवाद करके दूषित करते हैं—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

अर्थ—१ जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्, २ न, ३ इति, ४ चेत्, ५ तत्, ६ व्याख्यातम्। इस सूत्रमें छ पद हैं। "जीवलिङ्गसे और मुख्य प्राणलिङ्गसे ब्रह्मका ग्रहण इस सम्वादमें नहीं है" ऐसी शंका यदि पूर्ववादी करे तो, सो ठीक नहीं है। क्योंकि तिस शंकाका उत्तर पूर्वकर आये हैं इति।

शंका । वाक्यशेषगत भोक्तृत्वरूप जीवलिङ्गसे व कर्माश्रयत्वादि प्राण-लिङ्गसे, जीव अथवा प्राण ही इस सम्वादमें वेदितव्य है; ब्रह्ममें भोक्तृत्व और कर्माश्रयत्वके अभावसे ब्रह्मका ग्रहण अयुक्त है। यह जो हमने पूर्व कहा तिसका परिहार करना चाहिये?

समाधान । इस शंकाका परिहार--'नोपासात्रैविध्यात्' (ब्र० सू० १।१।३१) इस सूत्रमें हमकर आये हैं। क्योंकि लिङ्गबलसे जीव और प्राणके ग्रहण करनेपर ब्रह्मलिङ्गसे ब्रह्मका भी ग्रहण अवश्य करना होगा। तथाच यहां तीन प्रकारकी उपासना प्राप्त होगी। जीवकी उपासना। मुख्य प्राणकी उपासना। और ब्रह्मकी उपासना। न्यायसे एक वाक्यमें इन तीन उपासनावोंकी सङ्गति अयुक्त है। क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे—"यह बालाकि और अजातशत्रुका सम्वादरूप वाक्यसन्दर्भ परब्रह्मविषयक ही है" यह निश्चय होता है। तहां 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस ब्रह्मविषयक उपक्रमको प्रथम ही हम दिखला आये हैं।

और निरतिशय फलके श्रवणसे उपसंहार भी ब्रह्मविषयक ही दीखता है—
'सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद।' सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करके सम्पूर्ण जीवोंमें श्रेष्ठ होता है। स्वाराज्य (पर-तन्त्रत्वाभाव) आधिपत्य (स्वतन्त्रता)को प्राप्त होता है। जो देवतादि जगत्के कर्ता पुरुषको जानता है इति।

इस श्रौत उपसंहारसे भी बालाकि अजातशत्रुके सम्वादमें "ब्रह्म ही वेदि-तव्यत्वेन उपदिष्ट है" यह निश्चय होता है। जीव और प्राणविषयक उपासना पक्षमें इस ब्रह्मविषयक उपक्रमका और सर्व पापकी निवृत्ति व स्वाराज्यरूप निर-तिशय फलकी प्राप्तिबोधक उपसंहारका विरोध स्पष्ट है। क्योंकि ब्रह्मज्ञान विना जीव वा प्राणकी उपासनासे सर्व पापकी निवृत्तिका और निरङ्कुश स्वाराज्य-प्राप्तिका असम्भव है।

शंका । प्रतर्दनाधिकरणमें; उपक्रम और उपसंहारको ब्रह्मविषयक होनेसे और वाक्यभेदके भयसे जोवलिङ्ग और प्राणलिङ्गको भी ब्रह्मपरताका निश्चय किया है। यही विषय इस अधिकरणका भी आपके मतसे सिद्ध होता है। अतः इस अधिकरणकी पृथग् रचना व्यर्थ है। क्योंकि प्रतर्दनाधिकरणके निर्णयन्यायसे यह अधिकरण भी गतार्थ है।

समाधान । 'यस्य वैतत्कर्म' 'यह वाक्य ब्रह्मविषयक है' यह निर्धारण प्रतर्दनाधिकरणमें नहीं किया है। इसलिये प्रतर्दनाधिकरणके निर्णयन्यायसे इस अधिकरणकी गतार्थता नहीं हो सकती है। अतः कर्माश्रयत्वका निष्क्रिय ब्रह्ममें असम्भव होनेसे जीव वा प्राणविषयक आशंका पुनः उत्पन्न होती है। इसकी निवृत्तिके लिये जगद्वाचित्वाधिकरणकी पृथग् रचना सफल है व्यर्थ नहीं है।

शंका। यदि इस प्रकरणमें ब्रह्म ही वेदितव्य है तो "अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इत्यादि प्राणशब्दादिरूप प्राणलिङ्गकी और भोक्तृत्वादि प्रकाशन सामर्थ्यरूप जीवलिङ्गकी क्या व्यवस्था है।

समाधान। 'प्राणबन्धनं ही सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) अर्थ—हे सोम्य! हे प्रिय! मन उपाधिक जीवका मूल आश्रय प्राणका प्राण ब्रह्म ही है इति। इस श्रुतिमें प्रकृत सजातीय विजातीय स्वगत भेदत्रय शून्य सद्ब्रह्मविषयक 'प्राण' शब्द भी देखा गया है। और उपक्रम व उपसंहारको ब्रह्मविषयक होनेसे, और जीवको वास्तवमें ब्रह्मस्वरूप होनेसे; देवतादि निखिल जगत्का प्रकाशक स्वयं-प्रकाशरूप ब्रह्ममें प्रकाशकत्वरूप भोक्तृत्व भी बन सकता है। इसलिये भोक्तृत्वरूप जीवके लिङ्गकी भी ब्रह्ममें ही योजना करनी उचित है। अतः अव्यवस्थाकी आशंका नहीं बन सकती है॥ १७॥

"जीवके लिङ्गोंसे भी साक्षात् ब्रह्म ही लक्ष्य है" यह पूर्व कह आये हैं। अब "जीवके लिङ्गोंसे जीवकी उक्तिके द्वारा भी ब्रह्म ही ग्राह्य है" इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—



अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

अर्थ—१ अन्यार्थम्, २ तु, ३ जैमिनिः, ४ प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्, ५ अपि, ६ च, ७ एवम्, ८ एके। इस सूत्रमें आठ पद हैं। बालाकि व अजातशत्रुके सम्वादमें स्थित प्रश्न व व्याख्यानरूप हेतुसे जैमिनि आचार्य जीवपरामर्शको भी ब्रह्मज्ञानके निमित्त ही मानते हैं। बल्कि वाजसनेयशाखागत इस सम्वादमें जीवसे व्यतिरिक्त ब्रह्मका उपदेश स्पष्ट है इति।

शंका। ब्रह्मलिङ्गदर्शनबलसे, जैसे जीव और मुख्य प्राणके लिङ्गोंको ब्रह्म-बोधकता मानी है। तैसे ही जीवादिलिङ्गदर्शनबलसे ब्रह्मलिङ्गको भी जीवादि-बोधकता बन सकती है। विनिगमनाविरह उभय पक्षमें तुल्य है।

समाधान। इस सम्वादमें "ब्रह्म प्रतिपाद्य है अथवा जीवादि" ऐसा विवाद करना योग्य नहीं है। क्योंकि वेदार्थके निर्णयकर्ता जैमिनि आचार्य इस सम्वा-दमें ब्रह्मप्रतिपत्तिके निमित्त ही जीवादिपरामर्शको मानते हैं। और अजात-शत्रुकृत प्रश्न व व्याख्यानसे "ब्रह्मदर्शनके निमित्त ही जीवका प्रदर्शन है" यह आचार्यका निश्चय है।

क्योंकि, हे बृहत्! हे पाण्डरवास! इत्यादि शब्दप्रयोगसे अनुत्थानके अनन्तर यष्टिघातादि द्वारा सुप्त पुरुषके उत्थानसे प्राण व्यतिरिक्त जीवको दिखला-कर; पुनः जीवसे व्यतिरिक्त जीवाधार और भवन और अपादानविषयक यह प्रश्न दीखता है—"क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत

एतदगात्" (कौ० ब्रा० ४।१८) अर्थ—हे बालाके ! सुप्त पुरुषका आधार कौन है ? और यह पुरुष सुप्त हुवा किसमें एकीभावको प्राप्त हुवा था ? और ऐक्यभ्रंशरूप आगमनका अपादान अवधि कौन है इति।

अप्रतिभाग्रस्त बालाकिके प्रति राजा स्वयं उत्तर करते हैं—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इत्यादि। अर्थ—जिस समयमें यह पुरुष उपाधिजन्य विशेषविज्ञानरूप स्वप्नको नहीं देखता है। अर्थात् जिस कालमें जाग्रत् स्वप्नरूप विक्षेपभ्रमका लय होता है तिस कालमें सुप्त हुवा यह जीव इस ब्रह्ममें ही एकीभावको प्राप्त होता है। 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इत्यादि श्रुतिके बलसे यहां प्राण शब्द ब्रह्मका वाचक है इति। और 'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' इत्यादि। अर्थ—विक्षेपरूप सृष्टिकालमें इस आत्मासे ही विस्फुलिङ्गकी तरह वागादिक प्राण अपने २ गोलकोंके सहित उत्पन्न होते हैं। और प्राणोंसे देवता और देवतावोंसे भूमि आदिक लोक उत्पन्न होते हैं। तथा च सम्पूर्ण विश्व परमात्मासे ही उत्पन्न होता है इति। यह उत्तर वाक्यका संक्षिप्त अर्थ है।

अब विस्तारसे उत्तर वाक्यके अर्थको दिखाते हैं—हे बालाके ! सुप्त पुरुषका जो अधिकरण है। और जिस स्वरूपमें सुप्त पुरुषकी स्थिति होती है। और अन्यथाग्रहणलक्षण जाग्रत् व स्वप्नकी प्राप्तिके लिये व्युत्थानकी जो अवधि अपादान है तिसका श्रवण कर। देहके मध्यवर्ती रक्तका पिण्ड बुद्धिका गोलक है। इसीका नाम हृदय है। हृदयवेष्टनचर्मका नाम पुरीतत् है। हृदयदेशसे कोटिशः हिताहित फलप्रदात्री, सहस्रशः खण्डित केशके तुल्य सूक्ष्म; और पिङ्गल, शुक्ल, कृष्ण, पीत, लोहित, रसमात्रावों करके परिपूर्ण नाडियां निकली हैं। और पुरीतत्में व्याप्त होकर पुरीतत् द्वारा यावत् शरीरमें व्याप्त हैं। और नाडियोंके द्वारा ही बुद्धितत्त्व प्रसृत होकर करणग्रामका नियमन करता है। और तप्त अयःपिण्डमें अग्निकी तरह नाडीव्याप्त देहमें व्याप्त है। और स्वयंप्रकाश चिदात्माके आभासरूप प्रकाशसे बुद्धितत्त्व प्रकाशित है। बुद्धिद्वारा बुद्धिपरिणामरूप तत्तद्विषयाकार वृत्तियोंका और तत्तद्विषयोंका प्रकाश होता है। यही इन्द्रियद्वारा तत्तद्विषयग्रहणलक्षण जाग्रत् अवस्था है।

और जाग्रत्प्रद कर्मके उपराम होनेपर जाग्रत् वासना वासित बुद्धिका संकोच होता है। इसीसे-संकुचित अवस्थापन्न बुद्धिवर्ती चिदाभासका भी संकोच होता है। बुद्धिकी विकसित अवस्था जाग्रत् है। संकुचित अवस्था स्वप्न है। अर्थात् सूक्ष्म वासनाविलास ही स्वप्न है। स्थूल वासनाका विलास जाग्रत् है।

और वासनाविलासकी लयअवस्था सुषुप्ति है। बुद्धिवासनारूप जाग्रत् व स्वप्नकी बीजात्मक सुषुप्ति अवस्था है। इस अवस्थामें शब्दादि

विषय सहित इन्द्रियोंका और संकल्पित विकल्पित विषय सहित मन आदि निखिल प्रपञ्चका प्राणमें ही एकीभाव होता है।

और जगद्बीज नामरूपावच्छिन्न चिद्रूप प्राणके प्राण इस आत्मासे ही पुनः अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह सम्पूर्ण करणगोलक पैदा होते हैं। तिनमें सम्पूर्ण मन आदिक करणरूप प्राणोंकी प्रतिष्ठा होती है। मन आदि करके अवच्छिन्न चिदात्मासे आदित्यादि देवतावोंकी उत्पत्ति होती है। देवोंसे लोकोंकी उत्पत्ति होती है।

और काष्ठमें अग्निकी तरह, क्षुरधानमें क्षुरकी तरह, सर्वत्र नख रोम पर्य्यन्त इस देहादि प्रपञ्चमें यह प्राज्ञ आत्मा प्रविष्ट है। इस प्राज्ञ आत्मासे ही इन देवतापुरुषोंका उपजीवन होता है। जैसे श्रेष्ठी प्रधान पुरुष भृत्यादि करके उपार्जित धनादिकोंको भोगता है। और भृत्यादिक प्रधान पुरुष करके दिये हुये धनादिकोंको भोगते हैं। इसी प्रकारसे यह प्राज्ञ आत्मा आदित्यादि पुरुषों करके उपार्जित सुखदुःखको भोगता है। अर्थात् प्रकाशता है। और आदित्यादिक देवता व मनुष्य पशु पक्षी यावज्जीवराशि सत्य प्रकाश आनन्दरूप अन्तरात्माकी सत्तास्फूर्तिसे प्राप्त भोगोंको भोगते हैं, अर्थात् अनुभव करते हैं।

जब तक इन्द्रने इस अन्तरात्माको नहीं जाना। तब तक असुरोंसे पराजित हुवा दुःखी रहा। जब इस सर्वात्माको आत्मारूपसे जाना तब सर्व असुरोंको जीतकर सर्वभूतोंमें श्रेष्ठ हुवा। स्वाराज्य और आधिपत्यको प्राप्त हुवा। इसी तरहसे वर्तमानमें भी यह जीव इस आत्माको जानकर सर्वभूतोंमें श्रेष्ठ होता है। और सर्वभूतोंका आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है। यह कौषीतकि ब्राह्मणगत काशीराजकृत उत्तर वाक्यका अर्थ है।

अर्थात्—जीवके शयनका स्थान ब्रह्म ही है। और ब्रह्ममें ही यह जीव स्वापकालमें एकीभावको प्राप्त होता है। और व्युत्थानरूप आगमनका अपादान अवधि भी ब्रह्म ही है। यह उत्तर वाक्यका निर्णय है।

और सुषुप्तिमें परब्रह्मके साथ ही जीवका एकीभाव होता है; परब्रह्मसे ही प्राणादिक सम्पूर्ण जगत् पैदा होता है। यह सर्व वेदान्तकी मर्य्यादा है। अतः "इस जीवके प्रोद्भूतभ्रमाभावरूप व स्वस्थतारूप स्वापका जो अधिकरण है; और जहांपर उपाधिजनित विशेषविज्ञानरूप जाग्रत् स्वप्न करके रहित यह जीव होता है; और स्वाप भ्रंशरूप आगमनका जो अवधि है; सो ही परमात्मा इस सम्वादमें वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट है" यह निश्चय होता है।

केवल कौषीतकि ब्राह्मणगत प्रश्नोत्तरसे ही यह निर्णय नहीं होता है किन्तु वाजसनेयी शाखावाले भी इसी बालाकि अजातशत्रुके सम्वादगत प्रश्न व उत्तरमें विज्ञानमय शब्दसे जीवका स्पष्ट उपदेश करके पुनः जीवसे व्यतिरिक्त परमात्माका उपदेश करते हैं।

वाजसनेयी सम्वादगत प्रश्न—"य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्

कुत एतदगात्" (बृ० २।१।१६)। अर्थ—जो यह विज्ञानमय पुरुष जीव है; सो यह सुषुप्ति अवस्थामें कहां जाता है? और किसरूपसे अवस्थित होता है? और व्युत्थित अवस्थामें यह जीव कहांसे आता है? अर्थात् इस विज्ञानमय जीवके शयनका व भवनका अधिकरण व व्युत्थानरूप आगमनका अवधि कौन है इति।

उत्तर—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' इत्यादि। अर्थ—जो यह हृदयके अन्तर्वर्ती आकाश है सो ही जीवके शयन व भवनका आश्रय है, और व्युत्थानका अवधि है इति।

शंका। इस प्रश्नके उत्तरमें तो शयनका आश्रय आकाश बतलाया है, ब्रह्म शयनका अधिकरण कैसे बन सकता है?

समाधान। 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः'; 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'आकाशस्तल्लिङ्गात्।' इत्यादि श्रुति स्मृतियोंमें 'आकाश' शब्दका परमात्मामें प्रयोग प्रसिद्ध है। अत इस उत्तर वाक्यमें भी आकाश शब्द ब्रह्मका ही बोधक है। क्योंकि भूतभौतिक विलयरूप सुषुप्ति अवस्थामें जीवका आधार भूताकाश नहीं बन सकता है, तिस अवस्थामें आकाशका विलय हो चुका है। और 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' इस मन्त्रमें अन्तःकरणादिरूप उपाधिके व्युच्चरणसे चिदाभासरूप आत्मावोंके व्युच्चरण (उत्पत्ति) का उपदेश करते हुये वाजसनेयीशाखावाले भी परमात्माको ही आभासादि प्रपञ्चका कारणरूपसे उपदेश करते हैं यह निश्चय होता है। क्योंकि चिदाभासोंका अन्यसे व्युच्चरण नहीं बन सकता है। अतः "अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह जीवादि संसार व्युच्चरणका कारण परमात्मा ही है" यह इस अधिकरणका निश्चय है।

और इस सम्वादमें सुषुप्त पुरुषके व्युत्थापन द्वारा प्राणादि संघातसे व्यतिरिक्त जीवको दिखलाकर पुनः प्रश्नोत्तरद्वारा जीवसे व्यतिरिक्त जगद्भ्रमके अधिष्ठानरूप ब्रह्मका जो उपदेश है सो जीवनिराकरणवत् प्राणनिराकरणका भी अभ्युच्चय है अर्थात् हेत्वन्तर है। अर्थात् जीवनिराकरणकी तरह प्राणनिराकरणपक्षमें भी इस सूत्रकी योजना समझनी।

शंका। परमात्मासे जीवात्मा भिन्न है? कि अभिन्न है? द्वितीयपक्षमें—'अन्यार्थं तु जैमिनिः' यह भेदवचन असङ्गत होगा। प्रथमपक्षमें यदि अत्यन्त भेद है; तो भी जैसे घटदर्शन पटदर्शनका हेतु नहीं बन सकता है। तैसे ही जीवदर्शन भी ब्रह्मदर्शनका हेतु नहीं बन सकता है। औपाधिक भेद पक्षमें अज्ञान उपाधि है? वा अन्तःकरण? अज्ञान पक्षमें जीवके गमन आगमनका असम्भव होगा। क्योंकि परिणामादि क्रियाका अज्ञानमें संभव होने पर भी गमन आगमन क्रिया अज्ञानमें है नहीं। व्यापक चिदात्मा भी क्रियाशून्य है। अतः विशिष्ट जीवका भी गमनादिका असम्भव होगा। और

'**कुत एतदगात्**' यह प्रश्न भी व्यर्थ होगा। अन्तःकरण पक्षमें उपाधिगमनागमन-से जीवके गमनादिका सम्भव होने पर भी अजातशत्रुको सुप्त पुरुषकी देहका भान विवर्तवादमें नहीं बन सकता है। क्योंकि '**सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः स्वस्वरूपमेति**'। अर्थ—सुषुप्तिकालमें देहादि सकल प्रपञ्चका विलय होता है; तमः करके अभिभूत चित्स्वरूपमें जीवका एकीभाव होता है इति। इस श्रुतिरूप प्रमाणसे सुप्त पुरुषका देहादि निखिल प्रपञ्च विलीन हो चुका है। और विक्षेप कालमें भी अपनी २ भ्रान्तिके विषयका साक्षात्कार अपने २ को ही होता है। परको परभ्रान्तिका विषय भासता नहीं।

यद्यपि सुप्त परपुरुषीय देहगत प्राणकी श्वास प्रश्वास क्रिया अपने सर्वके अनुभव सिद्ध है। क्योंकि "यह देवदत्तका प्राणप्रचारविशिष्ट देह है" इस प्रत्यक्षका अपलाप कोई नहीं कर सकता है। तथापि—'**सैवेयं दीपकलिका**' अर्थात् 'सो ही यह दीपकी कलिका है' यहांपर जैसे सादृश्यरूप उपाधिसे पूर्वोत्तरवर्ती दीपकलिकावोंका अभेदभ्रम होता है, क्योंकि पूर्वकालीन दीपकलिका (ज्योतिः) इस समय है नहीं। तैसे ही सादृश्यदोषसे सुप्त पुरुषकी पूर्वकालीन भ्रान्तिके विषय देहका और स्वभ्रान्तिके विषय देहका अभेदभ्रम बन सकता है। अतः सुप्त पुरुषीय श्वास प्रश्वास क्रियाका "यह देवदत्तका प्राणप्रचारविशिष्ट देह है" इत्यादि अनुभव भ्रममात्र है। क्योंकि अन्यकी भ्रान्तिके विषयका अन्यको भान नहीं हो सकता है।

अन्यथा जहांपर दो पुरुषोंको रज्जुमें सर्पभ्राति हुई हो, अनन्तर एक पुरुषको अधिष्ठान साक्षात्कार हुवा हो। तहांपर द्वितीयपुरुषकी भ्रान्तिका विषय सर्प रज्जुसाक्षात्कारवान् पुरुषको भी भासना चाहिये। परन्तु भासता है नहीं। यहां यद्यपि प्रथम पुरुषकी भ्रान्तिका विषय सर्प नष्ट हो गया है। तथापि द्वितीय पुरुषकी भ्रान्तिका विषय सर्प विद्यमान है।

तथा च जैसे एक ही रज्जुमें अनेक पुरुषोंको कदाचित् नाना सर्पभ्रान्ति होती है। तैसे ही, एक ही आत्मामें नाना जीवोंको नाना प्रपञ्चकी भ्रान्ति है। देवदत्तका प्रपञ्च भिन्न है। यज्ञदत्तका प्रपञ्च भिन्न है। देवदत्तके शयन-कालमें देवदत्तका निखिल प्रपञ्च लीन हो जाता है। यज्ञदत्तका प्रपञ्च ही यज्ञदत्तको भासता है। यह विवर्तवादका सिद्धान्त है। और सुप्त पुरुषकी देहादि निखिल सृष्टिका तिस कालमें विलय होजानेसे भी अजातशत्रुको सुप्तकी देहका भान नहीं हो सकता है। अतः अजातशत्रुकी भ्रान्तिके विषय देहमें यष्टिघात करके परपुरुषके व्युत्थानसे प्राणव्यतिरिक्त भोक्ताका निश्चय असम्भावित है। अजातशत्रुकी भ्रान्तिके विषय सुप्त देहसे अन्य सुप्त पुरुषकी विलीन सृष्टिका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। अतः यष्टिघातसे व्युत्थानका भी असम्भव है।

समाधान। "पर भ्रान्तिके विषयका परको प्रत्यक्ष नहीं होता है"

इस सिद्धान्तपक्षमें भी परभ्रान्तिके विषयके साथ परभ्रान्तिके विषयका सम्बन्ध अवश्य है। "जिस सर्पको तुम देखते हो तिसको ही मैं भी देख रहा हूं" इत्यादि अनुभवके बलसे-जहां एक ही कालमें एक ही रज्जुमें अनेक पुरुषोंको अनेक सर्पोंकी भ्रान्ति होती है; तहां रज्जुमें तिन पुरुषोंकी सर्पभ्रान्तिके विषय सर्पोंका परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध है।

शंका। तादात्म्यसम्बन्ध स्वका स्वमें होता है। जैसे घटमें जो घटका सम्बन्ध है सो तादात्म्य है। और घटमें पटका अथवा दूसरे घटका तादात्म्य सम्बन्ध है नहीं। तैसे एकपुरुषीय सर्पादिभ्रान्तिके विषयका द्वितीय पुरुषकी भ्रान्तिके विषय सर्पादिकसे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बन सकता है।

समाधान। यद्यपि अकल्पित दो पदार्थोंका परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध नहीं बन सकता है। तथापि समानदेशीय समानकालीन समान आकृतिवाले कल्पित पदार्थोंका परस्पर तादात्म्य अनुभवसिद्ध है। "अन्यथा जिस सर्पको तुम देखते हो तिसको ही मैं भी देख रहा हूं" इस अनुभवकी उपपत्ति न बन सकेगी। इसी प्रकारसे सभाके मध्यमें स्थित शतशः पुरुषोंकी भ्रान्तिके विषय शतशः स्तम्भोंका भी परस्पर तादात्म्य है। क्योंकि कल्पित पदार्थोंमें परस्पर स्थान-निरोधकत्वके न होनेसे तादात्म्यका सम्भव है। "जिस स्तम्भको तुम देख रहे हो उसीको मैं भी देखता हूं" यह अभेदज्ञान भ्रान्ति मात्र है। तादात्म्यरूप सादृश्य-दोषसे जन्य है। क्योंकि "परकी भ्रान्तिका विषय अन्यको भासता नहीं" यह अनुभव पूर्व दिखला आये हैं।

शंका। पर भ्रान्तिके विद्यमान विषयका वर्तमान पर भ्रान्तिके विषयसे सम्बन्ध होनेपर भी जाग्रत् पुरुषीय भ्रान्तिके विषयका सुप्त पुरुषकी विलीन सृष्टिसे कोई सम्बन्ध बने नहीं। अतः अजातशत्रुकी भ्रान्तिके विषय यष्टिघातादिका सम्बन्धी देहके साथ विलीन सुप्तपुरुषीय देहादिके सम्बन्धका सम्भव बने नहीं। तथा च अजातशत्रुकृत यष्टिघात सम्बन्धी प्रत्यक्ष देहका और सुप्त पुरुषका सम्बन्ध न होनेसे यष्टिघातसे व्युत्थानका असम्भव होगा। व्युत्थानके असम्भवसे प्राणादिक संघातसे व्यतिरिक्त जीवरूप भोक्ताके परामर्शका असम्भव होगा। जीवपरामर्शके असम्भवसे जीवपरामर्शद्वारा ब्रह्मबोधका असम्भव स्पष्ट है। ब्रह्मबोधके असम्भवसे ब्रह्मके बोधका जनक जीवके परामर्शका बोधक 'अन्यार्थं तु जैमिनिः' इत्यादि सूत्रकी रचना व्यर्थ है।

समाधान। सुप्त पुरुषकी विलीन सृष्टिसे भी जाग्रत् पुरुषीय भ्रान्तिके विषयका—'स्वतादात्म्यवत्तादात्म्य' अथवा 'स्वाधिष्ठानाधिष्ठितत्व' रूप सम्बन्ध बन सकता है। तथा च अजातशत्रुकी प्रत्यक्ष भ्रान्तिके विषय देहका तादात्म्य अजातशत्रुके मूलाज्ञानसे है। और मूलाज्ञानका तादात्म्य सुप्त पुरुषके मूलाज्ञानसे है। सुप्त पुरुषके मूलाज्ञानमें ही सुप्त पुरुषके देहादिका विलय हुवा

है। अतः सुप्त पुरुषकी विलीन सृष्टिके साथ जाग्रत् पुरुषकी सृष्टिका उक्त सम्बन्ध बन सकता है।

अथवा द्वितीय सम्बन्ध है—स्व कहिये जाग्रत् भ्रान्तिका विषय यष्टिघात-वाला देह, इस देहके अधिष्ठान आत्मामें ही परपुरुषीय अविद्यादिक प्रपञ्चकी कल्पना है। तथा च यष्टिघातसे प्रत्यक्ष देहमें क्षोभद्वारा मूलाज्ञानमें क्षोभ होगा। अजातशत्रुके मूलाज्ञानद्वारा सुप्त पुरुषके मूलाज्ञानमें क्षोभसे व्युत्थानका सम्भव हो सकता है।

शंका। ब्रह्मसाक्षात्कारवाले अजातशत्रुका मूलाज्ञान है नहीं। क्योंकि "ज्ञानी पुरुषका मूलाज्ञान, ज्ञानकी उत्पत्तिक्षणमें ही नष्ट हो जाता है" यह वेदका सिद्धान्त है। तथा च उक्त सम्बन्धका असम्भव है।

समाधान। यद्यपि "ज्ञानप्राप्तिक्षणमें ही विद्वानका मूलाज्ञान नष्ट हो जाता है" यह वार्ता सत्य है। तथापि प्रारब्धरूप प्रतिबन्धके बलसे ज्ञानीकी लेशाविद्याका नाश नहीं होता है। अत एव विद्वान्का भी सुषुप्ति आदिक व्यवहार अनुभव सिद्ध है। तथा च विद्वान्की लेशाविद्या*के विद्यमान होनेसे उक्त सम्बन्ध बन सकता है। तथा च व्युत्थानके सम्भवसे अग्रिम असम्भवकी परम्पराका भी असम्भव है। एवं च सूत्ररचना व्यर्थ नहीं है। तथा च चन्द्रप्रतिबिम्बदर्शनसे बिम्बरूप चन्द्रदर्शनकी तरह चित्प्रतिबिम्बरूप जीवके दर्शनसे चिद्रूप ब्रह्म दर्शनकी बोधक सूत्रकी रचना सार्थक है। तथा च "शुद्ध अद्वितीय असङ्ग आत्माका बोधक ही बालाकि ब्राह्मण है" यह अर्थ सिद्ध हुवा। अतएव बालाकि ब्राह्मणमें आदित्यादिक देवतावोंके कारण ब्रह्मका उपदेश करके अग्रिम दो ब्राह्मणोंमें देवतोपासनादि जगत्के निरूपणके अनन्तर; अन्तमें 'अथात आदेशो नेति नेति' इस वाक्यसे अध्यारोपित दृश्यमात्रका निषेध करके निर्विशेष ब्रह्मका आदेश (उपदेश) किया है ॥ १८ ॥

इति जगद्वाचित्वाधिकरणम् समाप्तम्।

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

अर्थ— इस सूत्रमें 'वाक्यान्वयात्' यह एक ही पद है। मैत्रेयी ब्राह्मणमें परमात्मा ही प्रतिपाद्य है जीवात्मा प्रतिपाद्य नहीं है। क्योंकि परमात्मामें ही याज्ञवल्क्यका और मैत्रेयीका सम्वादरूप वाक्यका अन्वय अर्थात् तात्पर्य है इति।

---

* यह देहादिसृष्टि, जिस अविद्या अंशका परिणाम है। तिस अविद्या अंशका नाम लेशाविद्या है। इस अविद्या अंशमें ही देहादि सृष्टिका तादात्म्य है। अतः "ज्ञानीकी मूलाविद्याके नाश हो जानेसे ज्ञानीकी देहादि सृष्टिकी भी स्थिति नहीं बन सकती है"? इस शंकाका भी अवसर नहीं होता है।

बृहदारण्यकके मैत्रेयी ब्राह्मणमें यह सम्वाद है कि-संन्यासग्रहणकी इच्छावाले याज्ञवल्क्य ऋषि अपनो ज्येष्ठ भार्य्या ब्रह्मवादिनी मैत्रेयीके प्रति—"हे मैत्रेयि! मैं इस ग्रहस्थाश्रमको त्यागकर संन्यास आश्रम ग्रहण करनेवाला हूं। इसलिये इस कात्यायनीका और तेरा धनविभागसे परस्पर विभाग कर देता हूं" इस वाक्यको कहते भये।

मैत्रेयी—हे भगवन्! वित्तसे परिपूर्ण समस्त पृथिवी भी यदि मुझे मिल जाय तो क्या मेरा अमृतत्व (मोक्ष) होगा?

याज्ञवल्क्य—जैसे भोगसाधनसम्पन्न प्राणीका जीवन सुखसे होता है। इसी प्रकार तेरा भी जीवन वित्तसे होगा, मोक्षकी आशा वित्तसे नहीं है।

मैत्रेयी—जिससे अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती है उस वित्तसे मुझे क्या करना है। हे भगवन्! जो अमृतत्वका साधन ब्रह्मज्ञान है। तिसका ही मुझें उपदेश कीजिये।

याज्ञवल्क्य—तू पूर्व भी मुझे प्रिय थी-अब भी मेरे अनुकूल ही भाषण करती है। आ, पासमें बैठ, तुझको मैं अमृतत्वकी साधन ब्रह्मविद्याका उपदेश करता हूं। समाहित चित्त होकर श्रवण कर ध्यान कर।

इस पतिके वचनको सुनकर जब मैत्रेयी सावधान होकर पासमें श्रवण करनेके लिये बैठो तब याज्ञवल्क्यजीने "न वा अरे पत्युः कामाय"। इत्यादि ग्रन्थसे "पतिजायापुत्रवित्तादिक सम्पूर्ण पदार्थ जिस आत्माके लिये प्रिय होते हैं, सो ही आत्मा मुख्य प्रिय है। अतः पतिजायादिकसे विरक्त होकर आत्मा ही द्रष्टव्य है, श्रोतव्य, मन्तव्य व निदिध्यासितव्य है इस आत्माके श्रवण मनन व निदिध्यासन करके आत्माका दर्शन होता है। और आत्मदर्शनसे यह सर्व जगत् विदित होता है" यह उपदेश किया है।

अन्यके दर्शनसे अन्यका दर्शन कैसे हो सकता है? इस शंकाके परिहार वास्ते "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद" इत्यादि वाक्यसे "भेददर्शीको भेदका दर्शन तिरस्कारका हेतु होता है; भेददर्शन मिथ्या है, सर्वरूप आत्मा ही है" ऐसा अभेदका उपदेश किया है।

तदन्तर इसी अभेदको समर्थनके वास्ते दुन्दुभि, शंख व वीणारूप तीन दृष्टान्त कहे हैं। आत्मासे हो जगत्की उत्पत्ति कही है। आत्मामें ही जगत्का लय कहा है। और सैंधवखिल्य (लवणखण्ड) दृष्टान्तसे समुद्रप्रक्षिप्त लवणखण्डकी तरह ब्रह्मलीन जीवका पुनरनुत्थान कहा है। और मुक्त दशामें संज्ञाका अभाव कहा है। और अग्रिम ग्रन्थसे प्रश्नपूर्वक संज्ञामात्रका ही, अविद्यामूलक द्वैतदर्शनके प्रतिपादन द्वारा, उपपादन किया है। यह सम्वाद बृहदारण्यकके चतुर्थाध्यायमें और षष्ठाध्यायमें है।

'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्यादि वाक्यघटित उक्त सम्पूर्ण सम्वाद 'वाक्यान्वयात्' इस सूत्रका विषय है।

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥" (बृ० ४।५।६)। अर्थ – पतिजायापुत्रवित्तादिक सम्पूर्ण अनात्म वस्तु पतिजायादिके लिये प्रिय नहीं हैं। किन्तु आत्माके लिये ही पतिजायादिक प्रिय होते हैं। अर्थात् आत्मामें ही मुख्य प्रेम है। पतिजायादिकोंमें आत्माके सम्बन्धसे प्रीति है। सम्बन्धके तारतम्यसे प्रेमका तारतम्य है। तथा च परम प्रिय आनन्दरूप आत्माका प्रत्यक्ष करना चाहिये। आत्मा ही गुरु व शास्त्र द्वारा श्रोतव्य है। और युक्ति करके मन्तव्य है। अनात्मविषयक वृत्तितिरस्कार-पूर्वक प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक वृत्तिप्रवाहरूप निदिध्यासन करके अनात्म प्रत्ययतिरस्कारद्वारा शास्त्र व गुरुजन्य अनुभवकी एवं युक्तिजन्य अनुभवकी स्वानुभवके साथ एकवाक्यता करके ब्रह्माभिन्नात्माको स्वसम्वेद्य करना चाहिये। अरे मैत्रेयि! आत्माके दर्शनसे व श्रवणसे मननसे व निदिध्यासनसे जब प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार होता है तब अविदित वस्तु कुछ नहीं रहती है, किन्तु आत्माके ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुका ज्ञान हो जाता है इति।

इस वाक्यमें यह **संशय** है—क्या विज्ञानात्मा जीवका ही यह द्रष्टव्य श्रोतव्यत्वादिरूपसे उपदेश है। अथवा परमात्माका उपदेश है।

शंका। इस संशयका हेतु क्या है?

समाधान। पतिजायादि भोग्यके सम्बन्धसे और पतिजायादिक जिसके वास्ते प्रिय हैं तिस भोक्तृविषयक उपक्रमसे विज्ञानात्मा जीवका उपदेश मालूम पड़ता है। तथा आत्मविज्ञान करके सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाके श्रवणसे परमात्माका उपदेश प्रतीत होता है। तथा च अनेक धर्मोपपत्ति करके जन्य यह संशय है।

"वस्तुतः किसका उपदेश यहां प्राप्त हुवा" ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ **पूर्वपक्ष।** उपक्रमसामर्थ्यसे विज्ञानात्मा जीवका ही यह उपदेश है। क्योंकि "पतिजायापुत्रवित्तादिक सर्व भोग्य जगत् अपने आत्माके ही वास्ते प्रिय है" इस प्रकार पतिजायादिविषयक प्रीति करके 'संसूचित' अनुमित जो यह पतिजायादिविषयक प्रीतिका कर्ता भोक्ता आत्मा है। इस आत्माका उपक्रम करके अनन्तर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिक दर्शन श्रवणादिका उपदेश अन्य किस आत्माका हो सकता है?

और मध्यमें 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।' अर्थ—'इदम्' यह प्रत्यग् 'महत्' अपरिमित 'अनन्त' परिच्छेदशून्य 'अपार' सर्वगत ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म ही; जीवरूपसे

कार्यकारणरूप उपाधि द्वारा जन्मादि विकारका अनुभव करके; आत्मसाक्षात्कारके अनन्तर उपाधिनाशसे नष्ट होता है। अर्थात् चिदात्माका प्रतिबिम्बरूप खिल्यभावका अभाव होता है। 'प्रेत्य' कार्यकारणरूप उपाधिनाशके अनन्तर संज्ञा नहीं रहती है इति। यह श्रुति भी 'आत्मनस्तु कामाय' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिसे प्रकृत महान् सिद्धस्वरूप द्रष्टव्य आत्माका ही देहादिक भूतोंसे विज्ञानात्मरूप करके समुत्थानको कहती हुई जीवात्मामें ही द्रष्टव्यत्वको दिखाती है।

और अन्तमें **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** "अरे मैत्रेयि! विज्ञाता ज्ञानकर्ताको कोई किस साधनसे जान सकेगा" इस उपसंहार श्रुतिसे भी यहां ज्ञानकर्ता जीव ही द्रष्टव्य प्रतीत होता है। अर्थात् विज्ञानकर्ताके वाचक विज्ञाता शब्दसे उपसंहार करते हुये याज्ञवल्क्य ऋषि "विज्ञाता विज्ञानात्माका ही इस प्रकरणमें उपदेश है" इस अर्थको दिखाते हैं। क्योंकि ब्रह्ममें कर्तृत्वादिक धर्म हैं नहीं।

शंका। जीवज्ञानसे सर्वविज्ञानका असम्भव होगा। तथाच आत्मज्ञानसे सर्वज्ञानकी प्रतिज्ञा भङ्ग होगी; अतः यहां ब्रह्म ही द्रष्टव्य मानना चाहिये।

समाधान। आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा औपचारिक (गौण) है। भोक्ताके ज्ञानसे भोग्यका ज्ञान हो ही गया। क्योंकि "समस्त भोग्य भोक्ताके ही वास्ते है" यह अभिप्राय है। तथाच यहां पूर्वपक्षकी रीतिसे जीव ही द्रष्टव्य उपास्य सिद्ध हुवा। इस तरह पूर्वपक्षके प्राप्त हुये--

अथ **सिद्धान्तपक्ष।** परमात्माका ही यह उपदेश है, क्योंकि यहां समस्त वाक्यसन्दर्भका पूर्वापर विचार करनेसे अन्वय (तात्पर्य) ब्रह्ममें ही प्रतीत होता है।

शंका। जीवविषयक उपक्रम उपसंहार और मध्यमें परामर्शके बलसे वाक्यके तात्पर्य्यका विषय ब्रह्म कैसे हो सकता है।

समाधान। अब "समस्त मैत्रेयीब्राह्मण ज्ञेय ब्रह्ममें ही समन्वित है" इस अर्थको उपपादन करते हैं—**'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'** अर्थात् 'मोक्षकी आशा वित्तसे नहीं है' इस वाक्यको याज्ञवल्क्यसे श्रवण करके **'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि'** अर्थ—जिस वित्तसे अमृतत्वकी आशा नहीं है तिस वित्तसे मुझे क्या करना है। हे भगवन्! अमृतत्वका साधन जो आप जानते हो सो ही मेरे वास्ते उपदेश कीजिये इति। इस प्रकार अमृतत्वकी आशावाली मैत्रेयीके प्रति याज्ञवल्क्य इस आत्मविज्ञानका उपदेश करते हैं। अतः परमात्माका ही यह उपदेश है। क्योंकि "परमात्माके विज्ञानसे विना अमृतत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है" इस अर्थको समस्त श्रुतिस्मृतिवाद कहते हैं। इसी प्रकार आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा भी विना परम कारण परमा-

त्माके विज्ञानसे मुख्य सिद्ध नहीं हो सकती है। और 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इस श्रुतिमें आत्म विज्ञानसे सर्वविज्ञानके उपचारका आश्रयण भी नहीं कर सकते हैं। क्योंकि आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करके अनन्तर ग्रन्थसे तिस ही प्रतिज्ञाका उपपादन किया है—'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादि। अर्थ—जो पुरुष ब्रह्मक्षत्रादिक जगत्को आत्मासे अन्यत्र स्वतन्त्र सत्तावाला देखता है तिस मिथ्यादर्शीको सो मिथ्या दृष्टिका विषय ब्रह्मक्षत्रादिक जगत् तिरस्कार करता है इति।

शंका। भाष्यमें ब्रह्मक्षत्र शब्द करके ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व जातिका ग्रहण करा है सो असङ्गत है। क्योंकि जातिको जड़ होनेसे चेतनका तिरस्कार-कर्तृपना बने नहीं।

समाधान। भेददृष्टिसे ब्राह्मणत्वादिक अभिमान होता है, देहसम्बन्धी पदार्थोंमें ममता होती है। और पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि होती है। इष्टानिष्ट बुद्धिसे इष्टमें राग और अनिष्टमें द्वेष होता है। रागसे प्रवृत्ति और द्वेषसे निवृत्ति होती है। प्रवृत्ति निवृत्तिसे धर्माधर्म होता है; धर्माधर्मसे शरीर होता है। शरीरसे तिरस्कारादि दुःख होता है। अतः ब्राह्मणादिक भेददृष्टिको तिरस्कारका हेतु होनेसे भाष्य सङ्गत ही है।

इस प्रकारसे निन्दाद्वारा भेददृष्टिका अपवाद करके **'इदं सर्वं यदयमात्मा'** अर्थात् "यह जो सर्व जगत् है सो सर्व इस आत्माका स्वरूप ही है" इस वाक्यसे सर्व जगत्का आत्मासे अभेदका उपदेश किया है।

शंका। जैसे घटके ज्ञानसे पटका ज्ञान नहीं हो सकता है। तैसे ही आत्माके ज्ञानसे जगत्का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अन्यके ज्ञानसे अन्यका ज्ञान अप्रसिद्ध है। और धूमके ज्ञानसे वह्निका ज्ञान जैसे होता है; तैसे ही आत्माके ज्ञानसे जगत्के ज्ञानकी शंका भी नहीं बन सकती है। क्योंकि व्याप्यके ज्ञानसे व्यापकका ज्ञान-व्याप्तिके बलसे बन सकता है। आत्माके ज्ञानसे जगत्का ज्ञान बने नहीं। आत्मा जगत्का व्याप्य नहीं है, किन्तु व्यापक है। व्यापकके ज्ञानसे व्याप्यका ज्ञान बने नहीं।

समाधान। "जिसके ज्ञान विना जिसका ज्ञान नहीं हो सकता है सो तिससे अभिन्न होता है" यह नियम है। जैसे रज्जुके भान विना रज्जुसर्पका भान नहीं हो सकता है। और शुक्तिके भान विना रजतका ज्ञान नहीं हो सकता है। एवं मृत्तिकाके भानसे विना तत्कार्य घटादिका भान नहीं हो सकता है। तैसे ही आत्माके भान विना जगत्का भी भान नहीं हो सकता है। अतः जगत् आत्मासे अभिन्न है।

एवं दुन्दुभि शंख वीणा रूप-तीन दृष्टान्तों करके अध्यस्त और अधिष्ठानके

अभेदको ही श्रुति भगवती दृढ़ करती है—'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' इत्यादि। अर्थ—वीरादि रस संयुक्त शब्दका नाम दुन्दुभ्याघात है। जिस प्रकारसे दुन्दुभि (भेरी) को हनन करने पर दुन्दुभिसे निकले हुये शब्दविशेषोंको दुन्दुभिशब्दसामान्यके ग्रहण विना विशेषरूपसे पुरुष ग्रहण नहीं कर सकता है। दुन्दुभिशब्दसामान्यके ग्रहणसे "यह दुन्दुभि शब्द है" इस प्रकारसे शब्दविशेषका ग्रहण होता है इति।

अर्थात् जिसके ज्ञान विना जिसका ग्रहण नहीं होता है सो तिससे अभिन्न होता है। सामान्यके ज्ञान विना विशेषका ज्ञान नहीं होता है। अतः सामान्य विशेषका अभेद है। दुन्दुभिशब्दसामान्यके ज्ञान विना दुन्दुभिशब्दविशेषका ज्ञान होता नहीं। अतः दुन्दुभिशब्दसामान्य ही दुन्दुभिशब्दविशेष है भिन्न नहीं। इसी प्रकारसे अधिष्ठानके ज्ञान विना किसी अध्यस्त वस्तुका ज्ञान होता नहीं। अतः सर्व अनात्मवस्तु अधिष्ठान आत्मासे भिन्न है नहीं। जैसे शब्दसामान्यमें शब्दविशेषका अन्तर्भाव है। तैसे ही सत्तारूप चित्सामान्यमें नामरूपका अन्तर्भाव है। यह उक्त दृष्टान्तका तात्पर्यार्थ है इति।

शंका। 'स यथा दुन्दुभेः' इस श्रुतिका उक्त अर्थसे अन्य अक्लिष्ट अर्थका वर्णन हो सकता है। अतः अधिष्ठान और अध्यस्तका अभेद प्रतिपादनके अनुकूल उक्त अर्थका वर्णन असङ्गत है। तथाच उक्त श्रुतिका यह अर्थ है। अर्थ—दुन्दुभिके बजाने पर दुन्दुभिसे 'बहिर्निःसृत' (बाहर निकले हुये) शब्दोंको कोई निरुद्ध नहीं कर सकता है। और दुन्दुभिके निरोधसे अथवा दुन्दुभिको बजानेवालेके निरोधसे दुन्दुभिके शब्दोंका निग्रह हो सकता है इति।

समाधान। इस उक्त अर्थसे अन्य अक्लिष्टतर अथका वर्णन भी हो सकता है। अक्लिष्टतर अर्थ—दुन्दुभिके बजाने पर बाह्य जो दुन्दुभिके शब्दोंसे अभिभूत मनुष्यादिकोंके शब्द हैं। तिनका ग्रहण नहीं हो सकता है। और दुन्दुभिके निरोधसे अथवा दुन्दुभि बजानेवालेके निरोधसे मानुषादि शब्दोंका ग्रहण हो सकता है इति। इस पक्षमें बाह्य शब्द भी सफल होता है। और 'दुन्दुभिसे बहिर्निःसृत' इस आर्थिक अर्थके वर्णनमें बाह्य शब्द निष्फल होता है। क्योंकि दुन्दुभिके शब्दोंमें दुन्दुभिसे बहिर्निःसरण स्वाभाविक है। अतः वाक्यार्थता नहीं बन सकती है। अनन्यलभ्य ही शब्दका अर्थ होता है। यदि वादी कहे कि—उक्त 'अक्लिष्टतर' अर्थ प्रकृतके असङ्गत है। तो यह दोष वादीके मतमें भी तुल्य है। क्योंकि पूर्ववादी करके उक्त 'अक्लिष्ट' अर्थकी भी प्रकृतमें सङ्गति है नहीं।

शंका। 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' इत्यादि। अर्थ—दुन्दुभिहननकी अनुवृत्तिसे दुन्दुभिशब्दकी तरह इन्द्रियव्यापारकी अनुवृत्तिसे बाह्यार्थ विषयक प्रत्ययका निरोध नहीं हो सकता है। अतः आत्मदर्शनार्थीने आत्मदर्शन विरोधी बाह्यार्थ-

विषयक प्रत्ययका इन्द्रियनिरोधसे अथवा इन्द्रियविजृम्भण हेतु मनके निरोधसे निरोध करना चाहिये इति। इस श्रुतिका यह अर्थ प्रकृतके उपयोगी है।

समाधान। 'स यथा दुन्दुभेः' इत्यादि । अर्थ—दुन्दुभिशब्दरूप प्रतिबन्धसे मानुषादि शब्दोंका ग्रहण नहीं हो सकता है। अतः मानुषादि शब्दोंके ग्रहणके लिये दुन्दुभिके निरोधकी जिस प्रकारसे अपेक्षा होती है। इसी प्रकारसे सूक्ष्म शरीरके व्यापाररूप प्रतिबन्धसे आत्माका ग्रहण नहीं हो सकता है। अतः आत्माके दर्शनके लिये सूक्ष्म शरीरके व्यापारनिरोधकी अपेक्षा होती है इति। प्रकृतका उपयोगी यह अर्थ भी इस श्रुतिका हो सकता है।

वस्तुतः 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इस अव्यवहित पूर्ववाक्यसे प्रकृत अभेद-रूप अर्थकी उपपत्तिके लिये दार्ष्टान्तकी कल्पना करके तदनुकूल दृष्टान्तपरत्वेन उक्त श्रुतिका सिद्धान्तभाष्यके अनुसार "अध्यस्त और अधिष्ठानके अभेदका बोधक" अर्थका वर्णन प्रथम ही कर आये हैं। इसी प्रकार शंख व वीणा दृष्टान्तका तात्पर्य्य भी अभेदमें ही है।

शंका। 'आत्मासे जगत्का अभेद है' अथवा 'जगत्से आत्माका अभेद है'? प्रथम पक्षमें आत्माकी तरह जगत्में भी नित्यत्व अविकारित्वादिक होना चाहिये। और अन्तिम पक्षमें जगत्की तरह आत्मामें भी विनाशित्व व मिथ्यात्व होना चाहिये।

समाधान। मृगतृष्णाजलसे मरुभूमिका अभेद होनेपर भी मृगतृष्णा-जलगत मिथ्यात्वादिक करके जैसे अधिष्ठान मरुभूमि सम्बद्ध नहीं होती है। अन्यथा अधिष्ठानभूमिमें आर्द्रपना (गीलापना) होना चाहिये। एवं अधिष्ठान मरुभूमिसे जलका अभेद होनेपर भी अधिष्ठानगत मरुभूमित्व जैसे मृगतृष्णाजलमें नहीं आता है। तैसे ही अध्यस्त जगत्का और अधिष्ठान आत्माका अभेद होनेपर भी जगद्गत मिथ्यात्व विकारित्वादिकी आत्मामें, और आत्मगत सत्यत्व अविकारित्वादिकी जगत्में, प्राप्तिकी शंका व्यर्थ है। तथा च रज्जुसर्पकी तरह आत्मासे पृथक् जगत्की सत्ता स्फुर्तिका अभाव होनेसे आत्माके ज्ञानसे जगत्के तत्त्वका ज्ञान हो ही गया। क्योंकि जैसे कल्पित सर्पका अधिष्ठान रज्जु ही वास्तव स्वरूप है। तैसे ही कल्पित प्रपञ्चका भी अधिष्ठान आत्मा ही वास्तव स्वरूप है।

शंका। अधिष्ठानके अज्ञात होनेपर भी अध्यस्त रजतका ज्ञान देखा गया है। अतः "अधिष्ठानके ज्ञानसे विना अध्यस्तका ज्ञान नहीं होता है" इस सर्वाभेदसाधक नियमका व्यभिचार है। और जैसे अध्यस्त रजतके प्रत्यक्षकालमें अधिष्ठान शुक्तिका प्रत्यक्ष नहीं होता है। तैसे ही जगत्के प्रत्यक्षकालमें आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता है। और जैसे अधिष्ठान शुक्तिके प्रत्यक्ष कालमें रजतभ्रम नहीं होता है। तैसे ही आत्माके प्रत्यक्षकालमें जगद्भ्रम भी नहीं होता है।

यह विद्वान्के अनुभव सिद्ध है। अतः आत्माके ज्ञानसे सर्वके ज्ञानकी सम्भावना नहीं हो सकती है।

समाधान। "अधिष्ठानके ज्ञान विना अध्यस्तका ज्ञान नहीं होता है" इस नियमका व्यभिचारकथन असंगत है। क्योंकि शुक्तिकादि अधिष्ठानकी सर्वथा अज्ञात दशामें रजतादिक भ्रम नहीं होता है। 'यह है' यह अधिष्ठानका सामान्य ज्ञान भ्रमकालमें भी अवश्य रहता है। अतः उक्त नियमका व्यभिचार नहीं है। इसी प्रकारसे यद्यपि प्रपञ्च भ्रमकालमें अधिष्ठानका विशेष रूपसे ज्ञान नहीं भी है, तथापि आत्माकी 'अहमस्मि' 'मैं हूं' इत्यादि सामान्य प्रतीतिके विना प्रपञ्चभ्रमका असम्भव है।

और जैसे शुक्तिकादि अधिष्ठानके विशेषरूपसे अपरोक्ष कालमें यद्यपि अध्यस्त रजतादिके मिथ्या स्वरूपका ज्ञान नहीं भी है। तथापि वास्तवमें अधिष्ठान शुक्ति आदिक ही अध्यस्त रजतादिका तत्त्वस्वरूप है; अतः शुक्तिज्ञान ही रजततत्त्वका ज्ञान है। तैसे ही आत्माके साक्षात्कार कालमें जगत्के कल्पित स्वरूपका भान न होनेपर भी आत्माका साक्षात्कार ही जगत्के वास्तविक तत्त्वस्वरूपका साक्षात्कार है। क्योंकि जगत्का वास्तव स्वरूप आत्मा ही है। जैसे शुक्तिरजतका वास्तव स्वरूप शुक्ति ही है तद्वत्। और प्रपञ्चके मिथ्या अंशका भान परम पुरुषार्थके अनुपयोगी होनेसे जिज्ञासुको अपेक्षित है नहीं। आत्माके भानसे मिथ्या द्वैतके भानमें वेदका तात्पर्य भी नहीं है। किन्तु द्वैताभावमें ही तात्पर्य है—**'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'** अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर द्वैत नहीं है।

इसी प्रकारसे छान्दोग्यषष्ठप्रपाठकके आदिमें विद्याभिमानसे स्तब्ध श्वेतकेतुके प्रति उद्दालक ऋषिने कहा है कि—हे श्वेतकेतो ! **'उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति'**। अर्थ—जिससे अश्रुत श्रुत होता है, अमत मत होता है, अविज्ञात विज्ञात होता है, तिस उपदेशको तुमने अपने गुरुसे प्राप्त किया है? इति। इस प्रश्नद्वारा उद्दालक ऋषिने एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाके अवतरणको करके; पुनः—**'कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति'** अर्थात् हे भगवन्! किस प्रकारसे सो आदेश होता है? इस श्वेतकेतुके प्रश्नके अनन्तर मृत्तिका सुवर्ण लोहरूप तीन दृष्टान्तों करके कारणविज्ञानसे कार्यविज्ञानका लोकमें अनुभवको दिखलाकर; पुनः—**'सदेव सोम्य'** इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ करके सद्ब्रह्मसे सर्व जगत्की उत्पत्ति स्थिति व लयनिरूपणके अनन्तर—**'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'**। अर्थ—सर्व जगत्की उत्पत्तिका जो कारण है, स्थिति दशामें जो जगत्का अन्तर्यामी है, अन्तमें जिसमें सर्व जगत्का विलय होता है, सो सद्ब्रह्म आत्मा तू ही है इति। इत्यादिक ग्रन्थसे अनेक शंका समाधान पूर्वक नौवार निष्प्रपञ्च सद्ब्रह्मके उपदेशसे उक्त प्रतिज्ञाका ही उपपादन किया है।

और मुण्डकोपनिषत्के आदिमें भी 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ।' अर्थ—हे भगवन् ! किसके विज्ञानसे यह सब जगत् विज्ञात होता है इति। इस वाक्य करके एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी जिज्ञासाका अवतरण करके—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

अर्थ—जो 'तत्' पदका लक्ष्य है। और जो दृश्यशून्य है। अग्राह्य है। गोत्रप्रवरादि रहित है। और जो वर्ण आश्रमादि रहित है। चक्षुश्रोत्रादि रहित है। और नित्य है। निरपेक्ष व्यापक है। दुर्लक्ष्य व विकारशून्य है। और जो भूतादि भ्रमका कारण है। तिसको धीर अर्थात् विषयतृष्णाके अभिभव करनेमें समर्थ जो पुरुष हैं; सो आत्मासे अभिन्न स्वरूप करके साक्षात् करते हैं इति। इत्यादि समस्त ग्रन्थ करके कार्यकारणके अभेद समर्थनद्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मविज्ञानसे ही एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानविषयक जिज्ञासाका समाधान किया है।

जैसे एक अद्वितीय रज्जुमें-सर्पादि नाना भ्रमवाले अज्ञ पुरुषोंके प्रति रज्जु साक्षात्कारवान् पुरुषका 'रज्जौ विदिते सर्वं विदितं भवति' अर्थात् 'रज्जु-ज्ञानसे सर्वज्ञान होता है' यह वाक्य है। तैसे ही एक अद्वितीय आत्मामें अविद्यादि नाना भ्रान्तिवाले अज्ञ जीवोंके प्रति आत्मज्ञानवान् सर्वज्ञ ईश्वरका 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' यह वाक्य है। अर्थात् यह वाक्य प्रपञ्चविषयक ज्ञानके लिये प्रयत्नको शिथिल करता हुवा "अधिष्ठानतत्त्वज्ञाननिमित्त प्रयत्नबाहुल्यके लिये उत्साह कर्तव्य है" इस अर्थको बोधन करता है। अधिष्ठान रज्जुज्ञानके अनन्तर अध्यस्त सर्पादिका तत्त्व जैसे ज्ञात होता है। तैसे ही अधिष्ठान प्रत्यगात्मविषयक साक्षात्कारके अनन्तर अध्यस्त जगत्का तत्त्वज्ञान होता है। जैसे रज्जुज्ञानसे सर्पादि भयकी निवृत्ति और ज्ञानप्रयुक्त तृप्ति होती है। तैसे ही आत्मज्ञानसे जन्ममरणादि भयकी निवृत्ति और ज्ञानप्रयुक्त निरतिशय तृप्ति विद्वान्के अनुभवसिद्ध है।

केवल स्थिति कालमें ही नामरूप प्रपञ्च चिदात्मासे अभिन्न नहीं है; किन्तु "उत्पत्तिके पूर्व भी नामरूपको चिद्रूप करके अवस्थित होनेसे और आत्माको जगद्विभ्रमका उपादान होनेसे नामरूप विभ्रम आत्मस्वरूप ही है, रज्जुसर्पवत्" इस अर्थको श्रुति भगवती दृष्टान्तसे सिद्ध करती है—

'स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग् धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः' इत्यादि।

अर्थ—अरे मैत्रेयि ! गीली लकड़ियों करके प्रज्वलित अग्निसे जिस प्रकार धूम विस्फुलिङ्गादिक पैदा होते हैं। इसी प्रकार अनायास करके आत्मासे ऋग्वेदादिक जगत् पैदा

होता है। यहांपर धूमग्रहण विस्फुलिङ्गादिका उपलक्षण है इति। इत्यादिक वाक्य करके अनायाससे निखिल जगत्‌की उत्पत्तिका कारण प्रकृत आत्माको बतलाती हुई श्रुति भगवती प्रपञ्चमें मिथ्यात्व बोधन द्वारा "रज्जुसर्पकी तरह जगद्विभ्रम अधिष्ठान आत्मासे अतिरिक्त नहीं है" इस अर्थको बोधन करती है। और निखिल जगत्‌का हेतु जो यह प्रकृत आत्मा है सो परमात्मा ही है इस अर्थको भी बोधन करती है।

आत्मा जगत्‌का उपादान है; इसलिये ही जगत् आत्मासे अभिन्न है सो वार्ता नहीं है। किन्तु "प्रलय समयमें भी विषयोंके सहित, इन्द्रियोंके सहित, अन्तःकरणके सहित, निखिल प्रपञ्चके लयका एक अयन आधार भी अनन्तर अबाह्य परिपूर्ण प्रज्ञानघन आत्मा ही है" इस अर्थको एकायनप्रक्रियामें भी व्याख्यान करती हुई श्रुति भगवती आत्मासे जगत्‌का अभेद, और इस प्रकृत आत्मामें परमात्मपना, बोधन करती है। जिस वस्तुकी उत्पत्ति स्थिति व लयका जो कारण होता है सो वस्तु तिसका स्वरूप ही होती है। जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न हुवा मृत्तिकामें स्थित हुवा मृत्तिकामें लीन हुवा घट मृत्तिका स्वरूप ही है। इसी प्रकार आत्मासे उत्पन्न हुवा, आत्मामें स्थित हुवा, आत्मामें ही लीन हुवा, जगत् आत्माका स्वरूप ही है। अतः जीवसे समस्त जगत्‌की उत्पत्ति आदिके असम्भव होनेसे "मैत्रेयी ब्राह्मणमें उपदिष्ट आत्मा परमात्मा ही है। और परमात्माका ही यह 'द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतिसे दर्शन श्रवणादिका उपदेश है" ऐसा प्रतीत होता है इति ॥ १९ ॥

शंका। पतिजायापुत्रवित्तादिक अद्वितीय शुद्ध परमात्माको प्रिय नहीं हो सकते हैं। और मैत्रेयी ब्राह्मणमें पतिजायादिकोंमें प्रीतिवाले कर्ता भोक्ता जीवात्माका उपक्रम है। अत यहां परमात्माका उपदेश नहीं बन सकता है। किन्तु विज्ञानात्मा जीवका ही यह दर्शन श्रवणादिका उपदेश है?

समाधान। इस शंकाका समाधान सूत्रकार आचार्यदेशीयके मतसे करते हैं:-

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

अथ—१ प्रतिज्ञासिद्धेः, २ लिङ्गम्, ३ आश्मरथ्यः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। मैत्रेयी ब्राह्मणमें जो भोक्तृविषयक उपक्रम है सो प्रतिज्ञासिद्धिका लिङ्ग है-यह आश्मरथ्य आचार्यका मत है इति। जैसे वह्निके विकार विस्फुलिङ्गादिक अग्निसे अत्यन्त भिन्न भी नहीं हैं। अन्यथा विस्फुलिङ्गादिकोंमें अग्नित्व नहीं रहना चाहिये। और विस्फुलिङ्गोंसे दाह प्रकाश भी नहीं होना चाहिये। और अत्यन्त अभिन्न भी नहीं हैं। अन्यथा वह्निकी तरह परस्पर व्यावृत्तिका अभावप्रसङ्ग होगा। तैसे ही ब्रह्मविकार जीवात्मा भी ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न भी नहीं है। अन्यथा चिद्रूपत्वाभावप्रसङ्ग होगा। और अत्यन्त अभेद पक्षमें ब्रह्मकी तरह परस्पर व्यावृ-

त्तिका अभाव प्रसङ्ग होगा। और सर्वज्ञ ब्रह्मके प्रति उपदेश भी व्यर्थ होगा। अतः परमात्मासे जीवात्माका कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानना चाहिये।

तथा च यहांपर यह जो प्रतिज्ञा है—**'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा'** इति। तिस प्रतिज्ञासिद्धिके वास्ते अभेद अंशका अनुसन्धान करके, पतिजायादिविषयक प्रीतिसे अनुमित भोक्तृ जीवविषयक उपक्रम पूर्वक यह आत्मविषयक द्रष्टव्यत्वादिका संकीर्तन है। अर्थात् इस मैत्रेयी ब्राह्मणमें पतिजायादिविषयक प्रीतिवाले भोक्ता जीवात्माका जो यह "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादि उपक्रम करके द्रष्टव्यत्व श्रोतव्यत्वादिका संकीर्तन है। सो यह आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाकी सिद्धिका सूचक लिङ्ग है। अर्थात् यदि जीवात्मा परमात्मासे वस्तुतः अन्य होता तो परमात्माके ज्ञान होनेपर भी जीवात्माका ज्ञान न होनेसे एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाका भङ्ग होगा। अतः प्रतिज्ञासिद्धिके लिये जीवात्मा परमात्माके अभेद अंशको लेकर श्रुतिमें उपक्रम किया है। यह एकदेशी आश्मरथ्य आचार्यदेशीयका मत है। आचार्यपनेमें थोड़ी कसर जिसमें हो तिसका नाम आचार्यदेशीय है ॥ २० ॥

पुनः अन्य आचार्यदेशीयके मतसे सूत्रकार समाधान करते हैं—

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

अर्थ—१ उत्क्रमिष्यतः; २ एवंभावात्, ३ इति, ४ औडुलोमिः। इस सूत्रमें चार पद हैं। ज्ञानसे उपाधित्यागके अनन्तर जीवको 'एवंभावात्' कहिये ब्रह्मरूप होनेसे ब्रह्मोपदेशके प्रकरणमें जीवका उपक्रम श्रुतिमें किया है। यह औडुलोमिका मत है इति।

अर्थात् यद्यपि संसारदशामें यह विज्ञानात्मा व्यष्टि देहादि उपाधि करके कलुषित है। और समष्टि उपाधिवाले परमेश्वरसे भिन्न है। तथापि जीव और परमात्माका केवल संसारदशामें भेद है; और मुक्तिदशामें अभेद है। क्योंकि देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदिक संघातरूप उपाधिके सम्पर्कसे कलुषितपनेको ज्ञान ध्यानादि साधनोंके अनुष्ठानसे क्षालन करके ज्ञानद्वारा देहादि संघातरूप उपाधिसे समुत्थित जीवकी परमात्मासे एकताकी उपपत्ति बन सकती है। अतः उपाधि त्यागके अनन्तर जीवात्माका परमात्मासे भविष्यद् अभेदको समझकर परमात्माके प्रकरणमें भोक्ता जीवका यह उपक्रम किया है। भेदाभेदमें छान्दोग्य श्रुति प्रमाण है। श्रुतिः—**'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'** (छा० ८।१३।३)। अर्थ – सम्यक् प्रसन्नताको जहांपर जीव प्राप्त होता है ऐसा आनन्द स्वरूप परम प्रिय आत्माका नाम 'सम्प्रसाद' है। यह ही शुद्ध आत्मा उपाधिनिमित्तसे 'समुत्थाय' अर्थात् जीवभावको प्राप्त होकर, ज्ञान ध्यानादि साधनाभ्याससे आनन्दस्वरूपके साक्षात्कारद्वारा उपाधिविनिर्मुक्त

हुवा शुद्ध परज्योतिको प्राप्त होकर, ब्रह्मरूप स्वस्वरूपसे निष्पन्न होता है इति। इस श्रुतिसे संसारदशामें भेद, और मुक्तिदशामें अविद्याके नष्ट हो जानेसे अभेद स्पष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि सर्वथा अभेद पक्षमें ज्ञान ध्यानादि साधनाभ्यास व्यर्थ होगा।

शंका। 'अविद्या, नाशरहिता, अनादित्वात्, आत्मवत्।' अर्थ— जैसे दृष्टान्त आत्मामें अनादित्व हेतु है; और नाशरहितत्व साध्य भी है। तैसे पक्षरूप अविद्यामें अनादित्व हेतु है; अतः नाशरहितत्व साध्य भी अवश्य मानना चाहिये इति। प्रागभावके अस्वीकर पक्षमें अनादित्व हेतुके व्यभिचारकी शंका भी नहीं बन सकती है। स्वीकारपक्षमें अनादित्वविशिष्ट भावत्व हेतु करनेसे व्यभिचारका वारण हो सकता है।

समाधान। वृद्ध वैशेषिक मतके अनुसार अनादि अणुश्यामतानाशकी तरह अविद्यानाश बन सकता है। और गौतम सूत्रमें भी अनादि संसारकी निवृत्तिमें प्रागभावनिवृत्तिको दृष्टान्त देकर प्रागभावके अस्वीकारपक्षकी शंकाका उद्भावन करके अनादि भावनिवृत्तिमें 'अणुश्यामतानित्यत्ववद्वेति' इस सूत्र करके पाकप्रयुक्त परमाणुश्यामतानिवृत्तिका दृष्टान्त दिया है। सांख्य व योग मतमें अनादि अविवेकनिवृत्तिकी तरह अनादि अविद्याका नाश विद्वान्के अनुभव सिद्ध है। अथवा अनादित्वविशिष्टभावत्व हेतु सोपाधिक है। क्योंकि उक्त अनुमानमें अपरिच्छिन्नत्वादिक उपाधि हैं।

शंका। "मुक्तिके पूर्व अविद्यादिक संसारका भेद और मुक्तिमें अभेद" इस सिद्धान्तपक्षसे औडुलोमिके मतमें विशेषताके न होनेसे सिद्धान्तमतसे इस मतका भेद सिद्ध नहीं हो सकता है। तथाच औडुलोमिमें आचार्यदेशीयत्व अर्थात् कुछ न्यूनताविशिष्ट आचार्यत्वका कथन असङ्गत है।

समाधान। सिद्धान्तमें मुक्तिसे प्रथम; जीवभेदादिक प्रपञ्च भ्रान्तिमात्र मिथ्या तुच्छ है। औडुलोमिके मतमें सत्य है। इसलिये सिद्धान्तसे इस मतका भेद है। और सिद्धान्तमें नामरूप उपाधिके धर्म हैं; इस मतमें जीवके ही धर्म हैं। 'नामरूप जीवके धर्म हैं' इसमें औडुलोमि नदीनिदर्शनवाली श्रुतिको प्रमाण देता है। श्रुतिः— 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥' इति। अर्थ—जैसे लोकमें गंगादिक नदी वहती हुई अपने २ नामरूपको त्याग करके समुद्रमें अभेदभावको प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार विद्वान् जीव भी अपने नामरूपको त्याग करके पर दिव्य ज्योतिस्वरूप पुरुषको प्राप्त होता है इति। जैसे लोकमें गंगादिक नदी स्वाश्रित स्वाभाविक अपने नामरूपको त्यागकर समुद्रमें मिलती हैं। तैसे ही विद्वान् जीव भी स्वाभाविक ही अपने नामरूपको त्यागकर परसे पर पुरुषको प्राप्त होता है। यही अथ

दृष्टान्त दार्ष्टान्तकी समताके लिये इस मुण्डक श्रुतिमें प्रतीत होता है। यह औडुलोमिका अभिप्राय है॥ २१॥

दोनों आचार्यदेशियोंके मतसे भोक्ता जीवके उपक्रमकी शंकाके समाधानको कहकर अब आचार्य काशकृत्स्नके मतसे सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥ २२॥

अर्थ—१ अवस्थितेः, २ इति, ३ काशकृत्स्नः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। इस परमात्माको ही इस जीवरूप करके अवस्थित होनेसे परमात्माके दर्शनादिके प्रकरणमें स्थूलदर्शी लोकप्रतीतिकी सरलताके लिये अभिन्न रूपसे यह जीवात्माका उपक्रम युक्त ही है। यह काशकृत्स्न आचार्यका मत है इति।

अभेदमें श्रुति प्रमाण है। **'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।'** मैं इस जीवरूप आत्मा करके देहादि प्रपञ्चमें प्रविष्ट होकर नाम रूपका व्याकरण (अभिव्यक्ति) करूं। सृष्टि उत्पत्तिके अनन्तर प्रवेशविषयक यह ईश्वरका संकल्प है इति। इत्यादि ब्राह्मणभाग देहादिकोंमें प्रविष्ट हुये परमात्माको ही जीवभावसे अवस्थित दिखलाता है। **'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते'** (तै०)। अर्थ—सर्व नामरूप सृष्टिको करके वाग् व्यवहारका कर्ता जो धीर (धीका प्रेरक) आत्मा है सो ही ब्रह्मका स्वरूप है इति। इत्यादिक मन्त्रभाग भी जीवब्रह्मके अभेदमें प्रमाण है।

शंका। आकाशादि प्रपञ्चकी तरह जीव भी परमात्माका विकार क्यों न मान लिया जाय।

समाधान। यदि तेज आदिक सृष्टिमें जीवकी भी पृथग् सृष्टि श्रुत होती तो परमात्मासे अन्य और परमात्माके विकार जीवको कह सकते थे; परन्तु जीवकी सृष्टि श्रुत है नहीं। शास्त्रमें जहां कहीं जीवकी उत्पत्ति प्रतीत होती है; सो भी उपाधिको उत्पत्तिका चिद्रूप जीवमें आरोपमात्र है। क्योंकि जीवका स्वरूप **'तत्त्वमसि'** इत्यादि वेदसे निर्विकार सद्ब्रह्मरूप ही है।

"अविकृत परमेश्वर ही जीवका स्वरूप है। परमात्मासे भिन्न जीव नहीं है" यह काशकृत्स्न आचार्यका मत है। परिणामवादी आश्मरथ्यके मतमें यद्यपि जीवका परमात्मासे अभेद अभिप्रेत है। तथापि सूत्रमें 'प्रतिज्ञासिद्धेः' इस सापेक्षत्वके अभिधानसे; अर्थात् "प्रतिज्ञासिद्धिके लिये अभेदका उपक्रम है" ऐसा कहनेसे "जीव ईशमें भी किञ्चित् कार्यकारणभाव अभिप्रेत है" ऐसा निश्चय होता है। तथा च अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह परमात्मासे जीवकी उत्पत्तिके श्रवणसे जीव व ब्रह्मका भेद भी तात्त्विक है। अतः भेद अंशको लेकर कार्यका-

रणभावादिक व्यवहार है। और अभेद अंशको लेकर 'तत्त्वमसि' इत्यादिक व्यवहार है। तथा एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा आदिक व्यवहार है। और औडुलोमिके पक्षमें संसारदशाकी अपेक्षासे भेद, और मोक्षदशाकी अपेक्षासे अभेद है। यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इनमें काशकृत्स्नका मत श्रुति अनुसारी है। यह निश्चय होता है। क्योंकि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिक श्रुतियोंसे जो अभेदरूप अर्थ प्रतिपादन करनेको इष्ट है तिस अर्थके अनुसार ही यह मत है।

शंका। काशकृत्स्नका मत श्रुति अनुसारी नहीं हो सकता है; क्योंकि अत्यन्त अभेद पक्षमें कार्यकारणभावादि भेदप्रपञ्चविषयक प्रत्यक्षका अपलाप होगा।

समाधान। सिद्धान्तमें वास्तव अभेद ही है, कार्यकारणभावादिक भेदप्रपञ्च अविद्याविलासमात्र है। जैसे रज्जुसाक्षात्कारसे सर्पभ्रमकी निवृत्ति होती है। और जैसे व्याधकुलमें परिपालित राजकुमारमें म्लेच्छभावकी आप्त-उपदेशजन्य राजकुमारत्वसाक्षात्कारसे निवृत्ति होती है। तैसे ही देहादि परिच्छिन्नचिद्ब्रह्म स्वरूपमें जीवभावकी, 'तत्त्वमसि' इत्यादि उपदेशके श्रवणमनननिदिध्यासन परिपाकसे उत्पन्न हुई प्रत्यगभिन्न तत्त्वसाक्षात्काररूप विद्या करके, अत्यन्त निवृत्ति होती है। मृद्घटकी तरह ब्रह्म व जगत्के कार्यकारणभावपक्षमें ब्रह्मसाक्षात्कारसे जगत्की निवृत्ति नहीं बन सकती है। क्योंकि मृत्तिकाके साक्षात्कारसे घटादिका नाश नहीं देखा गया है।

शंका। सुवर्णतत्त्वसाक्षात्कारसे तत्कार्य कुण्डलादिकोंमें; मृत्तिकास्वरूप-साक्षात्कारसे घटादिकोंमें; जिस प्रकार मिथ्यात्व निश्चय होता है। इसी प्रकार परिणामपक्षमें भी ब्रह्मसाक्षात्कारसे जीवत्व ईश्वरत्वादिक प्रपञ्चमें मिथ्यात्व निश्चय हो सकता है। अतः मृद् घटकी तरह ही कार्यकारणभाव स्वीकार करना उचित है। मिथ्यात्वनिश्चयके होनेपर भी दण्डादिकके उपनिपात विना जैसे घटादि आकारका नाश नहीं होता है। इसी प्रकार प्रारब्धक्षयरूप निमित्तके उपनिपात विना देहादि आकारका नाश भी नहीं बन सकता है।

समाधान। परिणामवादमें मृत्तिका और घटका परस्पर भेदाभेद तात्त्विक है। विवर्तवादमें ब्रह्म और जगत्का अभेदमात्र तात्त्विक है, भेद मिथ्या अविद्याविलसित है। अतः अधिष्ठानसाक्षात्कारसे मिथ्या भेदकी निवृत्ति बन सकती है। परिणामवादमें अधिष्ठान समसत्ताक सत्य वस्तुकी निवृत्ति नहीं बन सकती है। मृद्की तरह परिणामी होनेसे ब्रह्ममें विनाशित्वादिक दोषोंकी भी प्राप्ति होगी। और परिणामवादी आश्मरथ्य व औडुलोमिके मतमें भेदको सत्य होनेसे **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** यह आक्षेप असङ्गत हो जावेगा। और काशकृत्स्नके मतसे अत्यन्त अभेद होनेके कारण 'केन' यह आक्षेप युक्त होता है। रज्जुसर्पकी तरह विवर्तपक्षका सिद्धान्तमें स्वीकार है। मृद् घटकी तरह परिणाम-

वादी आश्मरथ्यादिका मत अवैदिक है। अद्वितीय असङ्ग आत्मतत्त्वविषयक अविद्याविलास ही जगद्विभ्रम है। इसीलिये तिस जीवतत्त्वसाक्षात्कारसे प्रपञ्च-विभ्रमकी निवृत्तिरूप अमृतत्वकी भी सिद्धि होती है। यदि जीवको ब्रह्मका विकाररूप स्वीकार किया जाय तो विकृतिरूप जीवको प्रकृतिरूप ब्रह्ममें लीन हो जानेके अनन्तर जीवके विनाशका प्रसङ्ग होगा। और ब्रह्मज्ञानसे अमरभावकी प्राप्तिरूप मोक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिये जीव ब्रह्मका विकार नहीं है। किन्तु जैसे घटादिक उपाधिसे आकाशमें घटाकाशत्वादिककी कल्पना होती है। तैसे ही अविद्या उपाधिसे शुद्ध ब्रह्ममें जीवत्वादिकी कल्पना मात्र है। वास्तवमें ब्रह्म स्वरूप ही जीव है। स्वरूपसे जीवमें किसी नामरूपका सम्भव नहीं है। इसलिये उपाधिगत नामरूपका ही जीवमें उपचार होता है।

शंका। 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इत्यादिक श्रुतियोंमें जीवकी उत्पत्ति स्पष्ट ही कही है। अतः जीव ब्रह्म नहीं हो सकता है।

समाधान। अत एव कहीं २ पर अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह जो जीवकी उत्पत्ति आदिका वेदने श्रवण कराया है सो भी 'उपाधिगत उत्पत्तिनाशादिका ही कथन है' ऐसा ही निश्चय करना योग्य है।

और **'न वा अरे पत्युः कामाय'** इत्यादि भोक्ता जीवका उपक्रमरूप जो पूर्वपक्षका प्रथम बीज था तिसका इस त्रिसूत्रीसे निरास करके; अब **'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति'** इत्यादि मध्य निर्देशरूप जो पूर्वपक्षका द्वितीय बीज है। तिसका भी इन्हीं तीन सूत्रोंसे निरास करते हैं।

'आत्मनस्तु कामाय' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिसे प्रकृत महान् सिद्ध स्वरूप द्रष्टव्य आत्माका ही 'विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय' इत्यादि मन्त्रमें भूतोंसे जीवरूप करके समुत्थानको दिखाता हुवा वेद जीवात्मामें ही यह द्रष्टव्यत्व श्रोतव्यत्वादिकोंको दिखाता है। यह जो पूर्व, पूर्वपक्षका 'जीवभाव करके भूतोंसे समुत्थानरूप' द्वितीय बीज कहा था तिसके खण्डनमें भी इसी त्रिसूत्रीकी योजना करनी चाहिये।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः॥

इस मैत्रेयी ब्राह्मणमें **'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति'** इत्यादि शास्त्रसे यह एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करी है। और **'इदं सर्वं यदयमात्मा'** इत्यादि शास्त्रसे आत्माके स्वरूपको दिखलाकर उक्त प्रतिज्ञाका ही उपपादन किया है। और एक आत्मासे ही निखिल नाम रूप कर्म प्रपञ्चकी उत्पत्ति और

एक आत्मामें ही निखिल प्रपञ्चका लय दिखलाकर भी इस प्रतिज्ञाका ही उपपादन किया है। और दुन्दुभि आदिक दृष्टान्तों करके कार्यकारणका अभेद प्रतिपादन द्वारा भी इस ही प्रतिज्ञाका समर्थन किया है। और **'विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय'** यह जो प्रकृत महान् सिद्ध स्वरूप द्रष्टव्य आत्माका कार्य-कारणरूप भूत निमित्तसे समुत्थान (जीवभाव) कहा है। सो यह भी तिस ही प्रतिज्ञासिद्धिका सूचक लिङ्ग है। यह आश्मरथ्यका मत है। अभेद होनेसे ही एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा घट सकती है। यदि एकान्तिक भेद ही सत्य होता तो एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा असङ्गत होती। परन्तु भेदाभेदवादमें अभेद पक्षका अनुसन्धान करके उक्त प्रतिज्ञाकी उपपत्ति बन सकती है। अतः इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिये ही प्रकृत द्रष्टव्य आत्माका भूतोंसे जीव-भावरूप समुत्थान कहा है। यह आश्मरथ्य आचार्यदेशीयका अभिप्राय है इति।

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥

ज्ञानध्यानादि सामर्थ्यसम्पत्तिसे स्वरूपका साक्षात्कार करके उपाधि-त्यागके अनन्तर मुक्तिदशामें जीवका ब्रह्मके साथ भावी अभेद होनेसे "प्रकृत द्रष्टव्य आत्माका ही यह उपाधिनिमित्तसे समुत्थान (जीवभाव) का वर्णन किया है" यह औडुलोमि आचार्यका मत है।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥

इस प्रकृत द्रष्टव्य परमात्माको ही इस जीवभाव करके भी अवस्थित होनेसे; प्रकृत परमात्माका ही उपाधिनिमित्तसे समुत्थानरूप जीवभावके उपदेशद्वारा यह अभेदवर्णन युक्तियुक्त ही है। यह काशकृत्स्न आचार्यका सिद्धान्त है।

शंका। 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृ०) अर्थ—यह प्रकृत द्रष्टव्य आत्मा ही पञ्चभूतरूप उपाधिसे जीवभावको प्राप्त होकर ज्ञानसे उपाधिनाशके अनन्तर नाशको प्राप्त होता है; प्रेत्य (मुक्तिमें) संज्ञा नहीं रहती है इति। इस श्रुतिसे मुक्तिमें जीवके नाशका अभिधान स्पष्ट मालूम होता है। अतः जीवब्रह्मके अभेदमें 'एतेभ्यो भूतेभ्यः' इत्यादि उक्त श्रुतिका तात्पर्य्य कैसे बन सकता है?

समाधान। यह दोष नहीं बन सकता है; क्योंकि मुक्तिदशामें विशेषवि-ज्ञानके अभावका बोधक **'न प्रेत्य संज्ञास्ति'** यह श्रुतिवाक्य है। आत्माके उच्छेदमें उक्त वाक्यका तात्पर्य्य नहीं है। क्योंकि **'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति'** अर्थात्—'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्य करके, मुक्तिमें आत्माका नाश मालूम होता है। आत्माके नाश होजानेसे ज्ञानसे अमृतत्त्वकी प्राप्ति कैसे

हो सकती है। हे भगवन्! इस वाक्यसे मुझको मोह (सन्देह) प्राप्त हो गया है? इस प्रकार मैत्रेयीकी शंकाका उत्थापन करके, श्रुति भगवती स्वयं ही इस वाक्यके तात्पर्य्यार्थको वर्णन करती है:—**'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति'** इति। अर्थ—अरे मैत्रेयि! मैं मोहयुक्त वाक्य नहीं कहा हूं। यह आत्मा अविनाशी है। उच्छेदरहित है। मुक्तिमें देह इन्द्रियादिक मात्रा (परिच्छेद) का ही विनाश होता है इति। यहांपर यह अर्थ उक्त होता है—कूटस्थ नित्य ही विज्ञानमूर्ति स्वयंज्योतिःस्वरूप यह आत्मा है; इसके उच्छेदकी शंका नहीं बन सकती है। किन्तु अविद्याकृत भूतभौतिक मात्राका असंसर्ग इस आत्मामें विद्या करके होता है। और अविद्यादि संसर्गके नाशसे अविद्यादि संसर्गसे जन्य जो विशेषविज्ञान है तिसका अभाव होता है। इसलिये 'मुक्तिमें विशेषविज्ञान नहीं होता है' यही **'न प्रेत्य संज्ञास्ति'** इस श्रुतिमें कहा है।

शंका। मैत्रेयी ब्राह्मणके अन्तमें प्रकृत द्रष्टव्य आत्माका ही **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** इस विज्ञानकर्ताके वाचक वचनसे उपसंहार किया है। अतः इस मैत्रेयी ब्राह्मणका विषय जीव ही द्रष्टव्य है यह जो पूर्व हमने कहा था सो क्यों न मान लिया जाय?

समाधान। इस उपसंहारगत आत्मनिष्ठ विज्ञानकर्तृत्व निर्देशरूप तृतीय पूर्वपक्षके बीजका निरास भी तृतीय काशकृत्स्न आचार्यके मतसे ही समझना चाहिये। अर्थात् काशकृत्स्नके मतसे ब्रह्म और जीवका अत्यन्त अभेद होनेसे, ब्रह्म ही जीवरूप करके अवस्थित है। अतः उपसंहारमें स्थित जो विज्ञानकर्तृत्वेन जीवका निर्देश है; सो भी ब्रह्मका ही निर्देश है। **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' 'येन सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'** इस उपसंहार श्रुतिमें कहा हुवा जो सर्वका विज्ञाता है सो जीव हो भी नहीं सकता है। अर्थात् याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि—अरे मैत्रेयि! सर्वके विज्ञाताको अन्य किस करके जानेगा; दूसरा विज्ञाता कोई है नहीं इति। सर्वके द्रष्टाका दूसरा द्रष्टा बने नहीं। द्रष्टाको अन्य द्रष्टासे दृश्य माननेमें अनवस्थादिक दोष होवेंगे। द्रष्टामें भी मिथ्यात्वका प्रसङ्ग होगा। अतः सर्व प्रकारसे सर्वका द्रष्टा जीव नहीं बन सकता है। किन्तु सामान्य विशेषरूपसे सर्वको जाननेवाला सर्वज्ञ सर्ववित् परमेश्वर ही मैत्रेयी ब्राह्मणमें द्रष्टव्य है। यह उक्त उपसंहार श्रुतिका तात्पर्य्यार्थ है।

शंका। पतिजायादिक जिसके लिये प्रिय हैं, पतिजायादिका जो भोक्ता है; तिस ही प्रकृत जीवात्माका विज्ञानकर्तृत्वेन उपसंहारमें निर्देश क्यों न मान लिया जाय?

समाधान। मैत्रेयी ब्राह्मणका पूर्वापर विचार करनेसे द्वितीयजीवत्वादिक धर्मशून्य अद्वितीय परमात्माके प्रतिपादनमें ही तात्पर्य निश्चित होता है। क्योंकि

उपसंहारमें भी 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्यसे मुक्तिमें संज्ञाके अभावकी प्रतिज्ञा करके **'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति'**। अर्थ—जिस अवस्थामें द्वैतकी तरह भास होता है। तिस समय अन्य अन्यको देखता है इति। इत्यादि ग्रन्थसे अविद्याकालमें मिथ्या द्वैतभावापन्न आत्मकर्तृक दर्शनादिक विशेषविज्ञानका प्रपञ्च दिखलाकर **'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्'**। अर्थ—जिस अवस्थामें तत्त्वसाक्षात्कारके अनन्तर इस जिज्ञासुको सर्व आत्मा ही हो गया। तिस अवस्थामें कौन कर्ता किस करण करके किस विषयको देखेगा इति। इत्यादि वाक्यसे विद्यादशामें आत्मामें दर्शनादि विशेषविज्ञानके अभावका निरूपण किया है।

पुनः अविद्यादिक विषयके अभावकालमें भी आत्माको जानना चाहिये? ऐसी आशंका करके 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इस वाक्यसे विशेषविज्ञानके अभावका उपपादन किया है। अतः 'विज्ञातारमरे' इत्यादि वाक्यको विशेषविज्ञानके अभावका उपपादक होनेसे प्रपञ्चविभ्रमका अधिष्ठान अद्वितीय विज्ञान स्वरूप अविद्यादिविषयशून्य प्रकृत द्रष्टव्य सत्य आत्मा ही भूतपूर्व*गतिसे कर्तृवाचक तृच् करके निर्दिष्ट है। और उपक्रममें भी अविद्याकालीन भोक्तृत्वकी अपेक्षासे ही अविद्याविलास पतिजायादिविषयक प्रीतिकर्तृत्वेन निर्देश किया है यह निश्चय है।

शंका। आश्मरथ्य और औडुलोमिके मतोंको स्वीकार न करके केवल काशकृत्स्नके ही मतको स्वीकार क्यों करते हो?

समाधान। काशकृत्स्नके मतमें श्रुत्यनुसारित्व प्रथम दिखा आये हैं। क्योंकि काशकृत्स्न आचार्यने वास्तविक अभेदको स्वीकार किया है। और वास्तविक अभेद ही श्रुतिका अर्थ है। इसलिये अविद्या करके प्रत्युपस्थापित नामरूप रचित देहादि उपाधि करके ही जीव व परमात्माका कल्पित भेद है। वास्तविक भेद नहीं है। यही अर्थ सम्पूर्ण वेदान्तवादियोंको स्वीकार करना चाहिये।

शंका! "वास्तविक अभेद श्रुतियोंका अर्थ है" यह कैसे निर्णय हो सकता है?

समाधान। **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'** अर्थ—उद्दालक ऋषि अपने पुत्रसे कहते हैं–हे प्रिय! हे श्वेतकेतो! सृष्टिके पहिले यह सम्पूर्ण जगत् सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य सत्य स्वरूप ही था इति। और **'आत्मैवेदं सर्वम्'**। अर्थ—यह सम्पूर्ण आत्मा ही है इति। इत्यादि छान्दोग्य श्रुति अभेदको ही प्रतिपादन करती है।

---

* अर्थात् यद्यपि कैवल्यदशामें आत्मामें कर्तृत्व नहीं है। तथापि कैवल्यकी अपेक्षासे भूतकालमें स्थित बन्धकालीन काल्पनिक कर्तृत्वको लेकर 'विज्ञातारम्' इस श्रुतिमें अद्वितीय आत्माको ही विज्ञानका कर्तारूपसे कहा है।

और 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'। अर्थ--यह सम्पूर्ण ब्रह्म ही है इति। इत्यादिक मुण्डक श्रुति भी अभेदको ही प्रतिपादन करती हैं।

और 'इदं सर्वं यदयमात्मा'। अर्थ--जो यह सर्व है सो सम्पूर्ण आत्मा ही है इति। और 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ'। अर्थ—इस द्रष्टा श्रोतासे अन्य कोई द्रष्टाश्रोता नहीं है इति। इत्यादिक बृहदारण्यक श्रुति भी अभेदको ही प्रतिपादन करती हैं।

और 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'। अर्थ–भगवान् कहते हैं कि–'यह सर्व वासुदेव ही है' ऐसा जाननेवालेका नाम महात्मा है। ऐसा महात्माका मिलना दुर्लभ है इति। और 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'। अर्थ—हे अर्जुन! सर्व देहोंमें द्रष्टा मुझको ही जान इति। और 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्'। अर्थ—विनाशशीलसर्वभूतोंमें स्थित एकरस अविनाशी परमेश्वरको जो आत्मारूपसे देखता है, सो ही देखता है। अर्थात् और सर्व अन्धे हैं इति। इत्यादि गीतादि स्मृतियोंमें भी अभेदका ही वर्णन किया है।

और 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः'। अर्थ—'द्रष्टा ब्रह्म अन्य है और मैं अन्य हूं' इस प्रकारसे जो जानता है सो नहीं जानता है। किन्तु पशुकी तरह अज्ञ है इति। और 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'। अर्थ—इस आत्मामें जो पुरुष नानाकी तरह देखता है, सो भेददृष्टि पुरुष मृत्युसे भी मृत्युको प्राप्त होता है। अर्थात् पुनः पुनः जन्ममरणको प्राप्त होता है इति। इत्यादि बृहदारण्यकमें भेद-दर्शनके अपवादसे भी अभेदका ही निर्णय होता है।

और 'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म'। अर्थ—सो श्रुति प्रतिपाद्य यह आत्मा महान् है। उत्पत्तिमरणादि विकारोंसे रहित है। और अमृत अभयरूप है इति। इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति भी आत्मामें सर्वविकारके निषेध करती हुई अभेदको ही वर्णन करती है।

और भेदाभेदवादी आश्मरथ्यके मतमें, और मोक्षदशामें अभेदवादी औडुलोमिके मतमें, अत्यन्त अभेद प्रतिपादक—'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति स्मृति; और द्वैतदर्शनकी निन्दा; और 'स एष नेति नेति' इत्यादि करके सर्वभेदादि दृश्यप्रपञ्चका प्रतिषेध; और 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादिक अभेदरूप एकत्वदर्शनकी स्तुतिकी असंगति स्पष्ट है।

शंका। संसारदशामें प्रत्यक्ष देह इन्द्रियादि प्रयुक्त भेद और मोक्षदशामें अभेद; अथवा सर्वदा भेदाभेदपक्षमें और क्या दोष है?

समाधान। भेदाभेदका परस्पर विरोध होनेसे भेदाभेदविषयक प्रमा

नहीं बन सकती है। तथा च 'अहं ब्रह्मास्मि' यह निर्बाध ज्ञान न हो सकेगा। क्योंकि भेदविषयक प्रमादशामें अभेदविषयक भ्रान्ति, और अभेदविषयक प्रमादशामें भेदविषयक भ्रान्ति अवश्य होगी। तथा च प्रमासे भ्रान्तिका बाध अवश्य होगा। अतः भेदाभेदविषयक निरपवाद (बाधशून्य) ज्ञान नहीं बन सकता है। अथवा विशेषाग्रहदशामें अन्यतर (भेदाभेदमेंसे किसी एक) विषयक संशय हो जायगा। अतः सुनिश्चितार्थत्वकी भी अनुपपत्ति होगी।

शंका। निर्बाध ज्ञान न होनेसे क्या क्षति होगी?

समाधान। मुक्तिका असम्भव हो जावेगा। क्योंकि "बाधसे रहित आत्मविषयक विज्ञान ही सर्व आकाङ्क्षावोंका निवर्तक है। और मोक्षका हेतु है" यह वेदान्तका निश्चय है। और **'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः'** इत्यादि श्रुतिने भी निःसन्देह सुनिश्चित अर्थविषयक वेदान्तविज्ञान ही मुक्तिका हेतु कहा है।

यदि भेदाभेदका परस्पर अविरोध स्वीकार हो तो एकको कल्पित स्वीकार करना पड़ेगा। "भेद कल्पित है और अभेद परमार्थ सत्य है" इस सिद्धान्तपक्षका ही स्वीकार करना पड़ेगा। और अभेदको कल्पित नहीं मान सकते हैं; क्योंकि अभेद सिद्धान्तमें ब्रह्मरूप है। ब्रह्ममें मिथ्यात्वप्रसङ्ग होगा। इष्टापत्ति नहीं बन सकती है। अन्यथा निरधिष्ठान भेदभ्रमकी अनुपपत्ति होगी। परिच्छिन्न वस्तुमें सत्यपनेका व निरधिष्ठानपनेका बाध है। अत एव **'अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—अन्यथा भेदाभेद स्वीकार पक्षमें मुमुक्षुवोंको बाधशून्य ज्ञानकी अनुपपत्ति होगी इत्यादि इति। और **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** अर्थ—गुरु व शास्त्रके उपदेशके पश्चात् एकत्व (अभेद) विषयक अपरोक्ष ज्ञान अवस्थामें क्या शोक है? और क्या मोह है? अर्थात् शोक मोहका लेश भी नहीं है इति। यह ईशावास्य श्रुति भी एकत्वनिश्चयसे ही शोक मोहकी निवृत्तिरूप मोक्षको कहती है। **'एकत्वानेकत्वेऽनुपश्यतः'** ऐसी कोई श्रुति स्मृति है नहीं।

और—'अहं ब्रह्मास्मि' इस अबाधित अभेदनिश्चयसे ही शोक मोहकी निवृत्ति होती है। इस अर्थको—**'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्'** इत्यादि स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको कहनेवाली गीता स्मृति भी कहती है। क्योंकि अभेद पक्षमें ही बुद्धिकी स्थिरता बन सकती है; भेदाभेद पक्षमें स्थितप्रज्ञत्व बने नहीं।

शंका। जीवपरमात्मानौ, स्वतो भिन्नौ, अपर्यायनामवत्त्वात् विलक्षणरूपवत्त्वाच्च, स्तम्भकुम्भवत्॥ अर्थ—जैसे स्तम्भ व कुम्भरूप दृष्टान्तमें अपर्यायनामवत्ता व विलक्षणरूपवत्त्व हेतु है। और स्वाभाविक भेदवत्तारूप साध्य है। तैसे ही जीव और परमात्मामें भी अपर्यायनामवत्त्व और विलक्षणरूपवत्त्व हेतु है। क्योंकि

जीवका रूप अविद्याकल्पित है। और परमात्माका रूप अविद्याशून्य स्वतःप्रकाश चिन्मात्र है। तथा च स्वाभाविक भेदवत्तारूप साध्य भी मानना चाहिये इति।

समाधान। 'स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वे सम्यग्दर्शने' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—पूर्वोक्त श्रुति स्मृतियोंके बलसे 'क्षेत्रज्ञ' जीव व परमात्माके एकत्व-प्रमितिके स्थित होने पर 'क्षेत्रज्ञः' 'परमात्मा' इस प्रकार नाममात्रके भेदसे 'यह क्षेत्रज्ञ परमात्मासे भिन्न है' और 'यह परमात्मा क्षेत्रज्ञसे भिन्न है' इत्यादिक आत्माके भेदका निर्बन्ध अर्थात् आग्रह व हठ निरर्थक है। क्योंकि एक ही यह परमात्मा नामरूपमात्र उपाधिके भेदसे, व कल्पित जीवत्व ईशत्वरूप शब्दकी प्रवृत्तिनिमित्तके भेदसे, अनेक नामोंसे कहा जाता है, और अनेक रूपोंसे भासता है इति। अर्थात् पूर्वोक्त स्वाभाविक भेदको सिद्ध करनेवाला अनुमान पूर्वोक्त श्रुति स्मृतियोंसे बाधित है।

शंका। क्षेत्रज्ञ और परमात्माका यदि अत्यन्त अभेद है तो 'क्षेत्रज्ञः' 'परमात्मा' यह व्यवहारभेद और बुद्धिभेद कैसे होगा। और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मामें संसारिताकी उपपत्ति कैसे होगी। अविद्याकल्पित नामरूप उपाधिके बलसे संसारिता कहना भी असङ्गत है। क्योंकि जीवकी अविद्यासे संसार है ? अथवा परमात्माकी अविद्यासे संसार है ? जीवको नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म स्वरूप होनेसे अविद्यावत्ता अत्यन्ताभेदवादीके मतमें बने नहीं। स्वयं ज्योतिःस्वरूप परमात्मामें भी; सूर्यमें तमकी तरह अविद्याका असम्भव है इसलिये संसारित्व असंसारित्व व अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्वादिरूप विरुद्ध धर्मसंसर्गसे; और बुद्धिव्यपदेशभेदसे; जीव और ईश्वरका भेद भी सत्य ही है ?

समाधान। 'भेदाभेदका एकत्र समावेश नहीं हो सकता है' यह हम प्रथम कह आये हैं। द्वैतदर्शनकी निन्दाके बलसे, और अभेददर्शनकी स्तुतिके बलसे, और पूर्वापर विचारसे अत्यन्त अभेदके प्रतिपादक ही सम्पूर्ण वेदान्त प्रतीत होते हैं। जैसे नाना जलपूरित घट, मणिक व कृपाणादि गत प्रतिबिम्बोंसे सूर्य्यादि बिम्बका वस्तुत अभेद होनेपर भी घटादिक उपाधिके भेदसे बिम्ब प्रतिबिम्बका अथवा प्रतिबिम्बोंका परस्पर भेद व्यवहार होता है। इसी प्रकार शुद्धस्वभाव परमात्मासे जीवोंका अत्यन्त अभेद होने पर भी अनिर्वचनीय अनादि अविद्या उपाधिके भेदसे 'क्षेत्रज्ञः' 'परमात्मा' 'जीव अल्पज्ञ है' 'परमात्मा सर्वज्ञ है' इत्यादिक बुद्धिभेद और व्यवहारभेद होता है। अत एव **'आत्मभेदविषयको निर्बन्धो निरर्थकः। एको ह्यात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयते'** इति भाष्यम्। अर्थ पूर्वोक्त हो है। अविद्या यद्यपि चित्स्वरूप आत्मामें साक्षात् नहीं है। तथापि चित्प्रतिबिम्ब जीवद्वारा है। प्रचण्ड प्रकाश सूर्यमें उलूक परिकल्पित तमकी तरह स्वयंज्योतिः स्वभावमें भी मिथ्या अविद्याका सम्भव हो सकता है।

शंका। जीवाश्रित अविद्या माननेमें अन्योन्याश्रय दोष होगा। क्योंकि

अविद्याके अधीन हो जीवभावकी सिद्धि है। और जीवाधीन जीवाश्रित अविद्याकी सिद्धिके माननेपर उक्त दोष स्पष्ट है।

समाधान। बीजाङ्कुरकी तरह संसारको अनादि होनेसे उक्त दोष नहीं बन सकता है।

और जीव ईश्वरके विभागको अनादि होनेसे ही, "सर्गके आदिमें जीवसृष्टिके न होनेसे ईश्वर किनको उद्देश्य करके व्यर्थ सृष्टिकी रचना करता है? और अपने आत्माको विविध दुःखज्वालाजटिल संसारमें जीवभावसे क्यों पटकता है?" इत्यादिक शंकावोंका भी अवकाश नहीं है। अतः 'जीवः' 'ईश्वरः' यह नाममात्रका ही भेद है वास्तवमें भेद नहीं है।

शंका। यदि जीव और ब्रह्मका भेद नहीं है तो जीवका अपरोक्ष होनेसे ब्रह्मका भी अपरोक्ष होना चाहिये। तथा च **'निहितं गुहायाम्'** इत्यादिक आवृत ब्रह्मस्वरूपका बोधक शास्त्र असङ्गत होगा। और उपदेश व्यर्थ होगा।

समाधान। जैसे बिम्बकी घट, मणिक व कृपाणादिक गुहा होती हैं। तैसे ही ब्रह्मकी भी प्रतिजीव भिन्न २ अविद्या व पञ्चकोश गुहा हैं। जैसे प्रतिबिम्बके भासनेपर तदभिन्न भी बिम्ब गुह्य है। तैसे ही जीवोंके भासनेपर तदभिन्न भी ब्रह्म गुह्य है।

शंका। बिम्ब प्रतिबिम्बका दृष्टान्त विषम है। क्योंकि जिस पुरुषको सूर्यादिकका प्रतिबिम्ब दीखता है सो पुरुष यदि बिम्बकी तरफ दृष्टि करे तो सूर्यादिक बिम्बका भास हो जाता है, प्रकृतमें ऐसा है नहीं।

समाधान। दृष्टान्त विषम नहीं है; क्योंकि प्रकृतमें प्रतिबिम्बरूप जीवका बिम्बरूप ब्रह्म भी श्रवणमनननिदिध्यासनके परिपाकसहित महावाक्यजन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप दृष्टिद्वारा प्रत्यक्ष होता ही है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्'** अर्थ—जो पुरुष सत्य ज्ञान अनन्त रूप ब्रह्मको गुहामें निहित (अन्दर स्थित) जानता है सो पुरुष सर्व कामोंको प्राप्त होता है इति। इस वाक्यसे किसी एक पर्वतादिकी दरीरूप गुफाका अधिकार करके ब्रह्मको 'निहित' नहीं कहा है, किन्तु यावत् समष्टि व्यष्टि पञ्चकोश रूपी गुहाका वर्णन तैत्तिरीयमें स्पष्ट है। अतः प्रतिदेहमें विराजमान श्रोता मन्ता प्राणधारक जीवात्मा अन्तर्यामी परमात्मा ही है।

शंका। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस पूर्व मन्त्रमें ब्रह्मका उपदेश है। और- 'यो वेद निहितं गुहायाम्' यह ब्रह्मसे अन्य जीवका उपदेश है। इसीलिये अग्रिम ग्रन्थसे जीवकी उपाधिरूप पञ्चकोशोंका निरूपण किया है। और इसीलिये पञ्चकोशोंके निरूपणके अन्तमें 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्य करके मन्त्र

प्रतिपाद्य ब्रह्मको आनन्दमय कोशकी अथवा पञ्चकोशोंकी पुच्छ प्रतिष्ठा आधार-रूपसे वर्णन किया है।

समाधान। ब्रह्मसे अन्य गुहामें निहित नहीं है; किन्तु सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप प्रकृत ब्रह्मकी ही गुहामें स्थितिका उपदेश है। इसीलिये **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** अर्थ—'तत्' कहिये सत्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही आकाशादि जगत्को रच करके स्वयं ही जगत् रूपी गुहामें प्रविष्ट होता भया इति। इस अग्रिम तैत्तिरीय श्रुतिमें जगत्स्रष्टाका ही प्रवेशका श्रवण है। जो आश्मरथ्यादि लोग अभेदको स्वीकार नहीं करते हैं। और व्यर्थ भेदविषयक निर्बन्धको करते हैं। सो वेदान्तार्थ ब्रह्माभिन्न आत्मस्वरूपका बाध करते हुये अर्थात् अभेदको स्वीकार न करते हुये मोक्षका द्वाररूप सम्यग् आत्माके अनुभवका ही बाध करते हैं।

और परिणामवादमें ब्रह्मके एकदेशका परिणाम जगत् है? अथवा सर्व ब्रह्मका परिणाम जगत् है? प्रथम पक्षमें ब्रह्मको सावयव होनेसे अनित्यताका प्रसङ्ग होगा। और अन्त्यपक्षमें परिणामके अनन्तर ब्रह्मके अभावका प्रसङ्ग होगा। और ब्रह्मको कार्य व अनित्य होनेसे ब्रह्माश्रित मोक्ष भी परिणामरूप अनित्य ही होगा। यदि च ब्रह्म भिन्न होनेपर भी मोक्षमें नित्यत्व मानें तो व्याघात होगा। क्योंकि ब्रह्मभिन्नमें नित्यत्वका अभाव अनेक श्रुति स्मृतियोंसे सिद्ध है।

शंका। 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः' इत्यादि श्रुतिनिदर्शनके बलसे समुद्र व नदीकी तरह "मोक्षदशामें अभेद, संसारदशामें जीव ईश्वरका भेद" स्वीकार करना उचित है। व्यवहार दशामें प्रत्यक्ष भासमान जीव ईश्वरके भेदका अपलाप नहीं हो सकता है।

समाधान। मोक्षमें नदीसमुद्रके अभेदकी तरह जीवईशका अभेदवादी औडुलोमि प्रष्टव्य है। पटभिन्न घट जैसे किसी तरह पट नहीं हो सकता है। तैसे ही अत्यन्त भिन्न जीव ब्रह्म कैसे हो जायगा? यदि नदीसमुद्रका दृष्टान्त कहें तो असङ्गत है। क्योंकि नदीका स्वरूप औडुलोमिको क्या अभिमत है—क्या अवयवी नदी है? वा जलपरमाणुवोंका समुदाय नदी है? अथवा जल-परमाणुवोंका परस्पर संयोगरूप आकारविशेष नदी शब्दका अर्थ है? प्रथम और तृतीय पक्षमें समुद्रप्रवेशादिसे नदीनाशकी तरह, मोक्षमें जीवके स्वरूपका अभाव प्राप्त होगा। द्वितीय पक्षमें नदीका समुद्रमें प्रवेश हो जानेपर भी नदी-परमाणुवोंका व समुद्रपरमाणुवोंका पूर्वकी तरह परस्पर भेद विद्यमान ही है। तथा च इस नदीके दृष्टान्तसे मोक्षमें भी जीवका भेद ही रहेगा, मोक्षदशामें अभेदका कथन असङ्गत होगा।

अत एव **'स यथा सैंधवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत' 'एवं वा अरे'** (बृ० २।१२) अर्थ—जैसे समुद्रजलमें प्रक्षिप्त लवणका खिल्य (खण्ड)

जलरूप ही हो जाता है। ऐसे ही आनन्द स्वरूप ब्रह्मसमुद्रमें ज्ञानध्यानादि करके निमग्न जीव भी ब्रह्मरूप ही हो जाता है इति। जैसे विलयके अनन्तर लवणका घनीभाव अशक्य और असम्भावित है। तैसे ही मोक्षके अनन्तर ब्रह्मभावापन्न जीवका भी पुनर्जीवभाव असम्भावित है। सैंधवखिल्यका समुद्रके साथ अभेदकी तरह 'जीवका ब्रह्मके साथ अभेद' मोक्षका स्वरूप है।

यथा लवणकी पुत्तिका अन्त गई थी लेन।
सिन्धुरूपमें सो मिली लौट कहे को बैन॥

यह भी मोक्षका स्वरूपवर्णन असङ्गत है। क्योंकि विलयके अनन्तर भो लवणके परमाणुओंका जलपरमाणुवोंके साथ परस्पर भेदकी विद्यमानताकी तरह जीव व ब्रह्मके भेदमें भी विद्यमानताका निरास अशक्य होगा। अतः जीव ब्रह्मका भेद कल्पनामात्र है।

शंका। नदीकी तरह अथवा सैंधवखिल्यकी तरह जीवका स्वरूप सावयव नहीं है, किन्तु चिद्रूप परब्रह्मका अंश जीव है। अत एव गीता—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' '**ईश्वर अंश जीव अविनाशी**' इत्यादि। निष्कल श्रुति विरोधसे सांशत्व ब्रह्ममें नहीं बन सकता है यह कथन असङ्गत है। क्योंकि '**निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्**' यहां पर कला शब्द करके अवयवकी विवक्षा है। 'ब्रह्म अवयवरहित है' यह 'निष्कल' श्रुतिका अर्थ है। अंश नाम भागका है। नभका कर्णनेमिमण्डलावच्छिन्न शब्दश्रवणयोग्य नभरूप श्रोत्रकी तरह; और वायुका शरीरावच्छिन्न पञ्चवृत्तिवाले प्राणकी तरह; ब्रह्मका भाग सत्य व कूटस्थ ही जीवका स्वरूप है। यही काशकृत्स्न आचार्यको भी अभिमत है। निरवच्छिन्न ब्रह्म स्वरूप जीव नहीं है।

समाधान। नभका अंश वा भाग नभ नहीं बन सकता है। कर्णनेमिअवच्छिन्न नभको यदि नभका अंश मानें तो भी कर्णनेमि व तिसके संयोगकी सत्ता होनेपर आकाशमें अंश (श्रोत्र) के व्यवहारका, और न होने पर व्यवहारके अभावका, अनुभव होनेसे; कर्णनेमि अथवा तत्संयोगको ही अंश कहना होगा। परन्तु कर्णनेमिमण्डलको भी अत्यन्त भिन्न होनेसे नभका अंश नहीं कह सकते हैं। अन्यथा घट भी पटका अंश होना चाहिये।

यद्यपि मण्डलसंयोगका नभके साथ तादात्म्य होनेसे नभसे अत्यन्त भेद नहीं है। तथापि मण्डलसंयोगको भी नभका अंश नहीं कह सकते हैं। अन्यथा 'संयोग व्याप्यवृत्ति है' इस पक्षमें नभको सर्वत्र होनेसे मण्डलसंयोगकी भी सर्वत्र प्रतीति होनी चाहिये। निरवयववृत्ति संयोगमें अव्याप्यवृत्तिताका असम्भव है।

यद्यपि मण्डलसंयोग व्याप्यवृत्ति ही है। तथापि संयोगप्रत्यक्षमें प्रतिसम्बन्धी प्रत्यक्षको हेतुता होनेसे, सर्वत्र संयोगका प्रत्यक्ष नहीं होता है? यह

भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि प्रतिसम्बन्धी प्रत्यक्षके अभावसे संयोग-प्रत्यक्षके अभाव होनेपर भी; शब्द श्रवणके योग्य मण्डलसंयोगकी व्याप्तिको सर्वत्र विद्यमान होनेसे सर्वत्र शब्दका श्रवण होना चाहिये।

और अत्यन्त अभिन्न भी अंशको नहीं कह सकते हैं। क्योंकि अत्यन्त अभेदमें अंशांशिभाव बने नहीं। विरोध होनेसे भिन्नाभिन्न भी अंश नहीं बन सकता है। अतः अविद्यापरिकल्पित ही नभका अंश स्वीकार करना चाहिये यही युक्त है।

शंका। कल्पित पदार्थका कल्पना मात्र ही जीवन होनेसे कल्पनाके अभाव-कालमें असत् श्रोत्रसे शब्दका श्रवणरूप कार्य नहीं होना चाहिये। क्योंकि कल्पनाके अभावकालमें रज्जुसर्पसे भयकम्पादिक नहीं देखा है।

समाधान। शब्दके श्रवणकालमें श्रोत्रकी कल्पना अवश्य है। क्योंकि कारणके विना कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यद्यपि श्रवणलिङ्गक अनुमान-जन्य श्रोत्रकी कल्पना श्रवणके उत्तरभावी हैं। तथापि पूर्व पूर्व शब्दश्रवणलिङ्गक अनुमानजन्य अनुमितिरूप कल्पनासिद्ध श्रोत्रसे उत्तरोत्तर शब्दश्रवणरूप कार्यकी सिद्धि बन सकती है। श्रोत्रकल्पनारूप स्थूलवृत्तिके अभावकालमें भी संस्काररूप सूक्ष्म श्रोत्रकल्पनाकी अनुवृत्ति बन सकती है। तथा च श्रोत्रविषयक भ्रम व तत्संस्कार ही श्रोत्रकी सत्ता है। वास्तव स्वतन्त्र श्रोत्रकी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार यावत् प्रपञ्चकी स्वरूप सत्ता है नहीं। किन्तु 'भ्रम तत्संस्कार ही' आकाशादि प्रपञ्चकी सत्ता है। पूर्व पूर्व भ्रम व तत्संस्कारसे उत्तरोत्तर प्रपञ्चकी कल्पना है। भ्रमकल्पित वियदादिक ही सृष्टि आदिक वाक्योंके विषय हैं। अविद्यादिक भेद-प्रपञ्च केवल भ्रममात्र है। **'एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति' 'स एष नेति नेति'** इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यसे अविद्यादिशून्य आत्मतत्त्व ही परमार्थ सत्य है। आत्मासे व्यतिरिक्त अविद्यादि कुछ है नहीं।

वस्तुतः अविद्यामें प्रमाणके अभाव होनेसे तन्मूलक प्रपञ्चमें भी प्रमाणका असत्त्व है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे अविद्या नहीं दीखती है। गोमहिषादिकी तरह अविद्याको किसीने नहीं देखा है। क्योंकि शब्दादि विषय ही प्रत्यक्ष करके भासते हैं। एवं अनुमान भी वास्तव अविद्याको सिद्ध करनेमें असमर्थ है। शब्दसे भी अविद्याकी सिद्धि नहीं बन सकती है। प्रत्यक्षादिके अगोचर होनेसे लौकिक शब्दगोचरता भी बने नहीं। **'तत्तु समन्वयात्'** इत्यादि सूत्रप्रामाण्यसे वैदिक शब्दप्रतिपाद्यता भी ब्रह्मभिन्न अविद्यादिकमें बने नहीं। अविद्याके सदृश अन्य पदार्थके असम्भवसे उपमानविषयता भी अविद्यामें बने नहीं। अद्वैत मतमें उप-पाद्यका अभाव होनेसे अर्थापत्तिका भी सम्भव नहीं है। अभावमात्र गोचर होनेसे अनुपलब्धिकी गोचरता भी भावरूप अविद्यामें बने नहीं।

शंका। 'अहं अज्ञ' इत्यादिक प्रत्यक्ष प्रमाणसे अविद्या सिद्ध है। एवं सुखदु:खमोहात्मक विचित्र जगद्रूप कार्यलिङ्गक अनुमानसे भी अविद्याकी सिद्धि बन सकती है। **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'** इत्यादि आगम प्रमाणसे भी अविद्याकी सिद्धि स्पष्ट है। **'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'** इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यसे अविद्या, माया, प्रकृति, अज्ञान यह पर्य्याय शब्द हैं। एवं अलौकिक नटराजकी मायाको लौकिक नटकी मायाके सदृश होनेसे उपमान प्रमाणकी विषयता भी स्पष्ट है। देहादिक विचित्र रचनाको कारणके विना अनुपपन्न होनेसे अर्थापत्ति प्रमाणका भी सम्भव बन सकता है। अद्वितीय शुद्ध आत्मामें कारणताके असम्भवसे अन्यथा उपपत्ति भी बने नहीं। और अविद्याको ज्ञानाभावरूपता पक्षमें **'आत्मज्ञानं यदि मयि स्यात् तदोपलभ्येत नोपलभ्यते तस्मान्नास्ति'** अर्थ—आत्मज्ञान मेरेमें यदि होता तो उपलब्ध होता; प्रतीत नहीं होता है, अतः 'ज्ञानाभावरूपाज्ञानवानहम्' इस अनुपलब्धिजन्य साक्षात्कारकी विषयता भी अज्ञानमें बन सकती है इति।

अत एव—**वदन्त्यवच्छेदकरूपिणीमिमां स्वरूपसम्बन्धविशेष एव वा। परामिमामाहुः परे विपश्चितः प्रतीतिसिद्धां प्रतियोगितामिव ॥** अर्थ—इस अविद्याको कोई आत्मामें प्रपञ्चकी कारणतावच्छेदकरूप कहते हैं। कोई स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप कहते हैं। और अनुभवसिद्ध प्रतियोगितादिककी तरह अतिरिक्त पदार्थ ही इस अविद्याको कोई कहते हैं इति। तथा च सर्व प्रमाणसिद्ध अविद्याको सत्य होनेसे तन्मूलक प्रपञ्च भी सत्य ही है।

समाधान। 'अहं अज्ञः' इत्यादिक प्रत्यक्षसे अविद्याकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुमें जिज्ञासा सन्देह और विवाद नहीं होता है। प्रत्यक्षसिद्ध महिषादिकोंमें किसीका सन्देह विवाद है नहीं। एवं प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुविषयक विशेष जिज्ञासाका भी असम्भव स्पष्ट है।

शंका। प्रत्यक्षसिद्ध शब्दमें नित्यत्वेन अनित्यत्वेन जिज्ञासा, सन्देह व विवाद मीमांसक तार्किकादिकोंमें जैसे देखा गया है; तैसे ही प्रत्यक्षसिद्ध अविद्यामें भी जिज्ञासादिका सम्भव बन सकता है?

समाधान। जिस रूपसे जिसका प्रत्यक्ष होता है तिस रूपसे तिस पदार्थमें जिज्ञासादिक नहीं होते हैं। जैसे गोत्वादिकरूपसे प्रत्यक्षसिद्ध गोमें जिज्ञासादिका अभाव अनुभवसिद्ध है। प्रत्यक्ष गोमें 'गो कौन है' ऐसी जिज्ञासा, 'गो है कि नहीं' ऐसा सन्देह और विवाद विवेकियोंको असिद्ध है। तथाच 'अहमज्ञः' 'अज्ञानवानहम्' इस प्रतीतिमें अज्ञानत्वेन अज्ञानका यदि प्रत्यक्ष हो तो 'अज्ञान कौन है' यह जिज्ञासा, 'अज्ञान है कि नहीं' यह सन्देह, और विवाद विवेकियोंको नहीं होना चाहिये।

शंका । मन्द अन्धकारमें 'अयं सर्पः' इस प्रतीति करके सिद्ध सर्पविषयक जिज्ञासा, सन्देह व विवादकी तरह 'अहमज्ञः' इस प्रतीति करके सिद्ध अज्ञानमें भी जिज्ञासादिका सम्भव हो सकता है।

समाधान । 'अयं सर्पः' यह प्रतीति प्रमा है? वा भ्रम है? प्रमारूप 'अयं सर्पः' इस प्रत्यक्ष स्थलमें जिज्ञासादिक हैं नहीं। अतः 'अहमज्ञः' इस प्रतीतिको प्रमारूप प्रत्यक्ष स्वीकार पक्षमें अज्ञानमें भी जिज्ञासादिक बने नहीं। भ्रमरूपता पक्षमें 'अहमज्ञः' यह प्रत्यक्ष भी भ्रम ही होगा। अब इस अर्थको अनुमानसे स्पष्ट करते हैं—**'अहमज्ञः' इति प्रत्यक्षप्रतीतिः, भ्रमरूपा, जिज्ञासासन्देहविवादगोचरगोचरत्वात्, 'अयं सर्पः' इति भ्रमवत् ।** अर्थ—जैसे दृष्टान्तरूप 'अयं सर्पः' इस भ्रमरूप प्रत्यक्ष प्रतीतिमें जिज्ञासासन्देहविवादगोचरगोचरत्वरूप हेतु है। और भ्रमरूपत्व-साध्य भी है। और जिस प्रत्यक्ष प्रतीतिमें भ्रमरूपता नहीं है उसमें जिज्ञासासन्देहविवाद-विषयविषयकत्व भी नहीं है, 'अयं सर्पः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमावत् इति। इत्यादि अनुमान करके 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रत्यक्ष भ्रमरूप सिद्ध हुवा।

और सुखदुःखमोहात्मक जगद्रूप कार्यलिङ्गक अनुमानसे भी अविद्याकी सिद्धि नहीं बन सकती है। क्योंकि **'प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् जड़त्वात् परिच्छिन्नत्वात्'**। अर्थ—जहां २ दृश्यत्व जड़त्व परिच्छिन्नत्व है तहां २ मिथ्यात्व है। शुक्तिरजतवत् स्वप्नप्रपञ्चवत्। जो दृश्यजड़परिच्छिन्न नहीं है सो मिथ्या भी नहीं है। ब्रह्मवत्। यह जगत् भी दृश्यजड़परिच्छिन्न है तस्मात् मिथ्या है इति। इत्यादि अनुमानसे; और 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे; जगत्में मिथ्यात्वका निश्चय होनेसे; मिथ्या कार्यलिङ्गक अनुमानसे जन्य अनुमिति भी भ्रमरूप ही होवेगी। वाष्पमें धूमभ्रमके अनन्तर जायमान अग्निकी अनुमितिसे जैसे अग्निकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार आत्मामें कार्यप्रपञ्चभ्रमके अनन्तर जायमान कारणकी अनुमितिसे भी वस्तुतः कारणरूप अविद्याकी सिद्धि नहीं बन सकती है। मिथ्या कार्यभ्रमसे मिथ्या कारणभ्रमके होनेपर भी; वस्तुतः कार्यकारणभावके अभावसे अविद्याकी सिद्धि दुर्घट है।

शंका । जैसे पर्वतमें वाष्परूप धूमके निश्चयसे जन्य वह्निकी अनुमितिके अनन्तर प्रवृत्त पुरुषको कदाचित् पर्वतमें वास्तव अग्निकी उपलब्धि हो जाती है। इसी प्रकार आत्मामें भी वास्तव अविद्याकी उपलब्धि बन सकती है।

समाधान । वस्तुतः वह्निमत्पर्वतमें कदाचित् उक्त प्रकारके सम्भव होनेपर भी, अनुमान प्रमाणसे उक्त स्थलमें अग्निकी सिद्धि नहीं होती है। किन्तु भ्रान्ति-रूप अनुमितिके अनन्तर प्रवृत्तपुरुषीयप्रत्यक्ष प्रमाणसे ही अग्निकी सिद्धि होती है। इसीलिये बाधकालमें उक्त अनुमितिसे वह्निकी सिद्धि नहीं होती है। इसी प्रकारसे जबतक कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्यामें सिद्ध नहीं होगा; तबतक

अविद्याकी सिद्धि दुर्घट है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्यादिक श्रुतिविरोधसे भी आत्मव्यतिरिक्त अविद्यादिकी सिद्धि नहीं बन सकती है। 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १।३।३) अर्थ—जैमिनि ऋषि कहते हैं कि-श्रुत्यादि प्रमाणान्तरके विरोध होनेपर अनुमानसे अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती है। किन्तु विरोधाभाव होनेसे अनुमान अर्थका साधक होता है इति। अत एव आगम प्रमाणसे भी अविद्याकी सिद्धि नहीं बन सकती है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादिक शास्त्र भी 'नेति नेति' इत्यादि कार्यकारणनिषेधरूप अपवादशास्त्रका विषय जो निषेध है। तिसके प्रतियोगीका समर्पक है। अर्थात् अनुवादक है।

शंका। प्रमाणान्तर प्राप्तका अनुवाद होता है। जैसे श्रुतिप्रतिपादित अथका स्मृति अनुवाद करती हैं। अविद्याको प्रमाणान्तर करके अप्राप्त होनेसे 'मायां तु प्रकृतिम्' इत्यादिक शास्त्रको अनुवादकता नहीं बन सकती है। और प्रमाणान्तरप्राप्तिके स्वीकार पक्षमें प्रमाणके विद्यमान होनेसे अविद्यामें अप्रमाणिकत्वकी असिद्धि होगी। और 'मायां तु' इत्यादि वेदवाक्योंमें अनुवादकत्वेन अप्रमाणता होगी।

समाधान। 'प्राप्तका अनुवाद होता है' यह नियम है। प्रमाणसे प्राप्तिका नियम नहीं है। क्योंकि रज्जुसर्पस्थलमें भ्रान्त पुरुषके प्रति 'यं सर्पं पश्यसि नासौ सर्पः' अर्थात् 'तू जिसको सर्प समझता है सो सर्प नहीं है' यह अधिष्ठानसाक्षात्कारवाले पुरुषका वाक्य जैसे प्रत्यक्षभ्रान्तिसिद्ध सर्पका अनुवाद करके असत्त्वका विधान करता है। इसी प्रकार वेद भगवान् भी सांख्यवादी करके जगत्कारणरूपसे परिकल्पित अनुमानाभासजन्य भ्रान्ति करके सिद्ध माया प्रकृतिका 'मायां तु प्रकृतिम्' इत्यादि वाक्यसे अनुवाद करके 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे अत्यन्त असत्त्वको बोधन करता है। अनुवादद्वारा परम तात्पर्यकी विषयताको परब्रह्ममें होनेसे उक्त वाक्यकी अप्रामाण्य शंका भी नहीं बन सकती है।

इसी प्रकार 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि उत्पत्ति, स्थिति, व लयके प्रतिपादक शास्त्रका, और तिस २ प्रक्रियाके प्रतिपादक शास्त्रका, और शमादि साधनोंका, परस्पर कार्यकारणभावके प्रतिपादक शास्त्रका भी परम तात्पर्यका विषय परब्रह्म ही है। अत ब्रह्म आत्मामें ही प्रमाण है। अविद्या, विद्यमान लौकिक भ्रान्तिसिद्ध उत्पत्ति आदिक पदार्थोंमें भी ज्ञानके पूर्व २ व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक सत्त्वको लेकर अवान्तर तात्पर्यकी विषयताको विद्यमान होनेसे शास्त्र प्रमाण कहा जाता है। परन्तु मुख्य प्रामाण्य ब्रह्ममें ही है।

इसी प्रकार अविद्यासे विद्यमान कार्यकारणभावको लेकर कर्ता, कर्म व

फलादिका प्रतिपादक कर्मकाण्डका, और अविद्याप्राप्त उपास्यउपासकभावको लेकर उपासना, तथा तिस २ फलादिका प्रतिपादक उपासनाकाण्डका; भी परम तात्पर्य-का विषय पर ब्रह्म ही है। अन्तःकरणगत मलविक्षेपकी निवृत्तिके लिये कर्म और उपासनामें भी अवान्तर तात्पर्यके होनेसे; कर्म और उपासनामें प्रमाण कहा जाता है। तथाच 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'सर्वे वेदा यत्पदमाम-नन्ति' 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादि शास्त्रसे निखिल वेदका मुख्य प्रामाण्य निर-वच्छिन्न शुद्ध अद्वितीयात्मामें ही हैं। अत एव प्रत्यक्षादि मानान्तरसिद्ध अर्थका अनुवादक लौकिक शब्द भी अविद्यामें प्रमाण नहीं बन सकता है।

इसी प्रकार लौकिक नटमायाको उपमान करके महामायाकी सिद्धि भी अशक्य है। महामायाकी सिद्धिके विना लौकिक नटमायाकी सिद्धि ही नहीं बन सकती है। क्योंकि महामायाजन्य ही लौकिक नटमाया है। महामायाकी सिद्धिसे लौकिक मायाकी सिद्धि, और लौकिक मायाके उपमानसे महामायाकी सिद्धि माननेमें अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है।

शंका। लौकिक मायादिक प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, प्रत्यक्ष सिद्धिमें विवाद बने नहीं; तथा च प्रत्यक्षसिद्ध लौकिक मायाके उपमानसे महामायाकी सिद्धि बन सकती है। अतः परस्पराश्रय दोष असङ्गत है।

समाधान। यद्यपि यह वार्ता सत्य है, लौकिक मायादिक प्रत्यक्षसिद्ध हैं; तथापि "यह प्रत्यक्ष प्रमाण है वा प्रमाणाभास है" यही परीक्षा प्रकृतमें प्रस्तुत है। तथाच महामायाकी सिद्धिके विना निखिल मायिक अनात्म वस्तुकी असिद्धि होनेसे लौकिक माया स्वतः असिद्ध हुई। स्वमाताकी माता नहीं बन सकती है।

शंका। लौकिक माया करके महामायाकी उत्पत्ति मत होवे। परन्तु अनुमापकत्वरूप साधकता लौकिक मायामें बन सकती है। एवं उपमानजन्य ज्ञान-विषयता अथवा देहादि प्रपञ्चकी विचित्र रचनानुपपत्तिसे जन्य ज्ञानविषयता भी अज्ञानमें बन सकती है।

समाधान। अनुमान व उपमानउपमेयभावको और प्रपञ्चरचनानुपपत्तिको मायिक होनेसे मायासाधकत्व नहीं बन सकता है। और मायाको अभावरूपताके अनङ्गीकारसे अनुपलब्धि आदिक यावत् प्रमाणादिक मायिक पदार्थोंसे मायाकी उत्पत्ति, ज्ञप्ति व स्थिति रूप सिद्धि नहीं बन सकती है। माया और तत्कार्यका अभेद होनेसे स्वको स्वसाधकता बने नहीं। और मायासाधकत्वेन अभिमत लक्षणप्रमाणको भी स्वसिद्धिमें लक्षणप्रमाणकी अपेक्षा होनेसे अनवस्थादिक दोष होवेंगे।

किञ्च मिथ्याप्रपञ्चरचनानुपपत्ति आदिकसे यदि कारणकी कल्पना होगी तो स्वसदृश ही कारणकी कल्पना होगी। तथा च मिथ्या परिच्छिन्न परतन्त्र

विनाशी कारणकी ही सिद्धि होगी। सत्य विभु स्वतन्त्र अविनाशी प्रधानकी सिद्धिको किसी प्रकारसे भी सांख्य दुर्मति नहीं कर सकेगा। एवं च वर्तमान भ्रमकल्पनाका मूल संस्कारको अवश्य क्लृप्त होनेसे तद्भिन्न अविद्यामें कोई प्रमाण है नहीं।

शंका। भ्रम व भ्रमके संस्कारोंकी स्वतन्त्र स्वरूपसत्ता है? वा नहीं? प्रथम पक्षमें भ्रम व भ्रमके संस्कारोंकी तरह विषयकी भी स्वतन्त्र स्वरूपसत्ता माननी चाहिये। द्वितीय पक्षमें भ्रमस्वरूपकी भी असिद्धि होनेसे व्यवहारका व्याघात होगा।

समाधान। भ्रमविषयक भ्रमान्तर ही भ्रमविषयक व्यवहारका प्रयोजक है। अर्थात् उत्तर २ भ्रमविषयकभ्रम ही पूर्व २ भ्रमकी सत्ता है। भ्रमविषयक भ्रमके अभावकालमें भी स्वसमानविषयक पूर्व २ भ्रम ही उत्तर २ भ्रमकी सत्ता है। पूर्व २ भ्रमको विद्यमान न होनेपर भी तिसके संस्कार विद्यमान हैं। और संस्कारविषयक व्यवहारमें भी शब्दजन्य अथवा अनुमानजन्य संस्कारविषयक भ्रम हेतु है। भ्रमाभावकालमें भी संस्कारविषयक संस्कारकी अनुवृत्ति विद्यमान है। तत्त्वज्ञान व तत्संस्कारचक्रके विना भ्रम व तत्संस्काररूप अविद्यानक्रका अत्यन्त उच्छेद् बने नहीं।

शंका। "उत्तरोत्तर भ्रमविषयकभ्रम ही पूर्व पूर्व भ्रमकी सत्ता है" इस पक्षमें ऊर्ध्वगामिनी अनवस्था होगी। कहीं विश्रान्ति स्वीकार करनेपर अन्त्यकी असिद्धिसे पूर्व पूर्व प्रवाहकी असत्त्वापत्ति होगी। तथा च सर्व प्रमाण प्रमेय रूप संसारकी असिद्धि हो जायगी।

समाधान। स्वतःसिद्ध अद्वैत आत्मवादीको संसारकी असिद्धि इष्ट ही है। तीन चार कोटिसे आगे ज्ञानधाराका अननुसरण (अस्वीकार) होनेसे अनवस्थाका भी परिहार हो सकता है। और विद्यमान प्रपञ्चभ्रमके हेतु यदि संस्कार हैं तो संस्कारोंका हेतु कौन है? पूर्व भ्रमको यदि संस्कारोंका हेतु कहैं तो इस क्रमसे अधोगामिनी अनवस्था होगी। सर्वसे प्रथम संस्कारमें हेतुधाराकी विश्रान्ति मान करके व्यवस्था करनेमें भी तादृश संस्कारकी उत्पत्तिका प्रश्न विद्यमान ही रहेगा। यदि भ्रम व तत्संस्कारप्रवाहको बीजाङ्कुरकी तरह अनादि मानें तो भी प्रवाह अनादि नहीं बन सकता है। क्योंकी तत्तद्व्यक्तिसे प्रवाह कोई अतिरिक्त वस्तु है नहीं। एक एक व्यक्तिमें अनादिताका बाध है। इत्यादिक अनुपपत्ति कार्यकारणभाव व अंशांशिभावादि प्रपञ्चमें असम्भाव्यत्वरूप मिथ्यात्व व मायामयत्वको सूचन करती हैं। क्योंकि अनुपपद्यमानत्व ही मायाका लक्षण है। और सत्य अंशवादीके मतमें सत्य अंशांशिभावका ज्ञानसे नाश नहीं हो सकेगा। तथा च ज्ञानसाध्य मोक्षकी असिद्धि होगी।

शंका। कर्मसाध्य अथवा उपासनासाध्य मोक्ष क्यों न मान लिया जाय?

कर्मोपासनाजन्य मोक्षको कृतक होनेसे अनित्यत्वकी आपत्ति नहीं बन सकती है। अन्यथा सिद्धान्तपक्षमें भी मोक्षको ज्ञानसाध्य होनेसे अनित्यत्वापत्ति तुल्य होगी। किञ्च कर्मसाध्य मोक्षको बन्धध्वंसरूप होनेसे प्रतियोगीउन्मज्जनके भयसे ध्वंसका ध्वंस बने नहीं। तथाच कृतक होनेपर भी मोक्षमें अनित्यत्वकी आपत्तिका असम्भव है।

समाधान। 'न्यायेन च न संगच्छन्ते' इति भाष्यम्। अर्थात् 'यज्जन्यं तदनित्यं' इस न्याय करके कृतकमें नित्यत्व बाधित है। सिद्धान्तमें नित्य निरवच्छिन्न अनावृत चिदानन्द स्वरूप ही मोक्ष हैं। मोक्षमें जन्यत्वका स्वीकार है नहीं। एतादृश आत्मस्वरूपविषयक वृत्तिजननमें ही शास्त्र चरितार्थ हो जाता है। अनवच्छिन्नचिदानन्दका आविर्भाव ही वृत्तिका फल है। बन्धध्वंस वृत्तिका फल नहीं है। अन्यथा ध्वंसके ध्वंस होनेपर ध्वस्तकी पुनरावृत्ति हो जायगी। तथा च पुनरावृत्तिनिषेधक श्रुतिका विरोध होगा। भयसे प्रमाणप्राप्त अनित्यत्वका अभाव बने नहीं।

शंका। ध्वंसके ध्वंसको प्रतियोगिरूपताके अनङ्गीकारसे प्रतियोगिका उन्मज्जन नहीं बन सकता है। अथवा मोक्षदशामें कारणसामग्रीके अभावसे ध्वंसका ध्वंस नहीं बन सकता है।

समाधान। **'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता'।** अर्थात्— 'अभावका अभाव प्रतियोगिरूप होता है' इस वचनका विरोध होगा। ध्वंसनित्यत्ववादी द्वैतभक्तके मतमें मोक्षमें द्वितीयके विद्यमान होनेसे नाशसामग्रीका अभाव अशक्य होगा। ध्वंसधाराकी आपत्ति होगी। अनुभवविरुद्ध अप्रामाणिक अनन्त ध्वंसोंकी कल्पना प्राप्त होगी।

अथवा—**'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'।** अर्थ— कल्पित वस्तुका जो ध्वंस है; सो अधिष्ठानमात्र ही है; अधिष्ठानसे पृथक् नहीं है। क्योंकि बाधके उत्तर अधिष्ठानमात्र ही अवशिष्ट रहता है। रज्जुमें सर्पभ्रमबाधके अनन्तर 'अत्र सर्पो नष्टः' ऐसी प्रतीति नहीं होती है इति। इस सिद्धान्तके अनुसार कल्पितनाशको अधिष्ठानरूप भी मान सकते हैं।

वस्तुतः भावाभावका अभेदके असम्भव होनेसे बन्धध्वंसका स्वीकार ही अनुचित है। किन्तु—'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिक शास्त्रसें बन्धका अत्यन्ताभाव है।

अत एव गौडपादकारिका—**'प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥'** अर्थ—यदि प्रपञ्च विद्यमान होता तो ध्वंसकी सम्भावना होती। अर्थात् अविद्यमान पदार्थका ध्वंस नहीं बन सकता है। मायामात्र ही द्वैत है। वस्तुतः द्वितीय वस्तु है नहीं, अद्वैत ही परमार्थ है इति। और 'आकाशे रूपं

नास्ति' इत्यादिक स्थलमें भी सप्तम्यन्तार्थवृत्ति नञर्थमें अत्यन्ताभावत्व ही देखा गया है ।

शंका । आकाशमें रहनेवाला रूपात्यन्ताभावका प्रतियोगी रूप जैसे पृथिवी आदिकोंमें प्रसिद्ध हैं। ऐसे ही यदि आत्मासे अन्यत्र कहीं प्रपञ्च प्रसिद्ध होता । तो आत्मामें प्रपञ्चके अत्यन्ताभावको कह सकते । परन्तु वेदान्त सिद्धान्तमें आत्मासे अन्यत्र कहीं प्रपञ्च है नहीं । अतः प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव आत्मामें नहीं बन सकता है ?

समाधान । 'नेदं रजतम्' इत्यादि स्थलमें अत्यन्त असत् रजतप्रतियोगिक शुक्त्यनुयोगिक तादात्म्यके निषेधकी तरह अत्यन्त असत्प्रतियोगिक बन्धात्यन्ताभावका ज्ञापक शास्त्र है। अत्यन्त असत्प्रतियोगिक अत्यन्ताभावको अत्यन्त असत् होनेसे द्वैतापत्ति भी नहीं होती है। तथा च वास्तव भागरूप वा अवयवरूप अथवा अंशरूप जीवका स्वरूप नहीं है। किन्तु अद्वितीय निरवच्छिन्न अनावृत आनन्द स्वरूप ही जीव है। स्वरूपमें ही जीवत्व अंशत्व ईशत्वादिक निखिल द्वैताभास अध्यस्त है। अत्यन्त असत् है। अत्यन्त असत् शुक्तिरजतके तादात्म्यकी तरह व्यवहारोपपादकता भी अत्यन्त असत्में बन सकती है। तथा च सर्व वेदान्तका समन्वय सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य ब्रह्मात्मामें सिद्ध हुवा ॥ २२ ॥ इति वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

अर्थ – १ प्रकृतिः, २ च, ३ प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । इस सूत्रमें तीन पद हैं । 'तदैक्षत' इत्यादि श्रुतिके बलसे जैसे निमित्त कारण ब्रह्म है । तैसे ही उपादान कारण भी ब्रह्म ही है । अन्यथा एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाका, और कार्यकारणके अभेदके बोधन करनेवाले मृत्पिण्डादिक दृष्टान्तोंका बाध होगा इति ।

शंका । जगज्जन्मादि लक्षण करके लक्षित ब्रह्ममें सम्पूर्ण वेदान्तोंका समन्वय निरूपण कर दिया है । अतः समन्वयाध्ययन समाप्त हो गया है। अब अवशेष क्या रह गया है। जिसके वास्ते प्रकृत्यधिकरणका आरम्भ है अर्थात् यह अधिकरण व्यर्थ है ?

समाधान । यद्यपि 'जगत्कारण ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय कह चुके हैं' यह वार्ता सत्य है । तथापि "जैसे अभ्युदयका हेतु धर्म जिज्ञास्य है। इसी प्रकार मोक्षका हेतु ब्रह्म भी जिज्ञास्य है" यह प्रथम पादके प्रथम सूत्रमें कह आये हैं। जिज्ञास्य ब्रह्म कौन है ? इस जिज्ञासाकी शान्तिके लिये 'जन्माद्यस्य यतः' इस द्वितीय सूत्र करके जगत्कारणत्व ब्रह्मका लक्षण कहा है। लोकमें कारणत्व दो प्रकारका देखा गया है। एक निमित्तत्वरूप और दूसरा उपादानत्वरूप। ब्रह्म निमित्त कारण है ? अथवा उपादान कारण है ? अथवा उभयरूप है ?

यदि ब्रह्ममें निमित्त कारणत्वका ही स्वीकार हो तो, जगत्का उपादान स्वीकृत है? वा नहीं? स्वीकार पक्षमें सांख्यस्मृतिसिद्ध प्रधानका ही स्वीकार करना पड़ेगा। तथा च '**जन्माद्यस्य यतः**' यह ब्रह्मका लक्षण प्रधानमें अतिव्याप्त हो गया। अस्वीकार पक्ष असङ्गत है क्योंकि–'**यत्र भावत्वे सति कार्यत्वं तत्र सोपादानकत्वम्**'। अर्थ–जो भावकार्य है सो उपादानवाला है जैसे घटादिक इति। इस नियमके बलसे भावकार्य गगनादिकोंका उपादान अवश्य मानना पड़ेगा। और उपादान कारणका अधिष्ठाता ही निमित्त होता है। जैसे घटोपादान मृत्पिण्डका अधिष्ठाता कुलाल है तद्वत्। उपादानके अस्वीकार पक्षमें निमित्तकी भी असिद्धि होगी। तथा च 'जन्माद्यस्य यतः' इस कारणत्वरुप लक्षणका असम्भव होगा।

और यदि ब्रह्म जगत्का उपादान कारण ही केवल माना जाय, निमित्त अन्य माना जाय तो भी–ब्रह्मलक्षण कारणत्वकी अन्यमें अतिव्याप्ति होगी। ब्रह्ममें परतन्त्रता जड़ता परिणामित्व परिच्छिन्नत्वादिकी आपत्ति होगी। ब्रह्मसे अन्य निमित्तका निरूपण अशक्य होगा।

और निमित्तोपादान उभयरूपतापक्ष निर्दोष है। क्योंकि इस पक्षमें प्रधानके अस्वीकारसे और ब्रह्मसे अन्य निमित्तके अस्वीकारसे अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है। और परतन्त्रत्वादिकी आपत्ति भी सर्व स्वरूप स्वतन्त्र ब्रह्ममें नहीं आती है। अभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूप लक्षणको अद्वितीयत्व स्वतन्त्रत्व निरवच्छिन्नत्वादिका व्याघातक न होनेसे लक्ष्यमें अव्याप्तिरूप दोष भी नहीं है। लक्ष्य व्याघातक लक्षणका, लक्ष्यवृत्तिताके सम्भव होनेपर भी समन्वय बने नहीं। यदि लक्ष्यका समर्पक ब्रह्म शब्द करके उपस्थित 'वस्तुपरिच्छेदशून्यत्व' रूप लक्ष्यके आकारसे विरुद्ध आकारका उपस्थापक कारणत्वरूप लक्षण होता; तो लक्ष्यवृत्तिताके सम्भव होनेपर भी लक्ष्यके आकारका विरोधी होनेसे अव्याप्ति दोष करके दुष्ट ही होता।

इस अधिकरणको सिद्धवत् करके ही जन्मादि सूत्रमें उभयकारणत्वका व्यवहार है। यद्यपि तिसके अनन्तर ही इस अधिकरणका आरम्भ करना था। तथापि ब्रह्ममें निर्णीत तात्पर्य्यवाले वेदान्तों करके; अग्रिम निमित्तत्वमात्रके साधक अनुमानवृन्दके बाधकी सुकरताके लिये समन्वयके अन्तमें प्रकृत्यधिकरणका लेख है। अप्रदर्शित विषयमें समन्वय प्रदर्शनके असम्भवसे कारणता मात्रका ही जन्मादि सूत्रमें निरूपण है। कारणतासामान्यविचारके अनन्तर "अवशिष्ट विशेष विचार अवश्य कर्तव्य है" यही यहां अवशेष है। अतः प्रकृत्यधिकरण व्यर्थ नहीं है।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति करके और 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि स्मृति करके प्रतिपाद्य 'जगत्कारणत्व' इस सूत्रका विषय है।

सो यह ब्रह्मनिष्ठजगत्कारणत्वरूप लक्षण, क्या जैसे घटरुचकादिकोंका उपादानकारणत्व मृत्सुवर्णादिकोंमें है; तैसे ही उपादानत्वरूप है? अथवा जैसे कुलालसुवर्णकारादिकोंमें निमित्तकारणत्व है; तैसे ही ब्रह्ममें भी जगत्कारणत्व निमित्तत्वरूप ही है? दोनोंमेंसे किसी एक पक्षको स्वीकार करनेमें भी कारणत्व-लक्षणका ब्रह्ममें समन्वय समान ही है। अतः संशय होता है कि-ब्रह्ममें पुनः जगत्कारणत्वका क्या स्वरूप है? अर्थात् ईक्षितृत्व श्रुतिसे और एकविज्ञान करके सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञासे 'ब्रह्म निमित्त ही है अथवा उपादान भी है' यह यहां संशय होता है।

अथ पूर्वपक्ष। **'ईक्षापूर्वककर्तृत्वं प्रभुत्वमसरूपता निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित्॥'** अर्थ—ईक्षापूर्वककर्तृत्व व प्रभुत्व और कार्यविलक्षणत्व निमित्तकारणोंमें ही रहता है। उपादानमें कभी भी नहीं रहता है इति।

तहां ईक्षापूर्वक कर्तृत्वके श्रवण होनेसे ब्रह्म केवल निमित्त कारण ही होगा यह प्रतीत होता है। क्योंकि **'स ईक्षाञ्चक्रे' 'सः प्राणमसृजत'** इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें ईक्षापूर्वक कर्तृत्वका ही निश्चय होता है। और ईक्षापूर्वक कर्तृत्व कुलालादिक निमित्त कारणोंमें ही देखा गया है। तथा च **'ब्रह्म, न प्रकृतिः, कर्तृत्वात्, कुलालवत्॥'** अर्थात् जो जिसका कर्ता होता है सो तिसका प्रकृति नहीं होता है; जैसे घटका कर्ता कुलाल। ब्रह्म भी जगत्का कर्ता है; अतः प्रकृति नहीं हो सकता है। और अनेक कारकपूर्वक हो क्रियाके फलकी सिद्धि लोकमें देखी गई है। सो ही न्याय आदि कर्तामें भी घटाना चाहिये। अतः एक अद्वितीय कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

और ईश्वरत्वप्रसिद्धिसे भी ब्रह्म निमित्त कारण ही मानना चाहिये। क्योंकि **'ब्रह्म, न प्रकृतिः, ईश्वरत्वात्, राजादिवत्'**। राजा वैवस्वतादिक ईश्वरोंको जगत्पालनादिकमें निमित्तकारणता ही केवल देखी गई है। तद्वत् ईश्वरोंके ईश्वरमें भी निमित्त कारणताका हो निश्चय करना युक्त है।

और असरूपता अर्थात् सादृश्यके अभावसे भी ब्रह्म उपादान नहीं बन सकता है। यह कार्यजगत् सावयव अशुद्ध अचेतन दीखता है। इसका कारण भी ऐसा ही होना चाहिये। क्योंकि कार्यकारणका सादृश्य देखा गया है। ब्रह्मका ऐसा स्वरूप है नहीं। **'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'** (श्वे० ६।१९) इत्यादिक श्रुतियोंसे अवयवरहित क्रियारहित शान्त दोषरहित अञ्जन सदृश तमरूप अविद्या रहित-ब्रह्मका स्वरूप निश्चित होता है। अतः परिशेषसे अर्थात् प्रसक्त ब्रह्मके प्रतिषेधसे अन्यत्र प्रसक्तिके अभावसे सांख्यस्मृति करके प्रसिद्ध प्रधान ही जगत्का उपादान कारण स्वीकार करना चाहिये। और **'जगत्, सुखदुःखमोहात्मककारणपूर्वकम्, सुखदुःखमोहात्मकत्वात्, यन्नैवं**

तन्नैवं यथा पुरुषः' । अर्थ—जैसे दृष्टान्त पुरुषमें सुखदुःखमोहात्मक कारणपूर्वकत्वरूप साध्य नहीं है। और सुखदुःखमोहात्मकत्वरूप हेतु भी नहीं है। और जगत्रूप पक्षमें सुखदुःखमोहात्मकत्वरूप हेतु है। अतः सुखदुःखमोहात्मक कारणपूर्वकत्व साध्य भी होना चाहिये इति। इस अनुमान करके भी सुखदुःखमोहात्मक अशुद्ध्यादिक गुणवाला प्रधान ही जगत्का उपादान कारण मानना चाहिये। ब्रह्मकारणत्वश्रुतिका केवल निमित्तत्व मात्रमें ही पर्यवसान मानना उचित है। आगमका कारणताबोधमात्रमें पर्यवसान होनेसे अनुमानकृत कारणताविशेषनियमनका प्रतिक्षेप आगम नहीं कर सकता है इति। और 'उत तमादेशमप्राक्ष्यः' इत्यादि एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादिक दृष्टान्त परमात्माकी प्रधानताका सूचन करते हैं। जैसे एक सोमशर्म्माके ज्ञानसे स्थालीपुलाकन्याय करके सर्व कठ ज्ञात होते हैं तद्वत्। अतः प्रतिज्ञाको मुख्य मान करके जो पूर्वाधिकरणमें जीवपरत्वका निषेध किया है सो असङ्गत हैं। क्योंकि निमित्ति और उपादानके भिन्न २ होनेसे प्रतिज्ञामें गौणपना अवश्य मानना पड़ेगा। और ब्रह्मज्ञानके अनन्तर आकाशादिकोंमें मृत्पिण्ड सुवर्ण लोहादि ज्ञानके अनन्तर घटकटकादिकोंमें सन्देह विपर्ययके अनुभवसे; उपादानप्रमासे उपादेयकी प्रमा नहीं वन सकती है। अतः मुख्य वृत्तिके असम्भवसे अवश्य सिद्धान्तीको भी एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा गौण ही माननी चाहिये। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहते हैं—

अथ सिद्धान्तपक्ष । ब्रह्म ही प्रकृति (उपादान कारण) है, ब्रह्म ही निमित्त है; केवल निमित्त कारण ही ब्रह्म नहीं है। क्योंकि यदि उपादानकारण ब्रह्मको स्वीकार न करें तो प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका उपरोध (बाध वा संकोच) होगा। और ब्रह्ममें उपादानता माननेसे वैदिक प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका बाध नहीं होता है। अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—

'उत तमादेशमप्राच्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।२)। अर्थ—विद्याके अभिमानसे स्तब्ध श्वेतकेतु पुत्रके प्रति पिता उद्दालक ऋषि कहते हैं—हे श्वेतकेतो! क्या तुमने तिस आदेश (वस्तु) को अपने गुरुसे पूछा था? जिसके विज्ञान्से अश्रुत वस्तु श्रुत हो जाती है। और मनन न करी हुई वस्तु भी मनन करी हुई हो जाती है। और अविज्ञात वस्तु भी विज्ञात हो जाती है इति। यह प्रतिज्ञा है। इस प्रतिज्ञासे "एकके विज्ञानसे अन्य सर्व पदार्थोंका अविज्ञातोंका भी विज्ञान होता है" यह प्रतीत होता है। सो यह एक वस्तुके विज्ञानसे सर्व वस्तुका विज्ञान उपादान कारणके विज्ञानसे ही बन सकता है। क्योंकि उपादेयोपादानका अभेद होनेसे सर्व जगत्का उपादान ब्रह्मात्माके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान बन सकता है। निमित्त कारणसे कार्यका अभेद है नहीं। क्योंकि लोकमें तक्षादिकको मकानादिकसे भिन्न देखा गया है।

और **'कथं भगवः स आदेशो भवति'** ? इस श्वेतकेतुके प्रश्नके अनन्तर

उद्दालक ऋषि दृष्टान्त कहते हैं--'**यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' । अर्थ—हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे सर्व मृत्तिकाका विकार ज्ञात होता है । वाणीका विषय नाममात्र ही विकार है । केवल मृत्तिका ही सत्य है इति । यह दृष्टान्त है। मृद्विकारमें 'मृत्तिका मात्र सत्य है' यह कारणप्रमाका स्वरूप है। "वाणीका विषय नाममात्र ही विकार है" यह कार्यप्रमाका स्वरूप है। उक्त कारणज्ञानके अनन्तर उक्त कार्यका ज्ञान अनुभवसिद्ध है। अतः उक्त प्रतिज्ञाका उपपादक यह दृष्टान्त भी उपादान-विषयक ही श्रवण होता है। इसी प्रकार '**यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्**' । अर्थ—हे सोम्य ! जैसे एक सुवर्णपिण्डके ज्ञानसे तत्कार्य कुण्डलादि सर्वका ज्ञान होता है विकार नाममात्र ही है वस्तुत नहीं है इति । इसी प्रकार '**यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्**' । अर्थ—'नखनिकृन्तन' शब्द काले लोहका बोधक है । हे सोम्य ! जैसे एक लोहपिण्डके ज्ञानसे तिसके सर्व कार्यका ज्ञान हो जाता है । विकार नाममात्र ही है । ऐसे ही एक सद्ब्रह्मके ज्ञानसे तिसका कार्य सम्पूर्ण विकार जगत्का ज्ञान हो जाता है । सम्पूर्ण जगत् नाममात्र ही है, वस्तुतः नहीं है इति । ये दृष्टान्त भी उपादानविषयक ही श्रवण होते हैं ।

इसी प्रकार मुण्डकमें भी '**कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति**' (मुण्ड० १।१।२) अर्थ–शौनक ऋषि विधिपूर्वक अङ्गिरा ऋषिके पास जाकर जिज्ञासा करते हैं–हे भगवन् ! किसके ज्ञानसे यह सर्व जगत् ज्ञात होता है इति । यह वचन प्रतिज्ञा-का ज्ञापक है । अथवा यह 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादि श्रौत प्रतिज्ञा विषय विषयक शौनककी जिज्ञासा है । '**यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति**' । (मु० १।१।७) अर्थात् जैसे पृथिवीसे धान्य गोधूमादिक औषधि पदा होती हैं । जैसे विद्यमान करचरणादिमत्पुरुषसे केशलोम पैदा होते हैं । और जैसे ऊर्णनाभिसे तन्तुवोंके जाल पैदा होते हैं। तैसे ही अक्षर अविनाशी ब्रह्मसे सर्व जगत् पैदा होता है। ये दृष्टान्त हैं ।

इसी प्रकार बृहदारण्यकमें भी याज्ञवल्क्य मैत्रेयीको उपदेश करते हैं—'**आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्**' । यह आत्मज्ञानसे सर्वज्ञानकी प्रतिज्ञा है। '**स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य**' इत्यादि श्रुतिमें दुन्दुभि, शंख, वीणा यह तीन दृष्टान्त हैं। दुन्दुभि आदिक शब्दसामान्यमें जैसे तत्तत् शब्दविशेषका अन्तर्भाव है। तैसे ही सच्चिदात्मस्वरूप सामान्यमें अविद्यादि विशेषका अन्तर्भाव है। यह दृष्टान्तोंका भाव है। इसी प्रकारसे यथा सम्भव हरेक वेदान्तमें स्थित प्रतिज्ञा और दृष्टान्तोंका ब्रह्मउपादानतामें ही तात्पर्य है यह निश्चय करना योग्य है ।

शंका । विकारका उपादान निर्विकार ब्रह्म नहीं हो सकता है। किन्तु

विकारी प्रधान ही जगद्विकारका उपादान है। कुलालादिकी तरह चेतन केवल निमित्त मात्र ही है। और प्रतिज्ञा और दृष्टान्त 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादिकी तरह गौण हैं ?

समाधान। 'न मुख्ये सम्भवत्यर्थे जघन्या वृत्तिरिष्यते। न चानुमानिकं युक्तमागमेनापवादितम् ॥' अर्थ—प्रतिज्ञा दृष्टान्तोंकी मुख्य वृत्तिताके सम्भवसे जघन्य (गौण) वृत्तिका स्वीकार नहीं हो सकता है। अनुमानगम्य प्रधान जगत्का उपादान नहीं बन सकता है। क्योंकि 'नेह नानास्ति' यह वैदिक बाध है इति।

शंका। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादिक छान्दोग्यके दृष्टान्तोंकी, और **'यथा पृथिव्यामोषधयः'** इत्यादिक मुण्डकके दृष्टान्तोंकी परिणामवादमें सङ्गति ठीक बैठती है। अतः परिणामी प्रधान ही उपादान मानना चाहिये। ब्रह्म परिणामी उपादान नहीं हो सकता है। अतः द्वैतवादमें ही वेदान्तोंका तात्पर्य प्रतीत होता है।

समाधान। 'सर्वे हि तावद्वेदान्ताः पौर्वापर्य्येण वीक्षिताः। ऐकान्तिकाद्वैतपरा द्वैतमात्रनिषेधतः ॥' अर्थ—सम्पूर्ण वेदान्त पूर्वापर विचारसे सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य अद्वितीय आत्मतत्त्वके ही प्रतिपादक हैं। क्योंकि अध्यारोप अपवादद्वारा द्वैतनिषेधमें ही शास्त्रका तात्पर्य है इति। मृद्घटादिका परस्पर कार्यकारणभावके प्रतिपादक दृष्टान्तोंका विवर्तवादमें ही तात्पर्य पूर्वाचार्य्योंने प्रतिपादन किया है। परिणामवादमें प्रतिज्ञा दृष्टान्तका उपरोध ज्योंका त्यों रहेगा। अतः विवर्तवाद होनेसे "अधिष्ठानसे व्यतिरिक्त कार्य कुछ नहीं है" इस अर्थमें ही सम्पूर्ण वेदान्तोंका तात्पर्य है। इस अर्थको अब स्पष्ट करके दिखाते हैं—जैसे शुक्तिरजतमें 'इदं रजतं सत्' इत्यादिक प्रतीतियोंमें शुक्तिकाका सद्रूपसे तादात्म्य भासता है। तैसे ही वियदादिकोंमें भी 'इदं वियत् सत्' 'सन् घटः' 'सन् प्रपञ्चः' इत्यादि प्रतीतियोंमें ब्रह्मका सद्रूपसे तादात्म्य भासता है। अतः सद्रूपसे ब्रह्मका ज्ञान, सद्रूपसे प्रपञ्चतत्त्वविषयक भी है ही। इसी प्रकार मृत्पिण्ड, सुवर्ण, लोहरूप उपादानका तादात्म्य 'मृद् घटः' 'सुवर्णं कुण्डलम्' 'कार्ष्णायसं खनित्रम्' इत्यादिक प्रतीतियोंमें घटादि कार्यसे भासता है। अतः तत्तत्कार्यानुविद्ध मृदादिरूपसे मृत्पिण्डादिका ज्ञान तत्तद्रूपसे तत्तत्कार्यविषयक भी अवश्य ही है।

अर्थात् मृत्कार्य घटादिक विकारोंमें मृत्तिकार्थीको मृत्तिकाका, व सुवर्णकार्य कुण्डलादि विकारोंमें सुवर्णार्थीको सुवर्णका, अपरोक्ष ज्ञान होनेपर 'वाणीके विषय घटकुण्डलादिक नाममात्र ही है' 'मिथ्या है' 'असत् तुच्छ रूप है' 'मृत्तिका व सुवर्णके सिवाय मृत्तिकाके व सुवर्णके कार्य घटादिक कुछ नहीं है' इत्यादि ज्ञान जैसे होता है। तैसे ही ब्रह्मविषयक साक्षात्कार होनेपर तत्कार्य वियदादिक जगत् 'नाममात्र ही है' 'अनिर्वचनीय है' 'असत् तुच्छ रूप है' 'ब्रह्मात्माके सिवाय जगत् कुछ नहीं है' यह निर्बाध ज्ञान अनुभवसिद्ध है।

शंका। मृत्पिण्ड घटका कारण नहीं बन सकता है। क्योंकि पिण्ड स्वयं कार्यविशेष है; और पिण्डका आकार भी घटमें नहीं आता है। और एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे निखिल मृण्मयका ज्ञान होना भी असम्भव है। तथा च पिण्ड निमित्तमात्र है, मृत्तिका ही उपादान कारण है। अतः मृत्पिण्डदृष्टान्तको उपादानविषयक न होनेसे दार्ष्टान्तमें भी उपादानविषयता नहीं बन सकती है।

समाधान। 'मृत्पिण्ड एव घटः कृतः' ऐसा अबाधित व्यवहार होनेसे मृत्पिण्ड घटका उपादान ही है। और कार्यविशेष कटकादिक कार्यविशेष कुण्डलादिके उपादान देखे गये हैं। और मृत्पिण्डका मृण्मयत्वादि आकारकी अनुवृत्ति भी घटादि कार्यमें विद्यमान ही है। उपादानगत यावत् आकारकी अनुवृत्तिका नियम नहीं है। क्योंकि क्षीरादिके कार्य दधि आदिकोंमें व्यभिचार है। तत् तत् मृत्पिण्डके ज्ञानसे तत्तत्कार्य घटादिका ज्ञान होता ही है। **'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्'** इत्यादिक स्थलमें 'सर्व' शब्द तत्तत् यावत् कार्यपरक है। निखिल कार्यपरक नहीं है। अथवा एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे भी मृत्तिकात्वेन निखिल मृद्विकारका ज्ञान होता ही है। क्योंकि घटादि-कारण एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे अनन्तर भी "जो मृत्तिकाका विकार होगा सो मृत्तिका ही होगा" यह ज्ञान अनुभवसिद्ध है। अतः मृत्पिण्ड उपादानकारणतामें ही दृष्टान्त है। इस रीतिसे दार्ष्टान्तवाक्य भी उपादानपरक ही है।

और प्रतिज्ञादिके उपरोधसे ब्रह्ममें प्रकृतित्वको कहकर अब पञ्चमी श्रुतिसे भी ब्रह्म ही प्रकृति है इस अर्थको दिखाते हैं:—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** यहांपर 'यतः' यह पञ्चमी विभक्ति भी **'जनिकर्तुः प्रकृतिः'**। अर्थ—जायमानकी प्रकृति (उपादानकारण) की अपादान संज्ञा होती है इति। इस पाणिनीयके विशेषशास्त्रसे प्रकृतिलक्षण अपादानमें ही है। क्योंकि 'अपादाने पञ्चमी' इस सूत्रसे अपादानमें पञ्चमी विभक्ति होती है। अतः प्रतिज्ञा दृष्टान्त मुख्य अर्थक ही हैं गौण नहीं हैं। क्योंकि एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानपरत्वेन ही प्रतिज्ञा व दृष्टान्तका प्रतिपादन है। उपादान ज्ञानसे ही उपादेयका ज्ञान बन सकता है। केवल निमित्त कारण, कार्यसे अत्यन्त भिन्न होता है। तिसके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान बने नहीं। और ब्रह्मका अधिष्ठाता अन्य कोई न होनेसे ब्रह्मसे अन्य जगत्का निमित्त कारण भी नहीं बन सकता है। किन्तु ब्रह्म ही जगत्का निमित्त कारण स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मसे अन्य यदि जगत्का निमित्त कारण माना जाय तो भी प्रतिज्ञा व दृष्टान्तका बाध ज्योंका त्यों रहेगा। और ब्रह्मज्ञानसे कार्यरूप जगत्का ज्ञान होनेपर भी निमित्त कारणके शेष रह जानेसे सर्वज्ञानकी अनुपपत्ति होगी। जैसे लोकमें मृत् सुवर्णादिक उपादान कारण, कुलाल सुवर्णकारादिक अधिष्ठाताकी अपेक्षा करके घटादि कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। तैसे जगत्की प्रकृति परब्रह्मको स्वभिन्न अधिष्ठाताकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि जगत्की

उत्पत्तिके पूर्व सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य केवल एक ब्रह्म ही था यह शास्त्रका निश्चय है। और अधिष्ठाताका अभाव भी प्रतिज्ञादृष्टान्तके अनुपरोधसे ही उक्त समझना चाहिये। क्योंकि उपादानसे अन्य अधिष्ठाताके स्वीकार करनेपर पुनः एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानका असम्भव होनेसे प्रतिज्ञा व दृष्टान्तका उपरोध ज्योंका त्यों ही रहेगा। वस्तुतः सर्वनियामकका अन्य नियामक बने नहीं। अन्यथा अनवस्थादिक दोष होवेंगे। सर्वस्वतन्त्रत्वका व्याघात होगा। परतन्त्रत्वकी आपत्ति होगी। अतः अन्य अधिष्ठाताके न होनेसे आत्मा ही कर्ता निमित्त कारण है। और अन्य उपादानके न होनेसे आत्मा ही प्रकृति है यह सूत्रका तात्पर्य्यार्थ है इति ॥ २३ ॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

अर्थ—१ अभिध्योपदेशात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। अनागत वस्तुविषयक इच्छा व सङ्कल्पका नाम अभिध्या है। 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिक अभिध्याका उपदेश भी आत्मामें कर्तृत्वको व प्रकृतित्वको बोधन करता है। तहां अभिध्यानपूर्वक स्वतन्त्र प्रवृत्तिसे ब्रह्म कर्ता प्रतीत होता है। क्योंकि इच्छाकर्ता ही कुलालादिक कार्यका कर्ता निमित्त देखा गया है। और 'बहु स्यां' इस बहुभवनसङ्कल्पको प्रत्यगात्मविषयक होनेसे कार्यके साथ कारणका अभेद भासता है। अतः आत्मा ही जगत्का उपादान प्रतीत होता है। क्योंकि उपादान कारणका ही कार्यके साथ अभेद होता है। और कार्याभिन्न उपादानमें ही इच्छाकर्तृत्व होनेसे निमित्त और उपादानका भी अभेद सिद्ध होता है इति ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

अर्थ—१ साक्षात्, २ च, ३ उभयाम्नानात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। यह भी प्रकृतित्वकी सिद्धिमें अन्य हेतु है। इस हेतुसे भी ब्रह्म उपादान कारण है क्योंकि साक्षात् ब्रह्मरूप कारणसे ही जगत्की उत्पत्तिको कहकर ब्रह्ममें ही जगत्के लयको श्रुति प्रतिपादन करती है इति।

'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० १।९।१) अर्थ—यह सर्व भूत 'आकाशादेव' कहिये आत्मासे ही उत्पन्न होते हैं और आत्मामें ही लीन होते हैं इति। और जिससे जो उत्पन्न होता है, जिसमें जो विलीन होता है; सो ही तिसका उपादान होता है। जैसे लोकमें व्रीहि यवादिक पृथिवीसे ही पैदा होते हैं; और पृथिवीमें ही लीन होते हैं। और व्रीहि यवादिक अन्नकी पृथिवी ही प्रकृति देखी गई है। तैसे ही आत्मासे ही सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयरूप उभयके आम्नान (कथन)से आत्मा ही जगत्का उपादान कारण है। 'आकाशादेव' इस श्रौत अवधारणसे प्रतिपादित अन्योपादानके अभावको 'साक्षात्' पद करके सूत्रकारने प्रतिपादन किया है। अर्थात् आत्मा

आकाशका उपादान है, और आकाश वायुका, वायु तेजका उपादान है, इत्यादि प्रक्रिया इष्ट नहीं है। किन्तु आत्मा आकाशका उपादान है, आकाशावच्छिन्न आत्मा ही वायुका उपादान है, वायुविशिष्ट आत्मा ही तेजका उपादान है, इत्यादि प्रक्रिया हो इष्ट है। क्योंकि विवर्तको विवर्तान्तरकी उपादानता सम्भवे नहीं। और कार्यका विलय भी उपादानसे अन्यत्र नहीं देखा गया है इति ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

अथ—१ आत्मकृतेः, २ परिणामात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'आत्मकृतेः' यहां 'आत्मा' का और 'कृति' का आश्रयाश्रयिभाव व विषयविषयिभाव सम्बन्ध है। इस हेतुसे भी ब्रह्म ही जगत्की प्रकृति और निमित्त कारण है। क्योंकि ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्तिके बोधक 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि प्रक्रियावाक्योंमें आत्मसमवेतकृतिका विषय भी आत्मा ही कहा है। और आत्मा ही स्वयं जगद्रूपसे परिणत हुवा है इति। अर्थात् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' यह तैत्तिरीय वाक्य 'आत्मानम्' यह कृतिविषयत्वेन आत्मामें कर्मत्वको दिखाता है। और 'स्वयमकुरुत' यह कृतिसमवायित्वेन आत्मामें कर्तृत्व (निमित्तत्व) को दिखाता है। और यहां कार्य और कारणका अभेद होनेसे आत्मा ही उपादानरूपसे भासता है।

शंका। कृतिका आश्रय कर्ता सिद्ध होता है। विषय कर्मसाध्य होता है। तथा च पूर्व सिद्धरूपसे वर्तमान, और कर्तृत्वेन व्यवस्थित, आत्मामें कार्यत्वरूप कर्मत्वको कैसे सम्पादन कर सकते हैं। क्योंकि एक आत्मामें उभयपना विरुद्ध है?

समाधान। 'परिणामात्' परिणामसे एक ही आत्मामें सिद्धपना व साध्यपना बन सकता है। क्योंकि यद्यपि आत्मा स्वरूपसे पूर्वसिद्ध भी है; तथापि अविद्या-बलसे, वियदादि विशेषरूपसे अपनी आत्माको परिणत करता है। जैसे मृत्तिकामें साध्यघटके अभेद होनेसे कृतिविषयताका विरोध नहीं है। अर्थात् जैसे एक ही कृतिविषयता साध्यघटमें और सिद्ध मृत्तिकामें रहती है। ऐसे ही एक ही आत्मता सिद्धरूप उपादानमें और साध्यस्वरूप उपादेयमें रहती है। अथवा सिद्धरूप कर्तामें और साध्य स्वरूप कार्यमें रहती है। तथा च "तत्पद वाच्य आत्मा स्वयं ही सिद्ध स्वरूप अपनी आत्माको साध्य जगत्रूपसे परिणत करता भया" यह 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इस वाक्यका अर्थ है। अत आत्मा ही कृतिका विषय है। आत्मा ही कृतिका आश्रय है। अर्थात् सर्व स्वरूप आत्मा ही है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुति भी इस अर्थको ही दिखाती हैं। और विकाररूपसे परिणाम मृत्तिका सुवर्णादि प्रकृतिका लोकमें देखा गया है। तथाच पूर्वसिद्धका भी अनिर्वचनीय परिणाम होता है। भेदका निर्वचन अशक्य होनेसे अभिन्नकी तरह भासता है। अतः सिद्धमें भी साध्यताका भास होता है। और आत्मामें स्वयंत्व विशेषणसे निमित्तान्तरनिरपेक्षत्व भी प्रतीत होता है।

अथवा "परिणामात्" यह पृथक् सूत्र है। तिसका यह अर्थ है—इस

हेतुसे भी ब्रह्म ही प्रकृति है, क्योंकि मूर्तत्वादिरूप करके परिणामके साथ ब्रह्मका सामानाधिकरण्य श्रुतिस्मृतियोंमें प्रतिपादन किया है—'सच्च त्यच्चाभवत्' 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'वासुदेवः सर्वमिति' इत्यादि। 'सत्' शब्द मूर्तका वाचक है; 'त्यत्' शब्द अमूर्तका वाचक है। अथवा स्थूल सूक्ष्म सत् व त्यत् शब्दका अर्थ है। अर्थात् 'देवदत्तो व्याघ्रोऽभवत्' 'देवदत्त योगमाया-बलसे व्याघ्र हुवा' इस वाक्यकी तरह 'ब्रह्म सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यादि वाक्यका अर्थ है। द्रव्यत्वादि सामान्यरूपसे पृथिवीत्वादि विशेषरूपसे निर्वाच्य 'निरुक्त' शब्दका अर्थ है। और तत्तद्रूप करके सर्वथा अनिर्वाच्य 'अनिरुक्त' शब्दका अर्थ है। अथवा सत्त्वेन निर्वाच्य 'निरुक्त' शब्दका अर्थ है। सत्त्वेन असत्त्वेन अनिर्वाच्य 'अनिरुक्त' शब्दका अर्थ है। प्रपञ्चकी प्रत्यक्ष प्रतीतिके होनेसे असत्त्वेन निर्वचन नहीं बन सकता है। बाध होनेसे सत्त्वेन निर्वचन भी नहीं बन सकता है। इस सूत्रमें 'परिणाम' शब्द कार्यमात्र परक है; सत्य कार्यात्मक परिणाम परक नहीं है। क्योंकि सिद्धान्तमें परिणामवादका स्वीकार नहीं है। किन्तु विवर्तवादका स्वीकार है। और यहां भी 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रमें विवर्त-वादको कहेंगे। अतः अनिर्वचनीयवाद ही सिद्धान्त है।

शंका। वास्तवमें अनिर्वचनीय ब्रह्मको ही कहना चाहिये। क्योंकि निर्वचनके अयोग्यका नाम अनिर्वचनीय है। सर्वथा निर्वचनके अयोग्य अद्वितीय ब्रह्म ही है। क्योंकि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तके अभावसे किसीरूप करके भी ब्रह्मका निर्वचन बने नहीं। अत एव **'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति'** अर्थ—जिस समय यह अधिकारी पुरुष दृश्यशून्य शरीरशून्य निर्वचनशून्य निराधार ब्रह्ममें अभय प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है तिस समय ही सो पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है इति। इस तैत्तिरीय श्रुति करके शुद्ध ज्ञेय ब्रह्मको ही अनिरुक्त (अनिर्वचनीय) कहा है। द्रव्यादिकोंका सामान्य विशेषरूप करके निर्वचनके शक्य होनेसे मुख्य अनिर्वचनीयता बने नहीं। यदि सत्त्वेन असत्त्वेन निर्वचनके अयोग्य होनेसे प्रपञ्चमें अनिर्वचनीयत्वका व्यवहार माना जाय, तो शुद्ध ब्रह्ममें भी निर्वाच्यत्वका अभाव होनेसे अनिर्वचनीयतालक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। ब्रह्मका सत्त्वेन निर्वचन मानना भी 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि वेदसे विरुद्ध है।

समाधान। लक्ष्यलक्षणव्यवहारको अविद्यादशामें होनेसे 'त्रिकालाबाध्यत्व' रूप सत्त्वका ब्रह्ममें स्वीकार है। और *तुच्छत्वरूप असत्त्वका मनुष्य-शृङ्गादिकोंमें स्वीकार है। एतदुभयरूप सत्त्वासत्त्व करके प्रपञ्चको अविद्यमान होनेसे 'सत्त्वेन असत्त्वेन उभयरूपेण वा निर्वचनायोग्यत्व' रूप अनिर्वचनीयत्व प्रपञ्चमें ही है, ब्रह्ममें नहीं। क्योंकि 'बाध्यत्वे सति प्रतीत्यर्हत्व'-स्वरूप अनि-

* टि०—क्वचिदपि सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम् तुच्छत्वम्। जिसकी कहीं भी सत्त्वेन प्रतीति न होवे तिसका नाम 'तुच्छ' है।

र्वचनीयत्वकी अविनाशी स्वतःप्रकाश शुद्ध ब्रह्ममें सिद्धि बने नहीं। अन्यथा बाध्यत्वकी आपत्ति होगी; अनिर्वचनीयत्वरूप अशुद्धिसे शुद्धत्वका व्याघात होगा। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिक व्यवहार भी अविद्यादशामें ही है। अविद्यादशाके विना कोई भी नामरूप ब्रह्ममें बने नहीं। अनिर्वचनीयताका भी अनिर्वचनीयतात्वेन निर्वचन शक्य होनेपर भी सत्त्वेन असत्त्वेन निर्वचन अशक्य है। तथा च उक्तरूप सत्त्वासत्त्व करके निखिल जगत् अनिर्वचनीय है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

'वक्तुमशक्यत्वे गुरव उपास्यन्तां येभ्यो निरुक्तयः शिक्ष्यन्ते' अर्थ— निर्वचनकी सामर्थ्य नहीं है तो गुरु लोगोंकी उपासना कीजिये, जिनसे निरुक्तिकी शिक्षा प्राप्त होगी इति। यह उपालम्भ तब शोभित होवे, जब मेयस्वभावानुगामिनी अनिर्वचनीयताको न कहें; वक्तृदोषप्रयुक्त अनिर्वचनीयत्वको कहें। यदि कोई गुरु निर्वचन कर्ता मिल सके तो उपासना की जाय। इत्यादि खण्डनमें कही हुई समाधिसे मनको समाहित कर लेना ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

अर्थ— १ योनिः, २ च, ३ हि, ४ गीयते। इस सूत्रमें चार पद हैं। इस हेतुसे भी ब्रह्म ही जगत्का उपादान है क्योंकि ब्रह्मको उपनिषदोंमें योनि कहा है इति।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ (मु० ३।१।३)। अर्थ—यह 'पश्य' कहिये द्रष्टा पुरुष जिस समयमें ज्योतिःस्वरूप जगत्कर्ता ईश्वर ब्रह्म जगद्योनिको आत्मरूपसे देखता है। तिस ही समयमें 'मैं ही जगद्योनि हूं' इस ज्ञानसे पापपुण्यरूप मलको धोकर तम रहित परम सम ब्रह्मको प्राप्त होता है इति। और **'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः'** (मु० १।१।६)। अर्थ—जो भूतयोनि है तिसको धीर पुरुष आत्मरूपसे अपरोक्ष करते हैं इति। और 'योनि' शब्द लोकमें उपादान कारणका वाचक देखा गया है—**'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्'** पृथिवी औषधि वनस्पतियोंकी योनि उपादान प्रसिद्ध है।

शंका। उपादानसे भिन्न जो स्त्रीयोनि है तिसमें योनि शब्द प्रसिद्ध है। अतः योनि शब्दसे ब्रह्ममें उपादानता सिद्ध नहीं हो सकती है।

समाधान। स्त्रीयोनिको भी अवयवद्वारा गर्भके प्रति उपादानकारणता बन सकती है। यहांपर 'अवयव' शब्द योनिप्रभव शोणित परक है। यद्यपि **'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि'** (ऋ० सं०) अर्थ—हे इन्द्र! आपके बैठनेके लिये मैंने स्थान बनाया है इति। इस वाक्यमें स्थानका वाचक 'योनि' शब्द देखा गया है। और स्त्रीयोनिमें भी योनि शब्द निमित्तका वाचक ही प्रतीत होता है। तथापि **'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च'** इत्यादिक वाक्यशेषके बलसे प्रकृतमें प्रकृति ही योनि शब्दका अर्थ गृहीत होता है। तथाच पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्ममें उपादानता प्रसिद्ध है।

शंका। 'ईश्वरो, जगतो निमित्तकारणमेव, ईक्षापूर्वकजगत्कर्तृत्वात्, कुम्भकर्तृकुलालवत्'। अर्थ—ईक्षापूर्वक कर्तृत्व कुलालादिक निमित्त कारणोंमें ही देखा गया है। और उपादान कारणोंमें नहीं देखा गया है। अतः ईक्षापूर्वक जगत्कर्ता ब्रह्म भी निमित्त कारण ही होना चाहिये इत्यादि इति।

समाधान। यह जो वादीने कहा है इसके प्रति हम कहते हैं—इस अनुमानमें आश्रयासिद्धि दूषण है; क्योंकि "या २ कृतिः सा २ शरीरजन्या" इत्यादि व्याप्तिके विरोधसे नित्य कृतिमान् ईश्वरकी सिद्धि अनुमानसे वा प्रत्यक्षसे नहीं बन सकती है। और वैदिक ईश्वरको पक्ष करके अनुपादानत्वरूप साध्यकी सिद्धिमें 'बहु स्याम्' इत्यादिक वैदिक बाध है। अतः केवल तर्करूप अनुमानगम्य यह अर्थ नहीं है, किन्तु शब्दगम्य है। अतः शब्द प्रमाणसे जैसा जगत्कारण प्रतीत होता है ऐसा ही स्वीकार करना उचित है। और शब्द आत्माको प्रकृति ही प्रतिपादन करता है यह पूर्व सिद्ध कर आये हैं।

शंका। प्रकृतिविकृतिभाव सदृशमें देखा गया है; जैसे जड़त्वादिकरूपसे घटसदृश मृत्तिका घटकी प्रकृति है। निष्कल निष्क्रिय ब्रह्ममें जगत्से अत्यन्त विलक्षणता श्रुति करके सिद्ध है। अतः ब्रह्म जगत्की प्रकृति नहीं बन सकता है।

समाधान। 'पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः' इति भाष्यम्। अर्थ—'न विलक्षणत्वात्' (२-१-४) इत्यादि सूत्र व्याख्यानके समयमें पुनः इन सर्व शंकावोंका समाधान विस्तारसे किया जावेगा इति।

शंका। 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादिक शास्त्रसे ब्रह्म और जगत्का प्रकृतिविकृतिभावमें वेदका तात्पर्य्य वर्णन करनेसे परिणामी ब्रह्ममें दुग्धादिकी तरह अनित्यत्व परिच्छिन्नत्वादिकी प्राप्ति होवेगी।

समाधान। यहां प्रकृति शब्द विवर्तोपादनत्वका बोधक है। क्योंकि विवर्तवाद ही वेदका सिद्धान्त है—

'येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। तेनेषितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्॥ श्वे०॥

अर्थ—जिस व्यापक आत्मा करके यह सर्व जगत् सदा हि आवृत है। जो सर्वका द्रष्टा है। और जो कालका भी काल है। जिसमें तीनों गुण अध्यस्त हैं। और जो सर्वज्ञ है। तिस परमेश्वरका ही 'कर्म' पञ्चभूतात्मक यह निखिल जगत् विवर्त है। विवर्ताधिष्ठान ही उपास्य है व ज्ञेय है। स्वातन्त्र्यका बोधक 'इषितं' पद है इति। इत्यादि वेद विवर्तवादमें प्रमाण है। सम्पूर्ण कार्य विवर्तरूप होनेसे अधिष्ठान स्वरूप ही है। अधिष्ठानसे व्यतिरिक्त कार्यके अभावमें वेदका तात्पर्य सिद्ध होता है।

'यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यश्च तस्य सन्। विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः॥' अर्थ—जो वस्तु जिसके आदि और अन्तमें शेष रहता है सो ही मध्यमें भी

सत्य है। विकार केवल नाममात्र है, व्यवहारके वास्ते है। जैसे तैजस विकारोंमें तेज (सुवर्णादि) है। पार्थिव विकारोंमें पृथिवी है। इसी प्रकार आत्मविकार प्रपञ्चमें आत्मा ही सत्य है इति।

शंका। 'पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः' इत्यादि श्रुतिनिर्देशसे, 'योनिश्च' 'परिणामात्' इत्यादि सूत्रनिर्देशसे, 'परिणामस्तु स्यात्' इत्यादिक छान्दोग्य वाक्यकार ब्रह्मनन्दीके व्याख्यानसे, परिणामवाद वृद्धसम्मत प्रतीत होता है।

समाधान। निष्पाद्य होनेसे प्रपञ्चको असत् नहीं कह सकते हैं। अत एव सत् भी नहीं कह सकते हैं। अन्यथा निष्पत्त्यनुकूल व्यापार अनर्थक होवेगा। अतः व्यवहारमात्र विकार सदसद् विलक्षण अनिर्वचनीय है। परिणाम विकार इत्यादिक श्रौतस्मार्त शब्द मिथ्या परिणाम विकारके अभिप्रायसे ही हैं। क्योंकि निष्कल निष्क्रिय ब्रह्मका एकदेशेन अथवा सर्वात्मना परिणाम नहीं बन सकता है। परिणाम माननेमें निष्कल निष्क्रिय श्रुतिका विरोध होगा। ब्रह्ममें विनाशित्वादिकी प्राप्ति होगी। अतः 'परिणामात्' इस सूत्रावयवका 'विवर्तनात्' यह अर्थ है। रज्जुसर्पवत् ब्रह्मका विवर्त ही जगत् इष्ट है। परिणामत्वेन लोकप्रसिद्ध घटादिकमें भी युक्त्यसहत्वेन अनिर्वचनीयत्वरूप विवर्तत्व ही है। क्योंकि मृत्तिकादिकसे भेदेन अभेदेन अथवा भेदाभेदेन घटादिका निर्वचन अशक्य है। अत एव 'मृत्तिका इत्येव सत्यम्' इत्यादिक श्रुति कारणमें ही सत्यत्वका अवधारण करके कार्यमें अर्थात् मिथ्यात्वको कहती है। अथवा ब्रह्मका परिणाम ही जगत् रहो तो भी लौकिक परिणामकी तरह निर्वचनको शक्य न होनेसे अनिर्वचनीयत्व ही सिद्ध होता है। इसीलिये संक्षेप शारीरककार कहते हैं—प्रतिष्ठितेऽस्मिन् परिणामवादे; स्वयं समायाति विवर्तवादः। अतः अद्वैतविषयक उपक्रम उपसंहारादि बलसे सर्व वेदान्त अत्यन्त अद्वैतके ही प्रतिपादक हैं। 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वेदान्त साक्षात् अद्वैतको प्रतिपादन करते हैं। 'नेति नेति' इत्यादिक वेदान्त द्वैतके निषेधद्वारा अद्वैतको प्रतिपादन करते हैं। और 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'मयि सर्वं विलीयते' इत्यादिक वेदान्त ब्रह्ममें उपादानत्व बोधनद्वारा अद्वैतका प्रतिपादन करते हैं।

शंका। सृष्टिश्रुतिसे, और 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक भेदप्रतिपादक श्रुतिसे, अनेकरूप ब्रह्मको मानना उचित है।

समाधान। उपक्रमादि करके निर्णीत निष्प्रपञ्च प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक तात्पर्य्यवाले महावाक्योंके मध्यमें स्थित सृष्टिप्रतिपादक अवान्तर वाक्यका प्रधानके अनुरोधसे मायामय सृष्टिमें ही तात्पर्य्य है। वास्तव सृष्टिमें तात्पर्य नहीं है। 'द्वे वाव' इत्यादिक भेदप्रपञ्चअध्यारोपके अन्तमें 'नेति नेति' इत्यादि सर्वाध्यारोपित प्रपञ्चका निषेधक शास्त्रप्रामाण्यसे निर्विशेष भेदशून्य ही ब्रह्मका स्वरूप है। निषेधप्रतियोगिसमर्पकत्वेन 'द्वे वाव' इत्यादि शास्त्र चरितार्थ है। भेदप्रपञ्चको प्रत्यक्षादि करके ज्ञात होनेसे भेदप्रतिपादक शास्त्र प्रमाण नहीं बन सकता है। किन्तु अधिगतका ज्ञापक

होनेसे अनुवादक है। लोकभ्रमसिद्धका अनुवाद है। 'प्रमाणसिद्धका ही अनुवाद होता है' ऐसा नियम नहीं है। भ्रान्तिसिद्ध स्वप्नादिका शब्दसे अनुवाद देखा गया है। अत उपादानोपादेयभावादि सर्व भेदप्रपञ्च भ्रममात्र है।

शंका। उपादानोपादेयभावको भ्रममात्र होनेसे ब्रह्ममें उपादानत्वकी सिद्धि नहीं बन सकती है। तथा च वेदान्तियोंका ब्रह्मनिष्ठ विवततारूप जगदुपादानताविषयक व्यवहार भ्रममात्र हुवा। यही पूर्वपक्षीको इष्ट है। एवं च निर्विकारत्व श्रुति, सृष्टिसे प्रथम ही ब्रह्मको निर्विकार बोधन करती है। सृष्टि दशामें निर्विकारता बने नहीं। तथा च पूर्वपक्षका ही समर्थन सिद्ध हुवा।

समाधान। वाक्याभासजन्य भ्रममात्र ही ब्रह्मनिष्ठोपादानत्व है यह पूर्वपक्षका आशय है। स्वप्नकी तरह अर्थक्रियासमर्थ प्रपञ्चाधिष्ठानत्वरूप उपादानत्व वेदान्तसिद्धान्त सम्मत है। इतना भेद बन सकता है। और प्रलय श्रुतिसे ही उत्पत्तिसे प्रथम अविकारित्वकी सिद्धि होनेसे निर्विकारत्वश्रुतिका कालपरिच्छिन्नताताद्रूशनिर्विकारतामें तात्पर्य्य नहीं बन सकता है। किन्तु सर्वदा सर्वथा निर्विकारतामें ही तात्पर्य्य है। संसारदशामें भी विकार प्रत्यय भ्रान्त है यह वेदका सिद्धान्त है। निर्विकारता नाम विकारात्यन्ताभावका है। तथा च ब्रह्ममें विकारात्यन्ताभाव सिद्ध हुवा। विकारात्यन्ताभावसे भी अद्वैत व्याघातकी शंका नहीं बन सकती है। क्योंकि अनिर्वचनीयविकारात्यन्ताभावका अनिर्वचनीय विकारसे विरोध है। अनिर्वचनीय भावाभावसे सत्य अद्वैतका व्याघात बने नहीं। अनिर्वचनीय (मिथ्या) पदार्थ सत्य अधिष्ठानकी किञ्चिन्मात्र भी क्षति नहीं कर सकता है। अन्यथा वानरकल्पित वह्निसे गुञ्जापुञ्जका दाह होना चाहिये। मृगतृष्णाजलसे मरुभूमि गीली होनी चाहिये। अथवा विकारात्यन्ताभावको अधिष्ठान स्वरूप होनेसे अद्वैतका व्याघात नहीं बन सकता है। और व्यावहारिक विकारका और व्यावहारिक तदभावका विरोध होनेपर भी विकाराभावको अधिष्ठान स्वरूप होनेसे सत्यविकारात्यन्ताभावका और मिथ्या विकारका भी परस्पर विरोध बने नहीं। तथा च जिस रूपसे जिस सम्बन्धसे जो वस्तु जहां भासती है। तिस ही रूपसे तिस ही सम्बन्धसे तिस वस्तुका तहांपर वास्तव अत्यन्ताभाव है यह वेदका सिद्धान्त है। यह सूत्रका तात्पर्य्यार्थ है इति ॥ २७ ॥

शंका। प्रधान जगत्का उपादान मत होवे, तथापि ब्रह्म उपादान नहीं बन सकता है; क्योंकि परमाणुवाद अथवा स्वभाववादादिक विद्यमान हैं। परमाणुवादादिके समर्थक श्रुति स्मृति भी प्रसिद्ध हैं ?

समाधान। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रसे लेकर अभीतक प्रधान कारणवादका ही पुनः पुनः आशंका करके सूत्रोंसे खण्डन किया है। क्योंकि प्रधान कारणवादसमर्थक कोई २ लिङ्गाभास उपनिषदोंमें तहां २ आपातसे मन्दमतियोंको भासते हैं। कार्यकारणके अभेदस्वीकारसे, एवं पुरुषमें व्यापकता असंगतादि स्वीकारसे भी, वेदान्तवादके समीप यह वाद है। कितनेक देवल प्रभृति धर्मसूत्रकारोंने अपने २ ग्रन्थोंमें इस वादका स्वीकार भी किया है। अतः इसके

प्रतिषेधमें अत्यन्त प्रयत्न आचार्यने किया है। अणुवादादिके प्रतिषेधमें प्रयत्न नहीं किया है। परन्तु अणुवादादिका भी ब्रह्मकारणवादके प्रतिपक्षी होनेसे प्रतिषेध कर्तव्य है। तत्तत् श्रुतियोंमें तत्तत् वाद समर्थक लिङ्गाभास भी कहीं २ मन्द पुरुषोंकी बुद्धियोंमें आपातसे भास सकते हैं। अतः प्रधानमल्लनिबर्हण-न्यायसे सूत्रकार अतिदेश करते हैं:—

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

अर्थ—१ एतेन, २ सर्वे, ३ व्याख्याताः, ४ व्याख्याताः। इस सूत्रमें चार पद हैं। इस प्रधानकारणवादके खण्डनसे समन्वय विरोधी यावत् अणुकारणवादादिका भी खण्डन व्याख्यात समझ लेना इति। अर्थात् इस प्रधानकारणवाद प्रतिषेधक न्यायकलापसे अन्य सर्व अणुकारणवादादिक भी प्रतिषिद्धत्वेन व्याख्यात जान लेना। क्योंकि 'अशब्दत्वात् वेदविरोधित्वाच्च' इति भाष्यम्। अर्थात् प्रधानकारणवादकी तरह अणुकारणवादादिकोंमें भी वेद प्रमाण नहीं बन सकता है। और ब्रह्मवादके सिवाय अन्य सर्व वाद वेदके विरुद्ध भी हैं।

'न्यग्रोधफलमत आहरेति'(छा० ६।१२)। इत्यादि वाक्य इस सूत्रके विषय हैं।

अर्थ—सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य दृश्यत्वशून्य सत्से जगत्की उत्पत्ति दिखलाकर पुनः सत्में ही जगत्का लय निरूपण करके मिथ्या प्रपञ्चकी उत्पत्तिलयका आधार सत्य आत्माका 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यसे उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति अनेक युक्तियोंसे ४ वार उपदेश किया। तदनन्तर अदृश्य सदात्मासे दृश्य जगत्की उत्पत्ति कैसे बन सकती है? इस श्वेतकेतुकी शंकाको दूर करनेके लिये उद्दालक पिताका "न्यग्रोधफलमत आहरेति" यह वाक्य है। उद्दालक ऋषि बोले-हे पुत्र हे श्वेतकेतो! वटका फल ले आवो इति। फल लाकर पिताको दिखलाकर श्वेतकेतु बोले-हे भगवन्! यह ले आया हूं इति। उद्दालक-इसको भेदन कर (फोड़ो) इति। श्वेतकेतु-हे भगवन्! भेदन कर लिया है इति। उद्दालक-क्या देखते हो? इति। श्वेतकेतु-हे भगवन्! "अण्व्य इवेमे धानाः" सूक्ष्म इन बीजोंको देखता हूं इति। उद्दालक-इनमेंसे किसी एक बीजको भेदन कर इति। श्वेतकेतु-हे भगवन्! भेदन कर लिया है इति। उद्दालक-अब क्या देखते हो? इति। श्वेतकेतु-हे भगवन्! 'न किञ्चन भगव इति'। कुछ नहीं दीखता है इति। उद्दालक-हे सोम्य! जिस सूक्ष्म दुर्लक्ष्य बीजको तुम नहीं देख सकते हो इस ही सूक्ष्म दुर्लक्ष्य अदृश्य बीजसे यह महान् वट वृक्ष पैदा होता है। इसी प्रकार संसार वृक्षका बीज भी दुर्लक्ष्य है अदृश्य है। हे सोम्य! श्रद्धा कर इति। यह जगत्की प्रागवस्थाका दृष्टान्त श्रुत है। यहांपर दृष्टान्तमें 'न किञ्चन' इस शब्दसे दार्ष्टान्तिक शून्यवाद और स्वभाववाद प्रतीत होता है। और 'अणिम्नः' इस सूक्ष्मवाचक शब्दसे और 'अण्व्य इवेमे धानाः' इस वाक्यसे अणुवाद प्रतीत होता है। अत अनेक धर्मोपपत्तिसे अथवा विप्रतिपत्तिसे 'शून्यवाद वैदिक है वा नहीं' 'स्वभाववाद वैदिक है वा नहीं' 'अणुवाद वैदिक है वा नहीं' इत्यादिक संशय होता है।

अथ पूर्वपक्ष। 'अण्व्य इवेमे धानाः' 'अणोरणीयान्' इत्यादि श्रुति-निर्देशसे परमाणुवाद वैदिक प्रतीत होता है। और 'पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः' अर्थ—जैसे कुलाल मृत्तिका करके घटको करता है तैसे ही पतनशील द्रव्यों करके 'देव' परमेश्वर स्वर्ग और पृथिवीको पैदा करता है इति। इत्यादि श्रुति भी परमाणुवादकी समर्थक है। तथाच—

जगतः प्रकृतिर्ब्रह्म यदि स्यान्मृन्निदर्शनात्। अण्वादयोऽपि किन्न स्युर्वटधानानिदर्शनात्॥ अर्थ—मृत्पिण्ड दृष्टान्तसे यदि ब्रह्म जगत्का उपादान माना जाय तो वटधानादृष्टान्तसे परमाणु भी जगत्की प्रकृति क्यों न स्वीकार किये जांय इति। अथवा—'असद्वा इदमग्र आसीत्' 'असदेवेदम्' 'न किञ्चन भगवः' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यसे शून्यवाद स्वीकार करना चाहिये। अथवा 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इस कर्मकर्तामें लकारसे 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि श्रुतिप्रा-माण्यसे स्वभाववादका स्वीकार करना उचित है।

अथ सिद्धान्तपक्ष। मृदादयो हि दृष्टान्ताः प्रतिज्ञामनुरुन्धते। धाना-स्तामुपरुन्धाना भक्तिमार्गं प्रपेदिरे॥ अर्थ—उपक्रम उपसंहारादि लिङ्ग करके निर्णीत एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाके अनुकूल होनेसे मृत्तिकादिक दृष्टान्त मुख्य हैं। और उक्त निर्णीत प्रतिज्ञाके प्रतिकूल होनेसे असद्वादादिका असम्भव है। अतः तत्तद्वाद-समर्थक लिङ्गाभासोंकी तरह उक्त श्रुतिवाक्य और वटधानादि दृष्टान्त गौण हैं इति। 'महतो महीयान्' इत्यादि वाक्यशेषके बलसे 'अणोरणीयान्' इत्यादि वाक्य जगत्-कारण ब्रह्मनिष्ठ दुर्लक्ष्यताके बोधक हैं। 'पतत्र' शब्दकी परमाणुमें रूढ़ि है नहीं, किन्तु पतनशील देहादिका बोधक है। एवं असद्वाद और शून्यवाद भी उपपत्तिहीन होनेसे अप्रामाणिक हैं।

प्रतिज्ञा लक्षणं लक्ष्यमाणे पदसमन्वयः। वैदिकः स च तत्रैव नान्य-त्रेत्यत्र साधितम्॥ अर्थ—इस ग्रन्थके प्रथम सूत्रमें विचारकी प्रतिज्ञा करी है। द्वितीय सूत्रमें जगत्कारणत्वरूप ब्रह्मका लक्षण कहा है। और तृतीय सूत्रमें ब्रह्ममें प्रमाणप्रदर्शन करके चतुर्थ सूत्रमें लक्ष्यमाण स्वतःसिद्ध प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें शास्त्रकासमन्वय कहा है। अवशिष्ट ग्रन्थसे उक्त ब्रह्ममें ही शास्त्रका समन्वय और अन्यत्र समन्वयाभावका प्रतिपादन किया है इति। व्याख्याताः पदका अभ्यास याने 'द्विरुच्चारण' दोवार उच्चारण अध्याय समाप्तिका द्योतक है॥ २८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीचिद्घनानन्दगिरिपूज्यपादशिष्यगोविन्दा-नन्दगिरिविरचितायां सूत्रभाष्यार्थप्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्याव्यक्तादि-संदिग्धपदमात्रसमन्वयाख्यश्चतुर्थः पादः॥ ४॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥

* ॐ तत्सत् *

